सहजानंद शास्त्रमाला

अनुप्रेक्षा ४, ६

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय 5

अनुप्रेक्षा प्रवचन चतुर्थ भाग 6

गाथा — १९२ 6

गाथा — १९३ 11

गाथा — १९४ 18

गाथा — १९५ 21

गाथा — १९६ 23

गाथा — १९७ 25

गाथा — १९८ 26

कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन चतुर्थ भाग 30

गाथा — १९९ 34

गाथा — २०० 39

गाथा — २०१ 39

गाथा — २०२ 40

गाथा — २०३ 43

गाथा — २०४ 46

गाथा — २०५ 51

गाथा — २०६ 56

गाथा — २०७ 63

गाथा — २०८ 64

गाथा— २०९ 66

गाथा — २१० 71

गाथा — २११ 73

गाथा — २१२ 75
गाथा — २१३ 77
गाथा — २१४ 78
गाथा — २१५ 79
गाथा — २१६ 80
गाथा — २१७ 81
गाथा — २१८ 87
गाथा — २१९ 90
गाथा — २२० 92
गाथा — २२१ 96
गाथा — २२२ 97
गाथा — २२३ 101
अनुप्रेक्षा प्रवचन षष्ठ भाग 102
गाथा — २८४ 102
गाथा — २८५ 106
गाथा — २८६ 107
गाथा — २८७ 108
गाथा — २८८ 111
गाथा — २८९ 112
गाथा — २९० 113
गाथा — २९१ 114
गाथा — २९२ 116
गाथा — २९३ 117
गाथा — २९४ 119
गाथा — २९५ 120

गाथा — २९६....121
गाथा — २९७....122
गाथा — २९८....127
गाथा — २९९....127
गाथा — ३००....129
गाथा — ३०१....130
गाथा — ३०२....132
गाथा — ३०३....134
गाथा — ३०४....135
गाथा — ३०५....136
गाथा — ३०६....136
गाथा — ३०७....142
गाथा — ३०८....145
गाथा — ३०९....148
गाथा — ३१०....149
गाथा — ३११....150
गाथा — ३१२....151
गाथा — ३१३....152
गाथा — ३१४....153
गाथा — ३१५....156
गाथा — ३१६....157
गाथा — ३१७....158
गाथा — ३१८....166
गाथा — ३१९....168
गाथा — ३२०....170

गाथा — ३२१.....171

गाथा — ३२२.....171

गाथा — ३२३.....175

गाथा — ३२४.....175

गाथा — ३२५.....179

गाथा — ३२६.....181

प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्यवर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक **'अनुप्रेक्षा प्रवचन ४, ६'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्रीमनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/ वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे । इसी ग्रन्थ की PDF फाइल www.jainkosh.org पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर** एवं प्रूफिंग करने हेतु श्री **सुरेशजी पांड्या, इन्दौर** का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone:94066-82889

Email-vikasnd@gmail.com

www.jainkosh.org

अनुप्रेक्षा प्रवचन चतुर्थ भाग

[प्रवक्ता:—अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज]

गाथा — १९२

जीवा हवंति तिविहा बहिरप्पा तह य अंतरप्पा य ।
परमप्पा वि य दुविहा अरहंता तह व सिद्धा य ।।१९२।।

जीव के भेदों का शान्तिमागदर्शक पद्धति से वर्णन—शान्ति के लिए एक प्रधान साधन है पदार्थ का यथावत स्वरूप समझ लेना । जीव की शान्ति का सम्बंध ज्ञान के साथ है, धनवैभव इज्जत और-और भी बाहरी चीजें समागम कुटुम्ब इनके साथ नहीं है । ज्ञान सही होगा, अपना मन वश होगा, ज्ञान द्वारा अपने आपमें बसे हुए सहज भगवान के दर्शन किये जाते होंगे तो वहाँ तृप्ति है, सन्तोष है, शान्ति है और जहाँ ज्ञान नहीं है वहाँ पूर्वकृत पुण्य के उदय से चाहे कुछ वैभव मिल जाय, चाहे कितनी ही लौकिक प्रतिष्ठा हो जाय, किन्तु वहाँ शान्ति नहीं है । शान्ति के लिए किसी भी बाहरी कमी, विघ्नरूप नहीं होती । अपना परिज्ञान हो तो वहाँ शान्ति नियम से है । उस ही ज्ञान के प्रकरण में लोकानुप्रेक्षा में ६ द्रव्यों का किस-किस प्रकार से स्वरूप है? यह बताने के लिए यहाँ दूसरी प्रकार से जीवों का भेद प्रभेद बताया जा रहा है । जीव तीन प्रकार के होते है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा । जीव की यहाँ त्रिविधता सबने स्वीकार की है । कोई जीव, आत्मा, ब्रह्म, इस प्रकार से तीन मानते हैं, कोई अज्ञानी, ज्ञानी और प्रभु ये तीन प्रकार कहते हैं । यह त्रिविधता सबको माननी पड़ेगी जो जीवतत्त्व में आस्था रखते हैं ।

जीव की सब पर्यायों में अवस्थित जीव के सहज स्वभाव का संकेत—इस प्रसंग में एक बात और जाननी है जीव से सम्बंधित, हमें चार तत्त्व परखने होंगे—बहिरात्मापन, अन्तरात्मापन और परमात्मापन और सहज स्वभाव । इन चार बातों को कुछ दार्शनिकों ने इन शब्दों में कहा है—ब्रह्म जागृति स्वप्न और अंतःप्रज्ञ । बहिरात्मा का नाम जागृति रखा है, अन्तरात्मा का नाम सुणुप्ति रखा है, परमात्मा का नाम अन्तःप्रज्ञ रखा है और सहजस्वभाव का नाम ब्रह्म रखा गया है । यद्यपि स्याद्वाद शासन में बताये हुए इन चार तत्त्वों के स्वरूपमर्म की तुलना यथार्थ नहीं बैठती, कारण कि वहाँ चार तत्त्व भिन्न-भिन्न रूप से माने गए और ब्रह्म को अपरिणामी स्वीकार किया गया है जब कि वास्तविकता यह है कि यह ब्रह्मस्वरूप, यह सहज ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्व शाश्वत है और वह जिस प्रकार स्वतःसिद्ध है उसी प्रकार स्वत: परिणमनशील है । जो भी सत् होता है वह स्वत:सिद्ध और स्वत: परिणामी होता है । तब इस परिणाम में बहिरात्मत्व, अन्तरात्मत्व और परमात्मत्व ये तीन अवस्थायें बनती हैं । अवस्था की दृष्टि से यहाँ यह जानना है कि बहिरात्मापन तो हेय है, अन्तरात्मापन उपाय है और परमात्मापन उपादेय है । अन्तरात्मत्व ऐसा उपाय है कि जिससे बहिरात्मत्व का नाश और परमात्मत्व का अभ्युदय होता है । इन तीन अवस्थाओं का वर्णन करके ही हम सहज ज्ञायक स्वभाव की पहिचान कर सकेंगे । इस कारण सर्वप्रथम इन तीन अवस्थाओं का वर्णन किया जा रहा है । समयसार में भी जब यह संकल्प किया कि मैं समयप्राभृत को कहूंगा तो समय का वर्णन करना चाहिये ना । समय मायने आत्मा । तो पूछा गया कि समय क्या है? तो एक प्रारम्भ में उत्तर दिया गया कि दर्शन ज्ञान चारित्र में स्थित रहे वह स्वसमय है । और जो पुद्गल कर्म व्यपदेश में स्थित है वह परसमय है । पूछा तो गया कि समय क्या हैं ? और उत्तर दिया गया अवस्थाओं का । यह पद्धति क्यों अपनाई? इसलिए कि अवस्थाओं का परिज्ञान करके समझा जायेगा कि जो एक पदार्थ दोनों अवस्थाओं में है वह है समय । तो यहाँ तीन अवस्थाओं का वर्णन किया जा रहा है—बहिरात्मा, रहता अन्तरात्मा और परमात्मा ।

बहिरात्मा व अन्तरात्मा का स्वरूप—बहिरात्मा वह कहलाता है जो बाह्यद्रव्य विषयों में शरीर पुत्र स्त्री आदिक चेतन अचेतन रूपों में जिनकी आत्मा है वह बहिरात्मा है याने जिनका उपयोग बाह्यपदार्थों में फंसा हुआ है वे बहिरात्मा है। देह और जीव को जो एक मानते हैं, वे बहिरात्मा हैं। जहां इतने निकट देह को अपना मानने पर बहिरात्मत्व दिखाया है वहाँ प्रकट भिन्न परपदार्थों में कोई आत्मा माने तो वह बहिरात्मा है, यह प्रकट ही सिद्ध है। अन्तरात्मा का अर्थ है अन्त: अन्तरङ्ग में जिसका आत्मा हो। शरीरादिक से भिन्न प्रतिभासमान आत्मा जिसका अन्त: हो उसे अन्तरात्मा कहते हैं याने

जिसने अपने सहज अंतस्तत्त्व को आत्मारूप से स्वीकार किया है वह अन्तरात्मा है। अन्तरात्मा होने की पहचान दूसरा कोई न जान सकेगा, खुद समझ सकते हैं। अपनी रुचि को निरखें कि मेरी रुचि किस ओर है? क्या जगत के सारे समागमों से हटकर मेरी रुचि मेरे सहज ज्ञानस्वरूप के उपयोग के लिए है? यदि है तो अन्तरात्मापन है, यदि नहीं है अंत: रुचि, परद्रव्यों से भिन्न अपने आपके स्वरूप में रुचि नहीं है तो अन्तरात्मापन नहीं प्रकट हुआ।

स्वयं में धर्मप्रयोग किये बिना धर्मात्मत्व के अभ्युदय का अभाव—देखिये—धर्मप्रचार के अर्थ अपनी-अपनी सम्हाल करने की फिक्र कीजिए। जैसे कितने ही लोग चाहते हैं कि मैं धर्म का प्रचार करूं, बहुत से लोगों से त्याग करा दूं, बहुत से लोगों को बात समझा दूं, ये लोग कहने लगें कि यह धर्म अच्छा है तो इस फिक्र में बड़ा परिश्रम करते हैं और अपने आपकी कुछ सुध बुध भी नहीं है, अपने आपकी कोई कृपा ही नहीं है। फल यह होता है कि उनका प्रयत्न नि:सार होता है व लोग प्रभावित नहीं बन पाते। और, इस तरह अगर सभी लोग करने लगें कि दूसरों से धर्म करावें, दूसरों को धर्म सिखावें, दूसरे लोग मानने लगें कि धर्म अच्छी चीज है, यदि सभी लोग ऐसा ही करें तो बताओ एक व्यक्ति ने भी धर्म कर पाया क्या? वहाँ एक ने भी धर्म नहीं किया। और, कोई पुरुष ऐसा है जो अपने आपमें ज्ञान प्रकट करके अपने आपमें शान्ति का मार्ग अपना रहा है तो लो वह एक तो धर्मात्मा हुआ, और उसके सम्पर्क में जो लोग होंगे वे भी प्रभावित होकर स्वयं धर्मात्मा न सकेंगे। तो खुद पर धर्म प्रयोग करने से धर्मत्व आता है, दूसरों पर प्रयोग करने से नहीं आता। एक बार बीरबल और बादशाह (अकबर) से परस्पर में बात हुई, बादशाह ने पूछा कि ऐ बीरबल सच बताओ कि अपने इस नगर में सभी नागरिक मेरे सच्चे आज्ञाकारी हैं या ऊपर से ही आज्ञा मानते हैं, भीतर में मायाचार भरा है। तो बीरबल ने उत्तर दिया कि हुजूर इसके उत्तर दोनों हैं। आप जिस रूप में लोगों को देखना चाहें देख सकते हैं। वस्तुत: ये सभी आज्ञाकारी है भी और नहीं भी हैं। तो अकबर बादशाह ने पूछा—बताओ किस तरह ये नागरिक हमारे सच्चे अधिकारी नहीं हैं? तो बीरबल ने क्या किया कि रात्रि के ८-९ बजे ऐसा ऐलान करवा दिया नगर में कि महाराजा ने अपने आँगन में एक बड़ा हौज बनवाया है। आज उन्हें कई मन दूध की आवश्यकता है, सो सभी लोग अपने-अपने घर से एक-एक सेर दूध लाकर हौज में डाल जावें। अब चूंकि रात्रि का समय था, अपने लोगों ने अपने-अपने मन में सोच लिया कि और लोग तो दूध लावेंगे ही, एक हम दूध न ले गए तो क्या हुआ? सो एक सेर पानी भरकर डालने गए। ऐसा ही सभी ने सोचा और किया। जब सबेरा हुआ तो क्या देखा कि वहाँ दूध का नाम नहीं, सारा हौज पानी से भरा था। बस बादशाह ने वास्तविकता समझ ली। तो यों ही समझ लो अगर सभी लोग ऐसा सोचने लगें कि ये सभी लोग धर्मात्मा बन जावें, एक हम न बन पाये तो क्या हुआ, तो भला बतलाओ इस तरह से कोई धर्मात्मा बन सकेगा क्या? धर्म है आत्मा की क्षोभ मोहरहित परिणति। खुद को क्षोभ न जगे, मोह न हो, स्नेह न हो तो वहाँ धर्म प्रकट होता है और बाकी तो ज्ञान के अभाव में जितने धर्म के लिए श्रम किए जाते हैं वे दिलबहलावा हैं और मोह की पुष्टि हैं। तो तथ्य समझना चाहिए और अपने आप पर सब कुछ दया करना चाहिए। अपने को बहुत सता डाला, अनन्त भवों में अपने आपको बरबाद करते चले आये और रात दिन बेसुधी, फिक्र, अशान्ति बोझ से लगे बने रहते आये। जरा मोह के बोझ को उठाकर फेंको और जो वास्तविक परमार्थ स्वरूप है उसके दर्शन करो, आप पवित्र हो जायेंगे, धन्य हो जायेंगे।

अन्त:स्वभाव की अन्त:प्रकाशमानता—अपने अन्तस्तत्त्व रूप को जिसने पहिचाना है, उसमें जिसका उपयोग गया है वह आत्मा अन्तरात्मा कहलाता है, अर्थात् परमसमाधि में स्थिर होते हुए देह से भिन्न ज्ञानमय परमात्मा को जो जानते हैं उन्हें अन्तरात्मा कहते हैं । अपना भगवान अपने आपमें बसा हुआ है । उसको निरखने की पद्धति निरखेंगे तो दर्शन होंगे ।

दो चार किलो कोई दूध लाये तो बतलाओ उसमें घी होता है कि नहीं होता है? होता है, मौजूद है, पर आँखों नहीं दिल सकता, उसे हाथ से नहीं उठा सकते और है उसके कण-कण में घी, पर पद्धति है उसको तपाकर, मथकर, बिलोरकर उसे क्लिश करके घी प्रकट होता है, यों ही अपने आपमें परमात्मा बसा हुआ है । पर यों ही नहीं प्रकट होता, यों व्यक्तरूप नहीं है, किन्तु अपने आपको मथकर चिन्तन करके बीलोरकर, तपाकर अपने आपमें उस परमात्मा के दर्शन किए जा सकते हैं । इस महान कार्य के लिए बहुत तपश्चरण की आवश्यकता है, बलिदान की आवश्यकता है । बलिदान किसका? इच्छाओं का । इच्छाओं को त्यागना, विकारों से चित्त हटाना । और, जो बाह्य समागम परिकर मिले हैं उनसे उपयोग हटाना बहुत बड़े तपश्चरण की आवश्यकता है, तब हम पायेंगे अपने आपमें अपने प्रभु के दर्शन । मोहीजनों को यह बात कहा रुचती है? उन्हें तो वही रुचता है जो भव-भव में करते आये ।

उच्छिष्ट भोगों से हटकर निज शरण सहज नाथ की उपासना में कल्याणलाभ—संसार के ये पदार्थ जो आज भोगने में आ रहे हैं या जिनके लिए लोग तरसते हैं ये पदार्थ अनेक बार भोगे गए, अतएव इन्हें कह सकते कि ये सब झूठे पदार्थ हैं । लेकिन ये कातर, अज्ञानी, गरीब प्राणी इनको ही भोग करके सन्तुष्ट होना चाहते हैं । अरे जरा इनसे उपेक्षा करके यह मानकर कि मेरा यहाँ कोई सम्मान नहीं है, कोई इज्जत नहीं है, कोई मुझे जानता नहीं है, अरे नहीं जानती दुनिया तो न जाने, और हो जाय ऐसी कि मुझे कोई पहिचानने वाला न रहे, मैं अपने आपमें खुद दिखता रहूं, बस यही चाहता हूँ, और इसके आगे कुछ वाञ्छा नहीं है । भला आज मनुष्य न होते, कीड़ा मकौड़ा हुए होते तो इस नगर के, परिवार के, पड़ोस के लोग कुछ पहिचानते क्या? कुछ सम्बंध था उनका ? अरे आज मनुष्य हो गए तो समझो कि हम अब भी सबसे अपरिचित हैं और अपने आपमें अपने को समझकर अपनी संतुष्टि उत्पन्न करें अपना शरण केवल एक अपना सहज नाथ सहज प्रभु ज्ञानस्वरूप ज्ञानस्वभाव है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई साथ न निभायेगा । हमारा साथ निभा सकने वाला कोई है तो हमारे ही अन्त: बसने वाला हमारा प्रभु निभा सकता है । बाकी जितने भी चेतन अचेतन पदार्थों का समागम है वे कोई भी वस्तु हमारा साथ नहीं निभा सकते । यह सब ज्ञान जिनके प्रकट हुआ है वे अन्तरात्मा कहलाते हैं ।

परमात्मा का स्वरूप और सहज स्वरूप का संकेत—परमात्मा कौन है जिसके अंतरङ्ग और बहिरङ्ग लक्ष्मी उत्कृष्ट है, प्रकट प्रकृष्ट हुई है उन्हें कहते हैं परमात्मा । जो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्तआनन्द से सम्पन्न है, जिनके बाह्य समवशरण आदिक लक्ष्मी अलौकिक अद्भुत बनी हुई है, उस समवशरण के बीच गंधकुटी पर विराजमान जिनका चारों ओर से मुख दिख रहा है,, जिनकी दिव्यध्वनि से सभी जीव कल्याणलाभ कर रहे हैं, जो सशरीर परमात्मा हैं और अघातिया कर्म के नष्ट होने के बाद शरीररहित सिद्धभगवान निकल परमात्मा हैं ये प्रभु कहलाते हैं, और सहज परमात्मा सहजसिद्ध हैं । इन सब अवस्थाओं में रहने वाला वह सहजस्वरूप, जिसमें विकार का स्वभाव नहीं है, केवलज्ञानस्वभाव है ऐसा जो स्वभावदृष्टि करके परखा गया अंतस्तत्त्व है वह है सहज प्रभु, सहज सिद्ध । इस सहजसिद्ध प्रभु का आलम्बन लेकर अन्तरात्मत्व-प्रकट होता है और इस अन्तरात्मा होने के उपाय से परमात्मत्व प्रकट होता है । तो जीव की अवस्थायें इन तीन प्रकारों में विभक्त हैं ।

मोहनिद्रा को त्यागकर अन्तःजागरण का सन्देश—भैया ! मोह में कुछ सार नहीं है । बच्चा भी अगर सीख देवे तो उसे भी मान लेना चाहिये । वृद्धों को सीख देता ही रहता है बच्चा, मगर यह मोही बाज नहीं आता । छोटे बच्चे बूढ़ों को खिलाने के लिए दिए जाते हैं, क्योंकि बूढ़े लोग और कुछ तो कामकाज कर सकते नहीं । खेलते हुए वे बच्चे कहते हैं बाबा जी याने हे बाबा, आप अब वा बाजी के हैं, इस बाजी के अब तुम नहीं रहे । अब तो इस बाजी के हम बच्चे लोग है ।

इतनी शिक्षा वे बच्चे लोग देते हैं मगर वह बूढ़ा उन्हीं बच्चों में मोह करता है । वह बूढ़ा यही प्रदर्शित करता है कि हम वा बाजी के नहीं है हम तो जा बाजी के हैं । शिक्षा थोड़े में भी बहुत पायी जा सकती है, किन्तु जो जानबूझकर सोया हुआ हो उसका जगाना बहुत कठिन है, जो सचमुच सो गया हो उसको जगाना सरल है । और कोई यों ही आँखे मींचकर दूसरे को बताने के लिए सोने का रूपक बनायें हो, तो उसे जगाने में कौन समर्थ होगा? उसके सामने तो खूब बाजे भी बजाये जायें तो बेकार हैं, और जो सचमुच सो गया है वह जगाया जाने पर शीघ्र ही जग जाता है । तो यों ही सोचिये कि हम आपकी ऐसी कठिन अवस्था बन जाती है कि हम श्रेष्ठ कुल, श्रेष्ठ जाति, श्रेष्ठ धर्म, श्रेष्ठ समागम पा करके भी चेतते नहीं हैं । तो हमको जगा सकने वाला कौन होगा? इसलिए जो ज्ञान पाया है उसका सदुपयोग करें । अपने आपमें अपने अन्तस्वरूप के दर्शन करें ।

जीव की विविधता का वर्णन—यहाँ यह बतलाया जा रहा कि जीव तीन प्रकार के हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा । जो देह जीव को एक मान रहे वे बहिरात्मा, जो परद्रव्यों से भिन्न निज ज्ञानस्वरूप में रुचि रखते हैं वे अन्तरात्मा, जिनके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्तआनन्द प्रकट हो गया है, जिनके अब कषायकलंक कलमसतायें नहीं रही हैं वे कहलाते हैं परमात्मा । परमात्मा दो प्रकार के हैं—सकलपरमात्मा और निकलपरमात्मा । कल के मायने शरीर । जब बड़ा तेज होहल्ला मच रहा हो तो लोग कहते हैं कि क्या कल-कल

मचा रहे हो, कल-कल मत करो । मायने शरीर-शरीर मत करो । तो हो क्या रहा है? शरीर-शरीर से भिड़ रहे हैं । जहाँ शरीर के बड़े काम चल रहे हों सो कल-कल है । कल मायने है शरीर । और कल से जो सहित है उसका नाम है सकल । शरीर सहित परमात्मा का नाम है सकलपरमात्मा । उनका कल अब कल कल वाला नहीं रहा, किन्तु परमौदारिक दिव्य देह हो गया, जिसके शरीर में निगोद नहीं, जिसके शरीर में हाड़, मांस, खून जैसी धातुएं नहीं, परमौदारिक दिव्य शरीर है, जिसकी अब छाया भी नहीं पड़ती, भगवान का शरीर ऐसा स्वच्छ है स्फटिक मणि की तरह कि उनके शरीर की छाया नहीं पड़ती । जैसे देखा हो स्फटिक पाषाण या काँच की छाया नहीं पड़ती, कहां जाय छाया? ऐसे ही इतना स्वच्छ दिव्य देह है प्रभु का कि उनके शरीर की छाया नहीं पड़ती । ऐसे परम अतिशयवान दिव्य देह करके सहित अरहंत भगवान होते हैं । उनमें दो प्रकार हैं—एक तीर्थंकर अरहंत, दूसरा सामान्य केवली अरहंत । तीर्थंकर अरहंत किसे कहते हैं और सामान्य केवली अरहंत कौन कहलाते हैं? इस विषय का अब वर्णन करेंगे ।

गाथा — १९३

मिच्छत्त-परिणदप्पा तिव्व कसाएण सुद्दु आविट्ठो ।
जीवं देहं एक्कं कण्णंतो होदिं बहिरप्पा ।।१९३।।

तीर्थंकर प्रभु के ४६ गुणों में जन्म के दस अतिशयों का वर्णन—तीर्थंकर अरहंत वे कहलाते हैं जिनमें ४६ गुण पाये जाते हैं । ४६ गुणों में चार तो मुख्य है—अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्तआनन्द, और इस स्वाभाविक गुणविकास के अलावा शेष अन्य अतिशय हैं । उनमें जन्म के १० अतिशय हैं, तीर्थंकर भगवान का जन्म होता है तो जन्म से ही उनके ये आश्चर्यकारी बातें रहती है । उनके देह का अतिशय रूप होता है, जिस सुन्दरता की शानी का अन्य कौन बताया जावे? तीर्थंकर के शरीर में जन्म से ही यह अतिशय है कि सुगंध आती है । सबके शरीर में गंध तो होती है पर भगवान के शरीर में उत्तम गंध होती है । उनके शरीर में पसेव आदि नहीं उत्पन्न होते । दुर्गन्ध का साधन तो मुख्यतया पसेव है, उनका शरीर पसेव से रहित है, उनके वचन प्रिय और हितकारी होते हैं । वे जीव भी बड़े भाग्यवान हैं जिन्होंने उन तीर्थंकरदेव के बचपन में, गृहस्थावस्था में भी वचन सुने हों । जिनके शरीर में अतुल्य बल पाया जाता है, हजारों लाखों करोड़ों सुभटों में जो बल है उससे भी अधिक बल तीर्थंकर के देह में होता है । जिनका रुधिर श्वेत वर्ण का होता है । रुधिर सभी के श्वेत और लाल दोनों होते हैं, पर मिले हुए होते हैं । उसमें यह पता नहीं पड़ पाता कि यह सफेद खून है, लेकिन सफेद खून विषैले कीटाणु का नाशक होता है, रोगनाशक होता है। किसी में श्वेत कम है, लाल रक्त अधिक है । प्रभु के देह में श्वेत खून है, जिनके शरीर में १००८ लक्षण पाये जाते हैं । हथेली में पैरों में कुछ ऐसे लक्षण होते हैं शकुन शास्त्र के अनुसार कि जिनसे उनका महाभाग्यपना विदित होता है । शंख, चक्र, धनुष, ध्वजा आदिक बहुत से आकार हैं, और इनके अतिरिक्त तिल, मोर आदिक भी लक्षण होते हैं, जिनका संस्थान समचतुरस्र है । नाभि से नीचे पैरों तक जितनी लम्बाई, है, नाभि से ऊपर सिर तक उतनी लम्बाई होती है समचतुरस्र संस्थान में । हाथ पैर की तुलना में ठीक-ठीक प्रमाण रहना यह समचतुरस्र संस्थान में होता है । जिनके बज्रवृषभनाराचसंहनन है, जिनकी हड्डियाँ वज्र की तरह प्रबल हैं, जिनका शरीर ही ब्रज की तरह प्रबल है, इतने पर भी सुकोमल शरीर रहता है ।

तीर्थंकर के कल्याणक—जन्म के समय ही जिनके १० अतिशय प्रकट हुए है वे तीर्थंकर भगवान जब कुछ बड़ी उम्र पाकर विरक्त होते हैं, जिनके पञ्चकल्याणक मनाये जाते हैं, गर्भ के समय भी कल्याणक होता, ६ माह पहिले से रत्नवर्षा

उनके महल के आंगन में हुआ करती है और कुबेर इन्द्र के द्वारा प्रबंध चलता है । गर्भ के समय अनेक देवियाँ माता की सेवा करती थीं और जैसे भी उनका दिल बहले, जैसे भी वे प्रसन्न रहें, वे सब उपाय देवियाँ करती थीं, वचन व्यवहार भी ऐसा कि काव्यअलंकार की चर्चा सहित वार्ता करके देवियाँ तीर्थंकर की माता का मन प्रसन्न रखती थीं । जन्म के समय तो बड़े ठाठबाट से इन्द्र पाण्डुशिला पर ले जाकर मेरुपर्वत पर उनका अभिषेक करते थे । फिर जब विरक्त होते हैं तब भी कल्याणक रचा गया, तप कल्याणक के समय लौकांतिक देव आते हैं और भगवान के वैराग्य की प्रशंसा करके चले जाते हैं । ये लौकांतिक देव अन्य समय में नहीं आते, सिर्फ वैराग्य के समय में आते हैं । उन्हें वैराग्य प्रिय है । लौकान्तिक देव एक भवावतारी होते हैं । एक मनुष्यभव पाकर मुक्त हो जाते हैं । उनके द्वारा की गई वैराग्य की प्रशंसा से यहाँ लोगों के वैराग्य की ओर और भावना दृढ़ होती है ।

तीर्थंकर के दीक्षाकल्याणक के समय का प्रभावक दृश्य—प्रभु के वैराग्य समय इन्द्र एक बड़ी सुसज्जित पालकी बनाता है, भगवान से प्रार्थना करता है, अभी वे भगवान गृहस्थावस्था में हैं, पालकी में विराजने के लिए प्रार्थना करता है । जब भगवान उस पालकी में विराजमान होते हैं और इन्द्र उस पालकी को लेकर चलने के लिए उद्यत होता है उस समय कवियों ने अलंकार में बताया है कि मनुष्य लोग उस इन्द्र को पालकी उठाने के लिए रोक देते हैं, दोनों से विवाद होता है, उसका निर्णय अधिकार ४-५ विवेकी पुरुषों को दिया जाता है, तो वे विवेकी पुरुष क्या निर्णय देते हैं कि देखिये—इस पालकी को उठाने का अधिकारी वह है जो इन भगवान के समान ही विरक्त होकर इन जैसा ही बन सके । सो मनुष्यों को उस पालकी के उठाने का निर्णय दिया गया । उस समय मानो इन्द्र अपना माथा ठोकता हुआ कहता है—ऐ मनुष्यों, तुम हमारा सारा देवत्व ले लो, सारी इन्द्रत्व की विभूति ले लो, पर अपना मनुष्यत्व मुझे दे दो । तो अब आप सोचिए—इस मानवजीवन की कितनी महत्ता है? हम आप सब आज मनुष्य पर्याय में हैं, इस दुर्लभ मानवजीवन को व्यर्थ न खोयें, अपने उपयोग को कुछ बदलें और कल्याण की ओर चलें तो हम आपको बड़ा जौहर प्राप्त होगा । अपने आपके आत्मा में उस सहज परमात्मतत्त्व के दर्शन होंगे जिसकी प्रसन्नता में संसार के समस्त संकट समाप्त हो जाते हैं । तप कल्याणक मनाया गया ।

तीर्थंकर केवलज्ञानी के प्रति भक्ति विशेषता व अतिशय विशेषता—तीर्थंकर प्रभु जबसे तपश्चरण ध्यान करते हैं तब से मौन हो जाते हैं, और जब केवलज्ञान होता है तो दिव्यध्वनि के रूप में उनकी वचनवर्गणायें खिरती हैं । भव्य जीवों के भाग्य से और उनके वचनयोग के निमित्त से दिव्यध्वनि खिरती है, गणधरदेव उसका पूर्ण अर्थ समझते हैं, द्वादशांग की रचना करते हैं, उस परम्परा से आचार्यजन ग्रन्थ रचना करते हैं, उसी परम्परा से आज हम सबको महान ग्रन्थ प्राप्त हैं । जरा आचार्य संतों की उस निधि का तो ध्यान करें, कितनी अपूर्व निधि है? हम अपने आपके कल्याण के लिए उन्होंने कैसे-कैसे ग्रन्थ रच दिये हैं, उन्हें हम आप आज अपने उपयोग में नहीं लेते, उनसे कुछ फायदा नहीं उठाते तो यह अपनी ही मूर्खता है । तीर्थंकर भगवान के केवलज्ञान के समय और विहार आदिक के समय अनेक अतिशय प्रकट होते हैं, जिन्हें देव रचते हैं, उन्हें देवरचित अतिशय कहते हैं और जिनके इन्द्र ही पहरेदार बनकर उन अतिशयों को प्रकट करने में कारण बनते हैं वे प्रातिहार्य कहलाते हैं । देवरचित १४ अतिशय हैं—भगवान के अर्हमाल्ती भाषा का, होना, सब जीवों में मित्रता का व्यवहार होने लगना, दिशायें निर्मल, आकाश निर्मल छहों ऋतुओं के समस्त फल फूल एक साथ फूलने फलने लगना, पृथ्वी का काँच के समान स्वच्छ हो जाना । जब विहार करते हैं प्रभु तो उनके चरणकमल के नीचे स्वर्णकमल की रचना होती चली जाती है । आकाश से जयजयकार की ध्वनि होने लगती है । सुगंधित वायु चलती, मंद-मंद सुगंध की वृद्धि होती, समस्त जीवों को हर्ष उत्पन्न होता, भूमिका निष्कण्टक हो जाना ऐसे अनेक अतिशय प्रकट होते हैं ।

केवलज्ञान होने पर होने वाले अतिशय—जहां भगवान विराजे हों वहाँ से चारों ओर १००-१०० योजन तक सुभिक्ष हो जाता है, कहीं अकाल नहीं रहता, लोग दुःखी नहीं रहते, कैसा पुण्योदय है कि जहाँ प्रभु विराजमान हैं उनके चारों ओर १००-१०० योजन तक दुर्भिक्ष, अकाल, पीड़ा नहीं रहती । प्रभु का आकाश में गमन होता है, वे पृथ्वी पर विहार करते हुए नजर न आयेंगे । जब वे समवशरण में गंधकुटी में विराजमान होते हैं तो चारों ओर सभायें रहती हैं । बारह सभायें गोल-गोल रहती हैं । उसमें रहने वाले सभी जीवों को प्रभु का मुख दिखता है । चारों ओर मुख दिखे ऐसा अतिशय प्रकट होता है, यह सब पुण्य की रचना की बात है । ये कोई सी भी बातें कल्पित नहीं हैं, अनेक बातें तो वैज्ञानिकों ने अभी सिद्ध कर दी हैं, अनेक बातें तो बड़ी कलाओं से अब भी जानी जायेंगी । प्रभु के ऊपर उपसर्ग नहीं होता । उनके किसी प्रकार का विकार अदया का भाव नहीं होता । प्रभु अब कवलाहार भी नहीं करते । बिना आहार किए ही अरबों वर्षों तक वे अरहंत अवस्था में रहकर भव्य जीवों को उपदेश देते रहते हैं । ध्यान की अब उन्हें जरूरत नहीं है । मन का विचार अब उनके नहीं चलता । केवलज्ञानी हो गए, केवलज्ञान द्वारा समस्त लोक को एक साथ स्पष्ट जान लेते हैं । प्रभु के चार घातिया कर्मों को अब वहाँ स्थान नहीं है । पूर्ण नष्ट हो गए हैं वे घातिया कर्म, अब वे कभी पनप नहीं सकते । इसलिए सदा ज्ञान, दर्शन, सुख, शक्ति प्रकट रहती है, अभी अघातियाकर्म शेष हैं, इनमें सातावेदनीय भी उदय में चल सकती है मगर उसका उदय निष्फल है । जैसे सातावेदनीय का उदय निष्फल है, उनका आनन्द तो आत्मा में उत्पन्न हुआ स्वाधीन आनन्द है । साता असाता के उदय के विपाक अब उनके नहीं रहे, क्षुधा, तृषा आदिक उपद्रवों का भी अब कोई काम नहीं है । समस्त विद्याओं का ऐश्वर्य वहीं केवलज्ञान में प्राप्त हुआ है । अब उनके केश और नख नहीं बढ़ते । अरहंत होने के पश्चात् भी जब तक आयुकर्म शेष रहता है, करोड़ों अरबों वर्ष भी गुजर जायें पर प्रभु के नख व केश नहीं बढ़ते । और न कभी कवलाहार उन्हें करना होता है । जिनके नेत्रसिंकार नहीं रहती । नेत्र ज्यों के त्यों स्थिर रहते हैं । अब उनके शरीर की छाया नहीं पड़ती, स्फटिकमणि के समान उनका स्वच्छ देह हो जाता है । ऐसे केवलज्ञान के प्रकट होने पर अतिशय प्रकट होते हैं । तो जहां ऐसा अतिशय प्रकट हो उन्हें अरहंत कहते हैं ।

सकलपरमात्मा व निकलपरमात्मा का वर्णन—उक्त अतिशयों में से अनेक अतिशय सामान्य केवली के भी प्रकट हैं, पर वहाँ यह नियम नहीं है कि समस्त अतिशय सामान्य केवली के प्रकट हो जायें । जन्म के अतिशय तो जन्म से सम्बंधित हैं । तो तीर्थंकर परमदेव ४६ गुण करके युक्त हैं और सामान्य केवली के यथासंभव अतिशय प्रकट है, परमूल अतिशय जो अनन्त चतुष्टय है, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्तआनन्द, वे बराबर प्रकट हैं । परमात्मा दो प्रकार के बताये गए हैं-—सकलपरमात्मा और निकलपरमात्मा । उससे ही सम्बन्ध यह सब प्रकरण चल रहा है कि शरीरसहित परमात्मा का नाम सशरीर परमात्मा है । सो तीर्थंकर केवली व सामान्य केवली सब सकलपरमात्मा हैं । निकलपरमात्मा उन्हें कहते हैं जो सर्व अघातिया कर्मों से भी निवृत्त हो गए हैं, केवल स्वात्मतत्त्व ही रहा । ये सकलपरमात्मा ही सब निकलपरमात्मा हो जाते हैं । अब वे अनन्तानन्त गुणों से विराजमान लोक के अग्रभाग पर स्थिरता से विराजे हुए हैं । भगवान कहाँ रहते हैं? इसके उत्तर में कुछ लोग तो यह कहते हैं कि वे सर्वव्यापी हैं, सब जगह हैं और कुछ लोग कहते हैं कि वे ऊपर रहते हैं । प्रकृति भी लोगों की ऐसी पड़ गई है कि जब भगवान का नाम लेंगे तो ऊपर को थोड़ा मुख उठाकर नाम लेकर स्मरण करेंगे । यह पद्धति इस बात को सिद्ध करती है कि भगवान का, सिद्ध का निवास लोक के अग्रभाग पर है ।

प्रभु की सर्वव्यापकता—प्रभु सर्वव्यापक है, यह बात कई अपेक्षाओं से सिद्ध होती है । ज्ञान की अपेक्षा से प्रभु सर्वव्यापक है, लोक में ही क्या, अलोक में भी व्यापक है । जब केवली समुद्घात होता है उस समय भी एक समय के

लिए भगवान प्रदेशों से समस्त लोकालोक में व्यापक बन जाते हैं । अरहंतदेव के चार अघातिया कर्म शेष रहते हैं, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र । तो जब आयुकर्म अन्तर्मुहूर्त रह गया और बाकी कर्म लाखों वर्षों की स्थिति के हैं तो ऐसा तो होगा नहीं कि आयुकर्म नष्ट हो जाय और बाकी कर्म रहे आयें । चारों अघातियाकर्म एक साथ नष्ट हुआ करते हैं । तो उस समय समुद्घात होता है । अरहंत भगवान विराजे हैं तो उनके आत्मा के प्रदेश दंडाकार नीचे से ऊपर तक फैल जाते हैं, इसे कहते हैं दंडसमुद्घात । दंडसमुद्घात के समय में औदारिक काययोग होता है, शरीर परमाणु आते रहते हैं इस कारण वे आहारक कहलाते हैं और पर्याप्त होते हैं । इस एक समय के बाद प्रभु के प्रदेश अगल बगल फैलते हैं, जहाँ तक कि वातवलय नहीं आते । उसे बोलते हैं कपाटसमुद्घात । जैसे किवाड़ का आकार होता है फैला हुआ, उस तरह से यहाँ प्रदेश फैले हैं । इस तेरह कपाटसमुद्घात इनका नाम है । इस समय औदारिक मिश्रकाययोग हो गया अर्थात् औदारिक देह की वर्गणाओं और कार्माण वर्गणाओं का मिश्रण करके योग चलता है उस समय आहारक रह रहे हैं, शरीरवर्गणायें आ रही हैं किन्तु अपर्याप्त हो जाते हैं । इसके पश्चात् दूसरे समय में प्रतरसमुद्घात होता है । आगे पीछे के भी देश फैल जाते हैं। उस समय कार्माण काययोग होता है, प्रभु अनाहारक होते हैं, अपर्याप्त होते हैं, अर्थात् शरीर परमाणु अब ग्रहण में नहीं आ रहे, इसके पश्चात् लोकपूरण समुद्घात होता है कि जो वातवलय थोड़ा रह गया था वहाँ भी प्रदेश फैल जाते हैं । इस एक समय में लोकपूरण समुद्घात के समय लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर आत्मा का एक-एक प्रदेश रह जाता है, इसके बाद फिर प्रदेश सिकुड़ते हैं, प्रतरसमुद्घात की स्थिति में आते हैं, फिर कपाटसमुद्घात की स्थिति में, फिर दंडसमुद्घात की स्थिति में, इसके बाद देह में उनका प्रवेश हो जाता है । इस क्रिया के समय वे सभी कम आयु के प्रमाण करीब अन्तर्मुहूर्त के हो जाते हैं, थोड़ा फर्क रहता है, सो वह फर्क भी इसके बाद तत्काल निकल जाता है । जब सब घातिया कर्म अन्तर्मुहूर्त की स्थिति में हो गए तब पूर्णतया योगनिषेध हो चुकने पर १४ वें गुणस्थान में ये अरहंत प्रभु पहुंचते हैं और उनके अन्तिम दो समयों में सभी प्रकृतियों का नाश हो जाता है, और वे सिद्ध हो जाते हैं, तब वे निकलपरमात्मा कहलाते हैं ।

निकलपरमात्मा का परिचय—निकलपरमात्मा, अशरीर सिद्ध भगवान ऊर्द्धगति से लोक के अग्रभाग तक पहुंच जाते हैं । अब वे सदाकाल अवस्थित हैं । सिद्ध भगवान की स्तुति में कहते हैं कि जो ''एक माहि एक राजे एक माहि अनेकनों, एक अनेकन की नहीं संख्या, नमो सिद्ध निरञ्जनो'' । ऐसा पढ़ तो जाते हैं पर अर्थ याद न होने से कुछ से कुछ भी पढ़ लेते हों, एक की जगह अनेक, अनेक की जगह एक । अब देखिये इसका अर्थ कितना मार्मिक है और प्रभु के अंतःस्वरूप को बताने वाला है । ये सिद्ध भगवान निरञ्जन हैं, इनके अब अञ्जन नहीं रहा । जैसे कि अञ्जन खूब लिपटकर ही लग सकता है, दूर-दूर रहकर नहीं लगता, ऐसे ही ये शरीर द्रव्यकर्म ये आत्मा से लिपटकर रह रहे हैं इसलिए इन्हें अञ्जन कहते हैं । जहां, शरीर, कर्म, विकार आदि कुछ नहीं हैं ऐसे प्रभु को निरञ्जन कहते हैं । ये एक माहि एक राजे हैं— अर्थात् प्रत्येक सिद्ध एक में एक ही रह रहे हैं । जितने भी सिद्ध हुए हैं वे सभी अपने आपके प्रदेश में ही केवल रागादिक रूप परिणाम रहे हैं । एक में दूसरे का प्रवेश नहीं है, यहा परिणाम की बात देखिये, अनुभव की बात देखिये । प्रत्येक सिद्ध अपने आपके एक में ही वह एक है, वे प्रत्येक सिद्ध, एक में एक ही विराज रहे हैं । यद्यपि जिस क्षेत्र से कोई एक सिद्ध हुआ है उसी क्षेत्र से उसी जगह से अनन्त सिद्ध हो गए और वे जाकर वहीं विराजमान हैं जहाँ कि कोई एक हो, लेकिन एक ही जगह में अनन्त सिद्ध रहने पर भी प्रत्येक सिद्ध अपने आपके स्वरूप में अपने ज्ञानानन्द को भोग रहे हैं, किसी में किसी दूसरे का परिणमन, प्रवेश नहीं है, अतएव प्रभु एक में एक ही राज रहे हैं । और एक में अनेक राज रहे

हैं सिद्ध प्रभु । जहाँ एक सिद्ध प्रभु हैं वहीं अनन्त सिद्ध भगवान हैं । एक में अनेक विराज रहे हैं । और, वहाँ एक अनेक की कोई संख्या नहीं है, संख्या से परे हैं ना, अनन्त हैं ना, अनेक में कितने आये? उसका काई उत्तर नहीं है । अन्तरहित, यों भी एक अनेक की संख्या नहीं है, और यदि सिद्ध में, भगवान् में अन्तस्वरूप का ध्यान किया जाय तो वह तो एक विशुद्ध चैतन्यमात्र है । और, यदि बड़ी तन्मयता से सिद्ध प्रभु की उपासना कर रहे हों तो उस उपयोग में तो विशुद्ध चैतन्यभाव ही समाया हुआ है, उसकी सीमा नहीं, उसकी व्यक्ति नहीं । उसमें एक अनेक की गिनती नहीं । यों भी एक अनेक की संख्या अब नहीं रही ।

कर्मक्षयसिद्ध व सहजसिद्ध प्रभु की उपासना का अनुरोध—ऐसे निरञ्जन सिद्ध भगवान जिनका हम गुण गा रहे हैं, ऐसी शक्ति, ऐसा स्वभाव हम आप सबके अन्दर है, पर अपनी कदर नहीं किए हुए हैं । इसी से संसार में रुलना भटकना बन रहा है । जब भी अपने आपके इस सहज परमात्मतत्त्व पर दृष्टि होगी, अपनी महत्ता विदित होगी, इन भोगों से, इन लगाओं से, इन व्यर्थ की करतूतों से उपेक्षा बनेगी, अपने आपमें उपयोग रमेगा, सब कर्मबन्धन झड़ जायेंगे और यही पद, यही विकास जो परमात्मा को प्राप्त है, हम आप सबको प्राप्त होगा । प्रोग्राम तो इसी का ही सच्चा है, बाकी जो जिन्दगी ने अनेक प्रोग्राम बनाये बैठे हैं, अमुक कार्य करना, अमुक बात सिद्ध करना वे सब बेकार हैं । यही प्रोग्राम सार्थक है कि मैं केवल रह जाऊँ । मैं अपने आपको केवल निरखूँ, केवल में ही अपना उपयोग जमाऊँ । केवल ही मुझे रहना है, क्योंकि मैं केवल हूँ । मैं केवल ही तो सत् हूँ । दो पदार्थ मिलकर मैं सत् नहीं बना, ऐसा जैसा मैं सहज सत् हूँ, केवल हूँ, वही मात्र मुझे रहना है, ऐसा प्रोग्राम बनाये कोई तो, उसका विवेकपूर्ण प्रोग्राम है और उसका मनुष्य जीवन का जीना भी सफल है, इसके लिए परमात्मा की भक्ति में रहें और अपने आपमें बसे हुए सहज सिद्धप्रभु की भी याद कर रहे हों, इसमें ही कल्याण है ।

बहिरात्मा के स्वरूप के वर्णन में बहिरात्मा की मिथ्यात्व से अभिगृहीतता—तीन प्रकार के जीवों में से बहिरात्मा का स्वरूप कहा जा रहा है । जो आत्मा मिथ्यात्व से परिणत है और तीव्रकषाय से युक्त है, जो देह और जीव को एक माने उसे बहिरात्मा कहते हैं । यहां मुख्यतया मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीव की चर्चा चल रही है । मिथ्यादृष्टि कहो, बहिरात्मा कहो, एक ही बात है । मिथ्यादृष्टि, मिथ्या का अर्थ है संयोग वाली बात । मिथ्या का लोग अर्थ करते हैं ''उल्टा ।'' मिथ्या मायने उल्टा लगाते हैं पर मिथ्या का सही अर्थ ''उल्टा'' नहीं है, किन्तु मिथ्या मिथ् धातु से बना है । सम्बंध इसका अर्थ है । परस्पर सम्बंध के अर्थ में मिथ् धातु बनी है जिससे मैथुन मिथ्या मिथुन आदिक शब्द बनते हैं । जिसकी अर्थ हैं—दूसरी चीज में संश्लेष होना । परमैश्लेष दृष्टि होने का नाम है मिथ्यादर्शन । जो आत्मा का स्वरूप नहीं है ऐसे अन्य स्वरूप में परभाव में श्रद्धा होने का नाम ''यह मैं हूँ'' इसका नाम है मिथ्यादर्शन । मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्वभाव से परिणत है । मिथ्यात्वभाव होता है मिथ्यात्व नाम दर्शन मोहनीय प्रकृति के उदय से । वहाँ अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया लोभ का भी उदय होता है । सम्यक्प्रकृति और सम्यक्मिथ्यात्व का उदय क्रमश: क्षयोपशम (वेदक) सम्यक्त्व में, व सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में होता है पर मिथ्यात्व के उदय में जीव मिथ्यादृष्टि कहलाता है । मिथ्यात्व कहते हैं उस कर्म को जिस कर्म के उदय में जीव का दर्शन बिगड़ जाता है, श्रद्धा विपरीत हो जाती है । जीवों का अपना स्वामी मानना, अपना कुटुम्बी समझना, देह को आपा मानना, जो अपने में भाव बनते हैं उन भावों में लगाव रखना; क्रोध, मान, माया, लोभ के परिणाम में अपने आपकी श्रद्धा करना, मैं ही तो कर रहा हूँ, मैं दूसरे को पालता हूँ, सेवता हूं, रक्षा करता हूँ आदिक कर्तृत्व बुद्धियाँ मिथ्यात्व में हुआ करती हैं । मैं अमुक विषय को भोगता हूँ, यों भोगने की बुद्धि मिथ्यात्व में होती है ।

वस्तुत: देखा जाय तो कोई पुरुष मिठाई खाकर मिठाई का रस नहीं भोग रहा, किन्तु मिठाई के रस का जो ज्ञान हो रहा है उससे सुख मान रहा है । मिठाई से क्या सुख भोगेगा? मिठाई तो पौद्गलिक चीज है । उसका भोगना क्या होगा ? तो अन्य वस्तुओं के भोगने को करने का भाव मिथ्यात्व गुणस्थान में होता है ।

बहिरात्मा की तीव्रकषाय से आविष्टता—यह जीव तीव्रकषाय से गृहीत रहता है । अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय में इस जीव को अपने आत्मा की सुध नहीं रहती है। अनन्तानुबंधी क्रोध जिसका संस्कार भव-भव में साथ जाय, जैसे पुराणों में चर्चा मिलती है कि कमठ का जीव भव-भव में मरुभूति के जीव को सताता रहा। अन्य कथायें भी ऐसी प्राप्त हैं जिनमें भव-भव के संस्कार बताये गए। तो जिनका संस्कार ६ माह से भी अधिक चले वे सब अनन्तानुबंधी की कषाय कहलाते हैं। धर्म के सम्बंध में क्रोध, मान, माया, लोभ का प्रसंग आये तो समझिये कि वह अनन्तानुबंधी है। जैसे धर्म कर रहे, पूजा कर रहे, या अन्य कोई धार्मिक कार्य कर रहे और उसी प्रसंग में तीव्र क्रोध जग जाय तो यह क्या है? यह अनन्तानुबंधी क्रोध का रूप है। जिस धर्म का प्रसङ्ग शान्ति के लिए होता है उसका प्रसंग इसके क्रोध का कारण बनता है। कुछ थोड़ा धर्म किया, घमंड में आ रहे, लोग जानेंगे कि आज उपवास किए हुए हैं, मैं ऐसी पूजा करता हूं, यह सब क्या है? यहाँ दूसरों को दृष्टि में अपने को धर्मात्मा जता देना यह अनन्तानुबंधी मान है। मायाचार धर्म के प्रकरण में रखना। मन में और, वचन में और, करे कुछ और, दिल में तो दया नहीं, रूप बनाया गया बड़े दयालु का, अथवा दिल में तो धर्म की रुचि नहीं, पर अपने हावभाव गानतान द्वारा यह बतलाने की चेष्टा करना कि हम धर्मात्मा हैं यह क्या है? यह अनन्तानुबंधी माया है। जिस धर्म का प्रसंग हमारे सब संकटों को दूर करने के लिए था उसी को अपने दिलबहलावा कषाय पूर्ति करने का साधन बनाया, कभी अकेले दर्शन कर रहे हैं तो झट जल्दी बोलकर कर रहे हैं, मगर कोई दो चार आदमी आकर दर्शन करने लगें तो उनको देखकर खुद बड़े सुरीले गान गाने लगते हैं। सामायिक जैसे चाहे कर रहे, मगर कोई दो चार आदमी आ गए तो अटेन्सन में हो गए, यह क्या है? यह अनन्तानुबंधी माया का स्वरूप है। धर्म के प्रसंग में लोभ करना, घर गृहस्थी मोह मोहब्बत के काम में सब कुछ खर्च करने को तैयार रहते हैं पर किसी पड़ौसी भाई पर कोई खर्च करने की जरूरत पड़ जाय तो उसमें बड़ा हिसाब लगाते हैं, अथवा कोई धार्मिक काम में कुछ खर्च करना पड़े तो बहुत सोचा विचारी करते हैं, यह क्या है? यह अनन्तानुबंधी लोभ है। तो ऐसी तीव्र कषायों में बहिरात्मा गृहीत हो जाता है। मिथ्यादृष्टि जीव देह और आत्मा को एक मानता है, इसका मुख्य लक्षण है—शरीर से निराला मैं कुछ ज्ञानदर्शनमय पदार्थ हूं, यह अनुभव मिथ्यादृष्टि को न हो सकेगा।

त्रिविध बहिरात्मा—बहिरात्मा तीन गुणस्थानवर्ती जीव कहलाते हैं। मिथ्यात्व, सासादन सम्यक्त्व और सम्यक् मिथ्यात्व, लेकिन इनमें भी डटकर बहिरात्मा है पहले गुणस्थान में, मध्यबहिरात्मा है दूसरे गुणस्थान में और जघन्य बहिरात्मा है तीसरे गुणस्थान में। तीसरे गुणस्थान में बहिरात्मत्व शिथिल हुआ क्योंकि यहाँ सम्यक् मिथ्यात्व मिले हुए परिणाम रहते हैं। न केवल सम्यक्त्व रहा, न केवल मिथ्यात्व। जैसे दृष्टान्त समझ लीजिए कि किसी पुरुष को वीतराग देव, वीतराग धर्म और वीतराग गुरु पर श्रद्धा हुई जो कि पहिले सराग देव, सराग धर्म और सराग गुरुओं को मानता था और सराग देवताओं की मूर्तियां भी अपने घर में रखता था उसे कारण पाकर काललब्धिवश कुछ सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा हुई है, जो रागद्वेष रहित हो, अपने शुद्ध ज्ञानप्रकाश में हो वह हमारा देव है, ऐसी कुछ श्रद्धा तो जगी, मगर यह श्रद्धा इतनी दृढ़ नहीं हो सकी कि अपने घर में स्थापित किए हुए सरागी देवताओं की मूर्तियों को अलग कर सके तो अभी उसका भाव दोनों ओर लगा है उसे न केवल सम्यक्त्व जैसी स्थिति कह सकेंगे और न केवल मिथ्यात्व जैसी स्थिति कहेंगे। तो

यहाँ मिथ्यात्व प्रबल न रहा। कुछ सत्य श्रद्धान के लिए भाव होता है ऐसे परिणाम को यद्यपि सम्यक्त्व न कहेंगे, बहिरात्मापन कहेंगे, लेकिन यह है जघन्य बहिरात्मा का परिणाम। किसी जीव को सम्यक्त्व उत्पन्न हो गया हो उपशम सम्यक्त्व, तो उपशम सम्यक्त्व तो छूट जाय और मिथ्यात्व का उदय न आ पाये, ऐसी बीच की स्थिति कि जहाँ सम्यक्त्व की विराधना हो रही है उस परिणाम को कहते सासादन सम्यक्त्व। अब यह जीव नियम से मिथ्यात्व में आयेगा और परिणाम विपरीत ही हो गया तो उसे कहेंगे मध्यम बहिरात्मा और मिथ्यात्व गुणस्थान में रहने वाला जीव यह है उत्कृष्ट बहिरात्मा। देखो जो मोही है ममतावान है, अज्ञानी है उसे कहते हैं उत्कृष्ट बहिरात्मा। उत्कृष्ट नाम लगा है ऐसा जानकर अज्ञानीजन फूल न जायें कि मुझे उत्कृष्ट कह दिया। उत्कृष्ट तो कहा गया, मगर कैसा उत्कृष्ट? बहिरात्मा उत्कृष्ट। जैसे किसी को कहा जाय यह तो मूर्खों का बादशाह है, तो बादशाह शब्द सुनकर खुश न होना चाहिए, क्योंकि वहाँ बादशाह का अर्थ महामूर्ख है तो ऐसे ही बहिरात्मा कहा गया है मगर उसका अर्थ है कि वह महा बहिरात्मा है, मोही है। इसका प्रधान लक्षण यह जानें कि जो देह जीव को एक मान रहा है सो बहिरात्मा है याने जो बाह्य तत्त्वों को अपने रूप से अनुभव कर रहा है उसका नाम बहिरात्मा है।

भविष्य की निर्भरता परिणामों पर होने से परिणामों की सम्हाल का अनुरोध—भैया ! भला बुरा भविष्य परिणामों की निर्मलता पर निर्भर है। दिखावा से कुछ काम न चलेगा। कर्मबन्ध तो होता है भीतर के परिणामों

का निमित्त पाकर। कोई ऊपरी-ऊपरी धर्मक्रिया कर रहा हो इतने से वह कर्मबन्ध से बच जाय सो बात न होगी। हाँ भीतर का परिणाम अगर निर्मल है और वह कदाचित् बाह्य धर्मकार्य में नहीं भी लग रहा है, लेकिन प्रतीति सच्ची होने से वह किसी भी जगह रहता हुआ अनेक कर्मों के बन्ध से छूटा हुआ है। इसलिए हम आपको अपने परिणामों की संभाल करने में असावधानी न करना चाहिए। देखो केवल एक लक्ष्य की बात है और वह ज्ञान की बात है। जैसे ज्ञान में आ गया कि यह घड़ी है तो इसके समझने में आपको कुछ कठिनाई हुई है क्या? बस जान गए, इसमें कठिनाई की क्या बात? अब यह जो जान गए वह जानना मिट भी जायेगा क्या? बस समझ लिया, हाँ यह है घड़ी। तो ऐसे ही यह आत्मा भी कोई वस्तु है, स्वयं ज्ञानमात्र यह मैं भी तो कोई चीज हूं, यदि मैं कुछ न होऊं तब तो बड़ी ही अच्छी बात है। ये दु:ख सुख किसमें होते हैं? होते तो हैं ना? तो जब मैं कुछ हूं और अपने आपका मुझे हो जाय ज्ञान तो इस ज्ञान में कोई श्रम पड़ता है क्या? और हो जाय एक बार ज्ञान तो हो गया, फिर उसका भूलना कैसा? जान ही गए। तो किसी भी प्रकार यदि हम अपने सहजस्वरूप का ज्ञान कर लेते हैं तब सन्तोष करना चाहिए कि हमें जो कुछ करना था सो सब कुछ कर लिया, और एक निज ज्ञानस्वरूप का ज्ञान न कर सके तो चाहे धनपति बन जायें, प्रतिष्ठावान् बन जायें, कैसी ही लौकिक ऊंची प्रतिष्ठायें पा लें लेकिन यह समझो कि मैंने कुछ भी नहीं किया। बहिरात्मापन छूट गया तब तो है अपना उद्धार, और यदि उसी मोह ममता में ही पगे हुए हैं तब तो फिर अपने उद्धार की कोई सम्भावना नहीं है।

गाथा — १९४

जे जिण वयणे कुसला भेयं जाणंति जीव देहाणं ।
णिज्जिय-दुट्ठट्ठ-मया अंतरप्पा य ते तिविहा ।।१९४।।

अन्तरात्मा की जिनवचनकुशलता—जो पुरुष जिनेन्द्र भगवान के वचनों में कुशल हैं, तीर्थंकर गणधरदेव आदिक के जो वचन हैं, द्वादशांग में अथवा वर्तमान उपलब्ध शास्त्र इनके ज्ञान में जो दक्ष हैं, जो जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का प्रतिपादन करने वाले हैं, जो देह और जीव के अन्तर को जानते हैं ऐसे पुरुष अन्तरात्मा कहलाते हैं, पर द्रव्य से भिन्न अपने आत्मस्वरूप में जिनकी रुचि है उनका नाम है अन्तरात्मा। सम्यग्दृष्टि जीव अनेक विवादों से परे रहते हैं। लोक में बड़ा झंझट है और वह अज्ञान से बनाया हुआ है। पद-पद पर अज्ञानी को झंझट आ सकता है। ज्ञानी पुरुष सब रहस्य को जानता है कि यहाँ का प्राप्त समागम पुण्य पाप का खेल जैसा है। उदय अनुकूल है तो लौकिक समागम मिलते हैं। पाप का उदय है तो उस दु:ख के अनुकूल समागम मिलते हैं। यहाँ थोड़े से धन पर मायाचार न करना, लोभ न करना ये सब बातें उसके ज्ञान में स्पष्ट रहा करती हैं। इस कारण कितनी ही बड़ी-बड़ी राशियों का मोह त्याग देते हैं । कहीं देखा होगा, किन्हीं दो भाइयों में न्यारापन होता है तो कोई भाई इतना उदार रहता है कि कितना ही अधिक दूसरे भाई को मिल जाय फिर भी अपने में विषाद नहीं करता है, और प्राय: देखा जाता है कि न्यारा होने के बाद जिसने अन्याय से अधिक भी रख लिया है तो कुछ समय बाद उसके पास नहीं रहता है । और एक भाई पुण्योदय में उससे कई गुना अधिक धन संचय कर लेता है । तो है क्या? ये सब उदय के अनुसार बातें चलती हैं । ज्ञानी का यह निर्णय रहता है कि मुझे कुछ भी वैभव मिले अथवा न मिले, इस पर कोई मेरा जीवन नहीं टिका है । तो मेरा जीवन तो जीवत्व भाव से है, मेरी चेतना शुद्ध रहेगी तो मेरा सच्चा जीवन है, जहाँ उपयोग अशुद्ध हो गया तो वह जीवन क्या जीव है, भावमरण है । मैं अपने भावों से अपने आपको मारता रहता हूँ । ज्ञानी पुरुषों को बाह्यपदार्थों से आसक्ति नहीं हुआ करती । जिनेन्द्र भगवान के वचनों में वैराग्य और ज्ञान का उपदेश भरा हुआ है, जिस आज्ञा को ज्ञानी मानने का संकल्प बनाये हुए है ऐसा अन्तरात्मा पुरुष ८

प्रकार के मदों से दूर रहता है ।

अन्तरात्मा के ज्ञानमद व पूजामद का अभाव—घमंड के विषय ८ हुआ करते हैं । किसी को ज्ञान का घमंड रहता है, मैं जानकार, मैं ज्ञानी हूँ, ये लोग कुछ नहीं समझते । मैं इतना श्रेष्ठ हूँ, यह हुआ ज्ञान का मद, किन्तु ज्ञानी समझता है कि इस ज्ञान का क्या मद किया जाय? क्या ज्ञान पाया है? केवलज्ञान के सामने यह ज्ञान उसके कुछ अंश भर ही कीमत नहीं रखता है । क्या जाना, सामने की बात जाना, थोड़ी बात जाना, कोई इस विद्या से ईश्वर नहीं बन जाया करता । सब विद्या का ईश्वर तो केवली भगवान प्रभु हैं । हमारा यह कुछ भी ज्ञान नहीं, और जो ज्ञान पाया है यह तो एक आलम्बन है इसका सदुपयोग किया जाय, नम्र बनकर अपने आपकी ओर झुका जाय, अपने स्वरूप के दर्शन करके तृप्त रहा जाय तो यह केवलज्ञान का बीज बन जायगा । और, मद में आकर परदृष्टि बनायी जायगी तो यह संसार में रुलने का बीज बन जायगा । तो इस ज्ञान का सदुपयोग करना चाहिए न कि घमंड । अज्ञानी को पूजा का मद होता है । पूजा मायने आदर सत्कार । लोग आदर सत्कार में भूल जाते हैं । बड़े-बड़े पुरुष जो कि लाखों का दान कर जाते हैं भरी सभा में वे उसमें बुद्धि कितनी रखते हैं उनकी बात वे ही जानें, पर प्राय: करके ऐसा होता है कि जो थोड़े से लोगों ने प्रशंसा की, कुछ विशेष सत्कार किया तो वह हर्ष के मारे फूलकर लाखों का द्रव्य दान कर जाता है । वह दान तो नहीं है किन्तु अपनी प्रतिष्ठा बनाने के लिए खर्च कर जाता है । यह क्या है? यह आदर सत्कार का मद है । जिस मद में आकर लोग अपने संचित धन का भी उत्सर्ग करते हैं । बड़े-बड़े सुभट लोग युद्ध में अपने प्राण गंवा देते हैं तो यह क्या उनका आदर का मद नहीं है?

मद में अपनी बरबादी—घमंड तो एक ऐसी चीज है कि जिसके कारण अपनी कितनी ही बरबादी की जा सकती है । एक पुराना कथानक है कि टीकमगढ़ की एक सुनारिन ने बड़ा हठ करके २०-२० तोले के बखौरे अपने पति से कहकर बनवाये । वहाँ सारा तन ढांककर धोती पहिनने का रिवाज है सो उन बखौरों को किसी ने देखा नहीं, वह बेचारी मन ही मन कुड़ती रही कि देखो हमने बड़ी हठ करके तो बखौरे बनवाये, पर कोई प्रशंसा के दो शब्द नहीं कहता, सो मारे गुस्सा के उसने अपने ही घर में आग लगा दी । जब घर जलने लगा तो कुछ अकल ठिकाने आयी । वह पड़ोसियों को रोकर पुकारने लगी अरे भैया ! बुझा आग, घर जला जा रहा, वह बाल्टी है, वह कुआं है, इतने में उसके हाथ के बखौरे किसी स्त्री को दिख गए । बोली—अरी बहन ये बखौरे कब बनवाये, ये तो बड़े सोने हैं—तो वह गाली देकर कहती है अरी रांड यही बात पहिले ही बोल देती तो मैं घर में आग क्यों लगाती? इस घमंड का क्रोध से ज्यादह सम्बन्ध है । जिसके मद रहता है उसके क्रोध भी भरा रहता है । आदर का मान लोग करते इसीलिए तो बरबाद हो रहे हैं, और आदर के लोभ में आकर शृङ्गारों का बढ़ना, सात्विक रहन सहन न होना, अनेक फैशन बनाना ये सब बातें हो रही हैं । अब तो १० वर्ष से अधिक कोई फैशन नहीं टिकता । नये-नये फैशन बदलते रहते हैं । तो ये सब आदर सत्कार के मद में लगी हुई चीजें हैं । तो आदर सत्कार का मद, पूजा का मद ज्ञानी जीव के नहीं रहता । उसे तो अपने आपके भीतर यह बात पड़ी हुई है कि यह मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा जो स्वभाव से आनन्दमय है इसकी उपासना से मैं चिगूँगा तो मेरी बरबादी है । वह यहाँ अपने आपमें अपनी इज्जत बढ़ाने के लिए उत्सुक रहता है ।

अन्तरात्मा के कुलमद व जातिमद का अभाव—किन्हीं को कुल का मद रहता है । मेरा बड़ा श्रेष्ठ कुल है । अरे श्रेष्ठ कुल है तो इसके लिए है कि हम धर्मपालन में आगे बढ़े । अगर कुल का मद करके इस तरह अपने को हीन कर देते कि आगे ऐसा कुल न मिले, नीच कुल में, नीच योनियों में जन्म लेना पड़े, यह होता है कुलमद का प्रभाव । किन्हीं को

अपनी जाति का मद रहता है, अजी मैं ऐसे घराने का हूँ, मेरी माँ बड़े घराने की है, कभी दरिद्रता आ जाय तो अपने कुल की और जाति की अपने पहिले हुए उन पुरुषों की तारीफ करके अपने आपको श्रेष्ठ मनाना चाहते हैं । यह सब क्या है? ये सब कुल और जाति के मद हैं । ज्ञानी जीव जानता है कि मेरा कुल तो मेरा चैतन्य है, मेरी जाति तो मेरी चेतना है और यह बाहरी कर्मोदयवश पर्याय में कुल और जाति का व्यवहार है । मैं हूँ एक चैतन्यस्वरूप । मेरा वंश है चैतन्य । मेरा कुल चलाने वाला मैं ही हूँ, लोग संतान से यह आशा रखते हैं कि यह मेरा कुल चलायेगा, मेरा वंश चलायेगा, लेकिन यह विदित है कि मेरा वंश तो केवल चैतन्यभाव है, यही मेरा साथी रहेगा । जो अन्वयरूप से हो वही तो वंश है । उस चैतन्य वंश को पवित्र करने वाला मैं ही मात्र तो हूँ, दूसरा कोई मेरे वंश को पवित्र नहीं कर सकता । ज्ञानी जीव को कुल और जाति का मद नहीं रहता । ये अन्तरात्मा के लक्षण बताये जा रहे हैं कि वह कितना नम्र होता, कितना भक्त होता है और कैसा उसके अंतरङ्ग में अभिप्राय रहता है । जो अंत:स्वरूप को जानता है, अन्तस्वरूप को मैं आत्मा हूँ, इस तरह मानता है उसे अन्तरात्मा कहते हैं ।

अन्तरात्मा के बल ऐश्वर्य तप व सुन्दरता के मद का अभाव—ज्ञानी अन्तरात्मा पुरुष के बल का मद नहीं रहता । शरीर में जो बल है उसे ही लोग बल कहा करते हैं । यह बल विकृत बल है । वास्तविक बल तो आत्मा का बल है केवल ज्ञातादृष्टा रहना, लेकिन अन्तराय कर्म के उदय क्षयोपशम में शारीरिक बल प्रकट होता है तो अज्ञानी जीव उस बल बड़ा घमंड रखता है, मैं बलिष्ठ हूँ, अन्य ये लोग निर्बल हैं, लेकिन ज्ञानी जीव के उस बल का मद नहीं है । वह जानता है कि यह बल पर्याय की चीज है, मायामय है, इस बल में पूर्णता नहीं है । अपेक्षाकृत बल की महिमा गाई जाती है । ज्ञानी पुरुष के ऐश्वर्य मद नहीं है, जैसे बल प्रतिष्ठा आदिक होते हैं तो वे इस मद में भूल जाते हैं कि मेरा भी बड़ा प्रताप है, ये सब मेरे हुकुम में चलते हैं, यह मद अज्ञानी के होता है । ज्ञानी पुरुष जानता है कि मेरा ऐश्वर्य तो मेरा सहज स्वरूप विकास है । उस ज्ञानी पुरुष में जो अपने आपका सत्य अनुभव है वह उसका ऐश्वर्य है । ऐश्वर्य को भी वह मिथ्या समझता है । ज्ञानी पुरुष के ऐश्वर्य का मद नहीं होता । तप का भी मद ज्ञानी पुरुष नहीं करता । अज्ञानी में ही यह बुद्धि जगती है कि मैं तपस्वी हूँ, मैं तपश्चरण करता हूँ, पर ज्ञानी यह जानता है कि मैं तो ज्ञानभाव को कर पाता हूँ । ये तपश्चरण आदिक बीच के साधन आ रहे हैं ये भी मैं अपने ही ज्ञानदर्शन भाव से करने वाला हूँ । उसे तपश्चरण का मद नहीं होता । ज्ञानी पुरुष को शरीर की सुन्दरता का भी मद नहीं होता । शरीर की सुन्दरता क्या? हाड़, माँस, रुधिर आदिक महा अपवित्र चीजों का यह घर है, इससे अपवित्र चीज और क्या हो सकती है? यह सब शरीर ही अपवित्र है । उसमें सुन्दरता किस बात की? रागभाव जगता है तो इसका शरीर सुन्दर मालूम होता है । जब राग नहीं रहता है तो यह शरीर घृणित और असार जंचने लगता है, तो शरीर की सुन्दरता क्या? सुन्दरता तो हमारे आपके

आत्मा के अन्दर हैं । जैसे कहते हैं सत्यं शिवं सुन्दरं । क्या चीज है, मेरा स्वरूप, मेरा स्वभाव, मेरा सहज सत्व वही मेरे लिए सुन्दर है, मैं अपने सहजभाव में आऊँ तो मेरी सुन्दरता है । इसमें ही मेरी भलाई है और अपने सहज स्वरूप की दृष्टि से चिगकर कहीं बाहर दृष्टि लगाया, वहीं विडम्बनायें हैं । ज्ञानी जीव को शरीर में मद नहीं रहता । जिसने आठों प्रकार के मदों पर विजय प्राप्त किया है वह अन्तरात्मा कहलाता है । अन्तरात्मा तीन प्रकार के होते हैं जिनका कथन अब आगे करेंगे ।

गाथा — १९५

पंच-महव्वय-जुत्ता धम्मे सुक्के वि संठिदा णिच्चं ।
णिज्जिय-सयल-पमाया उक्किट्ठा अंतरा होंति ।।१९५।।

उत्कृष्ट अन्तरात्मा का स्वरूप—अन्तरात्मा ३ प्रकार के होते हैं—उत्कृष्ट अन्तरात्मा, मध्यम अन्तरात्मा और जघन्य अन्तरात्मा । उत्कृष्ट अन्तरात्मा वे कहलाते हैं जो अपने अन्तःस्वरूप के ध्यान के दृढ़ अभ्यासी हैं । जो ५ महाव्रतों से संयुक्त हैं, धर्मध्यान और शुक्लध्यान में जो बने रहते हैं, जिन्होंने समस्त प्रमादों को जीत लिया है ऐसे पुरुष उत्कृष्ट अन्तरात्मा कहलाते हैं । ५ पाप होते हैं—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, इन ५ पापों से विरक्त होना यह हैं पञ्च महाव्रत । ये पाँचों पाप स्वयं दुःखरूप हैं । जो पुरुष इन पापों का परित्याग करते हैं वे अपने आप पर ही करुणा करते हैं निश्चयत: । और व्यवहारत: पापत्याग करने पर दूसरे जीवों की भी मेरे सम्बंध से भलाई होती है । पञ्च पापों का त्यागी स्व और पर दोनों का उपकारी है ।

पापों की हेयता—एक कथानक आया है किसी कन्या का । बताते हैं कि कोई मुनिराज किसी वन में उपदेश कर रहे थे तो उस कन्या ने पाँचों प्रकार के पापों के त्याग का व्रत मुनिराज से ग्रहण कर लिया । जब वह कन्या घर आयी और उसने अपने पिता को सब हाल बताया तो पिता बड़ा क्रुद्ध हुआ, बोला कि बिना मेरी आज्ञा के तूने व्रत क्यों लिया और उन मुनिराज ने भी व्रत क्यों दिया? तो उस कन्या ने समझाया कि देखिये पिताजी हमने यह भला ही तो काम किया है, तो पिता बोला—नहीं बेटी तुम उस व्रत को छोड़ दो । तो वह कन्या बोली—पिताजी व्रत तो हम छोड़ देंगे पर उन मुनिराज के पास चलो, वहीं छोडूंगी । वे दोनों मुनिराज के पास चले । रास्ते में कई घटनायें घटी । एक जगह देखा कि कोई व्यक्ति शूली पर लटकाया जा रहा था तो कन्या ने पूछा पिताजी यह क्या हो रहा है? तो पिता ने मालूम करके बताया कि किसी व्यक्ति ने किसी की हत्या की है तो उसे फाँसी दी जा रही है । तो वह कन्या अपने पिता से कहती है—पिता जी मैंने यदि दूसरे जीवों की हत्या न करने का नियम ले लिया तो क्या बुरा किया?...अच्छा बेटी एक यह नियम रख ले—बाकी चार नियम तो छोड़ दे । कुछ और आगे बढ़े तो क्या देखा कि किसी व्यक्ति की जिह्वा छेदी जा रही थी, कन्या ने पूछा कि पिताजी यह क्या हो रहा है? तो बताया कि बेटी किसी ने झूठ बोला है, झूठी गवाही दी है इसलिए इसकी जिह्वा छेदी जा रही है, तो पिता जी यदि मैंने झूठ बोलने के पाप को त्याग दिया तो क्या बुरा किया? अच्छा बेटी इस नियम को भी रख ले, पर शेष तीन नियम तो छोड़ दे । कुछ और आगे बढ़े तो क्या देखा कि किसी पुरुष को सिपाही लोग हथकड़ियां लगाकर पकड़े हुए लिए जा रहे थे, उसे कोड़ों से पीट भी रहे थे । उस कन्या ने पूछा पिताजी! यहाँ क्या हो रहा है? तो बताया कि बेटी किसी पुरुष ने चोरी की है इसलिए वह पीटा जा रहा है । तो पिताजी यदि मैंने चोरी के पाप का त्याग कर दिया तो क्या बुरा किया? ठीक है बेटी ये तीन नियम तू रख ले, पर दो नियम तो छोड़ दे । कुछ और आगे बढ़े तो क्या देखा कि किसी व्यक्ति के हाथ काटे जा रहे थे । जब उस कन्या ने पूछा कि यह क्या हो रहा

है तो बताया कि बेटी इस पुरुष ने कुशील सेवन किया है इसलिए इसके हाथ काटे जा रहे हैं?...तो मैंने कुशील के पाप का त्याग कर दिया तो क्या बुरा किया?...ठीक है बेटी तू इस नियम को भी रख ले, पर शेष एक नियम को तो छोड़ दे । कुछ और आगे बढ़े तो क्या देखा कि कोई व्यक्ति पीटा जा रहा था । वहाँ भी जब कन्या ने पूछा तो बताया कि किसी पुरुष ने लालच करके, दूसरे को धोखा देकर धन हड़प लिया है इसलिए वह पीटा जा रहा है?...तो यदि मैंने इस लालच का, परिग्रह का त्याग कर दिया तो क्या बुरा किया?...ठीक है बेटी तू ये सभी नियम रख ले, पर चल तो सही उस मुनि के पास, उसने बिना मेरी आज्ञा के तुझे क्यों व्रत दिया? जब वे मुनिराज के पास पहुंचे तो वह पुरुष मुनिराज से बोलता है कि आपने हमारी बेटी को बिना मेरे आदेश के व्रत क्यों दिया? तो मुनिराज बोले—यह बेटी मेरी है या तेरी?...वाह मेरी ही तो बेटी है, सभी लोग जानते हैं । आपकी कैसे? इस विवाद के समय वहाँ बड़ी भीड़ होई । तो मुनिराज ने उस कन्या के शिर पर हाथ करके कहा कि बेटी ! जो तुझे पूर्वभव में पढ़ाया था सो सुना, सो पिछले भव में जो संस्कृत व्याकरण आदि का अध्ययन किया था वह बोलने लगी । सभी लोग सुनकर दंग रह गए । तो लोगों ने बताया कि इसके असली पिता तो ये मुनिराज हैं, तुम तो केवल एक इस शरीर के पिता हो । जो आत्मा की रक्षा करे, जो आत्मा को शिक्षित बनाये, वह है परमार्थत: पिता ।

उत्कृष्ट अन्तरात्मा की अप्रमत्तता—यहाँ पापों के त्याग की बात कह रहे थे । ये पाप परित्याग करने योग्य हैं और ऐसा जानकर सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने ज्ञान की साधना के लिए कि जिसमें बीच में विकल्प न आयें, पाँचों पापों का परित्याग कर देते हैं तो जिसने पाँचों पापों का परित्याग किया और धर्मध्यान शुक्लध्यान में ही निरन्तर चित्त लगाया, जहाँ आर्तध्यान, रौद्रध्यान आते ही नहीं हैं अगर आयेंगे तो वह उत्कृष्ट अन्तरात्मा न रहेगा, वे उत्कृष्ट अन्तरात्मा हैं । ऐसे आत्मा ७ वें गुणस्थान से लेकर १२ वें गुणस्थान तक माने जाते हैं । ७ वें गुणस्थान का नाम है अप्रमत्त विरत । इसके ऊपर के साधु सभी अप्रमत्त हैं । प्रमाद छठे गुणस्थान तक रहता है, और जहाँ प्रमाद है वहाँ आर्तध्यान की सम्भावना है । इन उत्कृष्ट आत्माओं ने समस्त प्रमादों पर विजय प्राप्त किया है । अतएव ये उत्कृष्ट अन्तरात्मा होते हैं । प्रमाद के मूल में १५ भेद हैं । ४ प्रकार की विकथा, स्त्रियों की कथा करना, भोजन की कथा करना, देश की चर्चा करना, राजा राजवैभव आदिक की चर्चा करना ये चार प्रकार की विकथायें कषायवश की जाती है । कभी खोज से, कभी मान से, कभी माया से और कभी लोभ से । और ऐसा पुरुष जो इन विकथाओं में लग रहा वह पञ्च इन्द्रियों के विषयों का रागी है और निद्रा या मोह में व्यस्त रहता है । अब इन १५ भेदों को प्रत्येक विभाग में एक-एक प्रकार का संयोग करने से याने इन्द्रियविषय, कषाय, विकथा के एक-एक भेद व निद्रा मोह के परस्पर मिलाने से ८० प्रमाद भङ्ग बन जाते हैं । तो जो ८० प्रकार के प्रमाद में रत नहीं हैं, इनसे निवृत्त हैं और चार प्रकार के धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यान में जो निरत हैं वे उत्कृष्ट अन्तरात्मा कहलाते हैं ।

उत्कृष्ट अन्तरात्मा के ध्यानों का विवरण—भगवान की आज्ञा को मुख्य करके तत्त्वचिन्तन में रहना आज्ञाविचय धर्मध्यान है । रागादिक भावों का कैसे विनाश हो, उसके विनाश का चिन्तन करना सो अपायविचय

धर्मध्यान है । कर्मों के विपाक का चिन्तन करना विपाकविचय धर्मध्यान है और तीन लोक, तीन काल की मुद्रा का चिन्तन करना, कितना बड़ा लोक है, कितना बड़ा काल है, विशाल लोक व अनादि अनन्त काल की विशालता पर जब उपयोग जाता है तो इसका राग से द्वेष से चित्त हट जाता है । रागद्वेष करने का क्या काम है? इस अनादि अनन्तकाल के सामने यह थोड़ा सा १० या २० या ५० वर्ष का जीवन कुछ गिनती भी रखता है क्या? इसमें ही राग बसा लेने से जीव को कौनसा लाभ मिल जायेगा? इतने बड़े लोक में यह १०, २० या ५० मील की जगह कौनसी कीमत रखती है? यहाँ क्या मोह करना, उसके मोह हटता है, राग द्वेष दूर होता है, तो जो चार प्रकार के ध्यानों में रत रहते हैं और पृथक्त वितर्कविचार, एकत्ववितर्क अविचार इन दो शुक्लध्यानों में किसी में रत रहते हैं, ये सब उत्कृष्ट अन्तरात्मा कहलाते हैं । ७ वें गुणस्थान से लेकर १२ वें गुणस्थान तक के जीव उत्कृष्ट अन्तरात्मा हैं । ५ वें और छठवें गुणस्थान के जीव मध्यम अन्तरात्मा हैं और चतुर्थगुणस्थान के जीव जघन्य अन्तरात्मा कहलाते हैं । उत्कृष्ट अन्तरात्मा का वर्णन करके अब मध्यम अन्तरात्मा की बात कहते हैं ।

गाथा — १९६

साक्य गुणेहिं जुत्ता पमत्त-विरदा य मज्झिमा होंति ।
जिण-वयणे अणुरत्ता उवसम सीला महासत्ता ।।१९६।।

मध्यम अन्तरात्मा का स्वरूप—जो महात्मा श्रावक के गुणों से युक्त है अथवा प्रमत्तविरत है वह मध्यम अन्तरात्मा कहलाता है । छहढाला में कहा गया है कि ''मध्यम अन्तरआतम हैं जे देशव्रती अनगारी ।'' कुछ लोग आगारी पढ़ा करते हैं, उनकी दृष्टि में यह बात समाई होगी कि मुनि कैसे मध्यम होंगे, वे तो उत्तम कहलाते हैं लेकिन मुनि जब तक प्रमाद में तब तक वह मध्यम अन्तरात्मा है, उत्कृष्ट नहीं । तो श्रावक और प्रमत्तविरत ये दो मध्यम अन्तरात्मा कहलाते हैं । ये प्रमाद में अवश्य हैं, किन्तु इनका प्रमाद अज्ञानी जनों की भाँति का नहीं है । स्वाध्याय करना, शिक्षा देना, चर्चा करना ऐसा प्रमाद उनके रहता है । जिसे हम आप कहते हैं कि यह अच्छी बात है और प्रमाद छोड़कर स्वाध्याय करे, दूसरे के सुनाये, दूसरे को नियम दिलावे, शिक्षा, दीक्षा दे, जिसे क्षमा कहते हैं प्रमादरहित होकर ऐसा करे वह सब प्रमाद का काम है । आत्मा की अप्रमत्त अवस्था तो यह है कि जैसे यह आत्मा विशुद्ध ज्ञान दर्शनस्वरूप ज्ञाताद्रष्टा है उस प्रकार का उपयोग रहे तो है उसकी अप्रमत्त दशा और किन्हीं व्यवहार धर्म कार्यों में लग रहा है तो वह प्रमाद है, और लौकिक जन जिसे प्रमाद कहते हैं वह तो सारा अज्ञान है । प्रमाद तो वह कहलायेगा कि जहां थोड़ी असावधानी हो, वह तो पूरी ही असावधानी की बात है । तो आत्महित की दृष्टि से यह बात कही जा रही है कि अपना जिसमें कल्याण है ऐसे भाव में प्रमाद हो तो उसे प्रमाद कहा गयाहै । तो मध्यम अन्तरात्मा देशव्रती श्रावक और प्रमत्तविरत मुनि है ।

देशविरत श्रावक के ग्यारह स्थान—देशविरत के ११ स्थान हैं, जिन्हें ११ प्रतिमा के नाम से कहा गया है । प्रथम प्रतिमा में सम्यग्दर्शन का निरतिचार धारण और अभक्ष्य अन्याय का परित्याग होता है । यों कहिये मिथ्यात्व अन्याय अभक्ष्य का त्याग होने पर पहिली प्रतिमा में प्रवेश कहलाता है । दूसरी प्रतिमा में ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रत हो जाते हैं । इन व्रतों को विकल्प बढ़ाने के लिए नहीं लिया जाता है, किन्तु उस त्याग की स्थिति में ज्ञान की ओर उपयोग अधिक लगायेगा । यह प्रयत्न किया गया है अन्यथा कोई त्याग-त्याग में ही रहा करे यह चीज छोड़ो, इसे हटाओ, इसकी एवज में यह चीज लावो ऐसी दृष्टि करे, हमको सोला रखना है, हमको ऐसा ही पवित्र बनना है, केवल बनने-बनने की ओर ही विकल्प चले तो निश्चयत: उसका अन्तःव्रत न रहा, वह बाहरी विकल्पों में ही रहा, जिसे कर्मनिर्जरा में हेतु कहा गया ऐसा

परिणाम न रहा । तो यह ध्यान में रखना चाहिए कि बाहरी जितने भी नियम हैं उन नियमों का उद्देश्य यही है कि मैं बहुत से विकल्पों से छूटकर अपने को ऐसा पात्र बनाये रहूं कि अधिकाधिक समय हम ज्ञानप्रभाव की उपासना में बिता सकें, ध्येय उसका यह होता है और जिसका अपने ज्ञान की उपासना का ध्येय होता है उसके ये ५ पाप छूटते ही हैं । वह हिंसा क्या करेगा? वह छूट जायगा । कुशील में क्या रमेगा? जिसकी धुन लग गई है अपने आत्मा के श्रेयोलाभ की, उसका तो जीवन ही बदल जाता है । यह देशव्रती श्रावक दूसरी प्रतिमा में १२ व्रतों के धारी होता है । उन व्रतों की उत्कृष्टता के लिए आगे की प्रतिमायें चलती हैं । सामायिक प्रतिमा में सामायिक व्रत का निरतिचार पालन होता है । प्रोषधप्रतिमा में प्रोषध का निरतिचार पालन होता है । सचित्त त्याग प्रतिमा में सचित्त के भक्षण का त्याग होने से दया का उदय विशेष होता है और अहिंसाव्रत की उत्कृष्टता होती है । रात्रिभोजन त्याग में भी अहिंसाव्रत की उत्कृष्टता है । ब्रह्मचर्य प्रतिमा में ब्रह्मचर्य की पूर्णता, आरम्भ त्याग में अहिंसाव्रत की श्रेष्ठता है । उनका विकास और उत्कृष्ट बढ़ता जाता है । यों परिग्रहत्याग प्रतिमा जब आती है तब यह जीव इतना निर्मल बन जाता है कि घर के, सम्बंध के, कुटुम्ब के कोई मरें, जन्म में तो उसे सूतक नहीं लगता है । केवल थोड़े कपड़े और भोजन के कुछ पात्रों के सिवाय और कुछ नहीं रख रहा है । परिग्रहत्याग प्रतिमा वाला १० वीं प्रतिमा में अपने आहार आदिक की अनुमोदना भी नहीं करता और उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा में उद्दिष्ट भोजन न करना । यदि उसे यह मालूम हो जाय कि यह भोजन सिर्फ मेरे लिए बनाया गया है तो उसे वह नहीं लेता ।

उद्दिष्टताहारत्याग का तथ्य—उद्दिष्ट त्याग के विषय में कुछ लोग भ्रान्त धारणायें बनाते हैं, सोचते हैं कि साधु का ख्याल करके ही तो लोग साधु का आहार बनाते हैं, तब दोष लगता होगा, लेकिन उद्दिष्ट दोष के सम्बंध में मुख्य बात यह जानना चाहिए कि यदि घर में केवल साधु के लायक भोजन अलग बना लिया जाय और सबके लिए अशुद्ध भोजन बनाया जाय जैसा कि रोज-रोज भोजन बनता रहता है अलग चूल्हे पर, तो वहाँ उद्दिष्ट दोष आता है । यदि एक दिन भी और ऐसा संकल्प करके भी कि मैं साधु को आहार दूंगा और सभी लोग शुद्ध भोजन करें, किसी दूसरे चूल्हे पर अलग से भोजन न बने तो उस भोजन में उद्दिष्ट का दोष नहीं आता । इतना सोच लेने पर भी कि मुझे आज साधु को भोजन कराना है, उद्दिष्ट दोष नहीं होता । अतिथि सम्विभाग व्रत जब दूसरी प्रतिमा में लिया गया है तो वहाँ सोचता ही है वह व्रती कि मैं अतिथि को आहार देकर भोजन करूँगा तो क्या सोचने मात्र से उद्दिष्ट दोष होता है? जिसने अतिथि सम्विभाग व्रत लिया वह रोज ही सोचता है, रोज ही संकल्प करता है वह तो उसका व्रत है । दोष की बात होती तो व्रत क्यों कहलाता? तो उद्दिष्ट दोष का मूल-साधन यह है कि वह केवल साधु को भोजन अलग से बनाये । और अपने लिए, परिजनों के लिये अलग बने तब उसके लिए बना हुआ भी उद्दिष्ट है । जिस भोजन को सब करेंगे, लेकिन यह नियम न रखें कि यह चीज साधु को ही दी जायगी, वहाँ दोष नहीं है । वहाँ तो यह विचार है कि आज यह भोजन तो सभी के लिए है । हाँ आज इतनी विशेषता कर दी कि सारा भोजन शुद्ध बनेगा । तो ऐसा करने में उस श्रावक को दोष न आयगा । जो भोजन केवल साधु के लिए बनता है वह उद्दिष्ट दोषयुक्त भोजन है ।

प्रमत्तविरत मध्यम अन्तरात्मा—जब वह व्रती और आगे बढ़ता है तब फिर पंच महाव्रत का धारण होता है, तो मुनि हुआ और यह मुनि जब तक प्रमत्त रहता है, प्रमत्त-विरत है और मध्यम अन्तरात्मा कहलाता है, ये मध्यम अन्तरात्मा जिनेन्द्र भगवान के वचनों का बड़ा प्रेमी होता है । सर्वज्ञ देव द्वारा प्रणीत ६ द्रव्य, ५ अस्तिकाय, ९ पदार्थ, ७ तत्त्व इन सबकी चर्चा में इस सबके मर्म में निश्चयनय व्यवहारनय स्याद्वाद सर्वविधियों से इसके स्वरूप का विवेक करके इस तत्त्वज्ञान में प्रसन्न रहा करते हैं ये मध्यम अन्तरात्मा हैं । ये श्रमशील हैं, क्षमाशील हैं, क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायों में इनकी तीव्रता नहीं है इसलिए ये मध्यम अन्तरात्मा कहलाते हैं । ये बड़े आंतरिक बल की धारी हैं । उपसर्ग और परिग्रह आ जायें तब भी अपने व्रत का खण्डन नहीं करते । चूँकि ज्ञाताद्रष्टा की विधि से जरा वे अभी हटे हुए हैं अतएव इतने ऊँचे तपश्चरण करने पर भी ये मध्यम अन्तरात्मा कहलाते हैं ।

गाथा — १९७

अविरय-सम्मादिट्ठी होंति जहण्णा जिणिदं-पय-भत्ता ।
अप्पाणं णिदंता गुण-गहणें सुट्ठु अणुरत्ता ।।१९७।।

जघन्य अन्तरात्मा का स्वरूप—जघन्य अन्तरात्मा का स्वरूप इस गाथा में बता रहे हैं । जो जीव व्रतरहित हैं और सम्यग्दृष्टि हैं उन्हें जघन्य अन्तरात्मा कहते हैं । सम्यग्दृष्टि हुए बिना अन्तरात्मत्व नहीं प्रकट होता इसलिए जघन्य अन्तरात्मा का सम्यग्दृष्टि होना सर्वप्रथम आवश्यक है । और चूँकि उसके कोई व्रत नहीं है, यद्यपि अनेक आचरण उसके उचित ही हो रहे हैं, फिर भी व्रत न होने के कारण, नियम संकल्प न करने के कारण उसे अविरत कहा गया है, इसलिए अविरत सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य अन्तरात्मा कहलाते हैं । ये चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव होते हैं, ये चाहे उपशम सम्यग्दृष्टि हों अथवा वेदक सम्यग्दृष्टि हों या क्षायिक सम्यग्दृष्टि हों, सब प्रकार के सम्यग्दृष्टि व्रतरहित अवस्था में जघन्य अन्तरात्मा कहलाते हैं । अन्तरात्मत्व जिनके प्रकट हो जाता है वे बहिरात्मा सर्वज्ञ जिनेन्द्र के चरणकमल में अनुरक्त हुआ करते हैं । जिसकी अपने आपके कैवल्य प्रकट करने की उत्सुकता जगी है वे जो कैवल्य प्रकट कर चुके हैं । उनकी उपासना में अनुरक्त हो जाते हैं । जिनको जिसकी चाह है वह बात जहाँ प्रकट होती है वहाँ उनका चित्त रमता है । तो जिनको अपने आपमें कैवल्य प्रकट करना है, अन्तरात्मा जीव अपने आपमें यह भावना रखते हैं कि वह कब क्षण हो जब देह से, कर्म से, विभाव से, विकल्पों से निराला केवल ज्ञानमात्र जैसा कि मैं सहज सत् हूँ वैसा ही व्यक्त रूप बन जाऊँ, केवल यह ही भावना है और इस उत्सुकता के बल पर वह सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा बन गया है । तो ये अन्तरात्मा जिनेन्द्र चरण कमल में अनुरक्त रहा करते हैं । इनको गुणों के ग्रहण करने में बड़ी उत्सुकता लगी रहती है, गुण क्या है जिसके ग्रहण करना है? वह है केवल एक सहज शुद्ध ज्ञानानन्द मात्र जो आत्मा का स्वभाव है उस स्वभाव को दृष्टि में लिए रहना । काम तो केवल एक यही करने का है । मगर यह काम बने कैसे? जब कि यह जीव नाना प्रकार के विषय कषायों में अनादि से लग रहा है और उसके संस्कार में पल रहा है तो ऐसी स्थिति वाले जीव इस विशुद्ध गुण के ग्रहण में कैसे लगें? उसके लिए जो उपाय प्रयत्न रचेंगे वे प्रयत्न होंगे अणुव्रत महाव्रत रूप । पंच पापों का त्याग करना । और-और भी अनेक तपश्चरण करना । तो ये अन्तरात्मा व्रत तपश्चरण

संयम इनके ग्रहण में आसक्त रहते हैं ।

गुणग्रहण के अकृत्रिम स्नेही अन्तरात्मा—अन्तरात्मा का उत्कृष्ट स्नेह होता है, गुण के ग्रहण करने में याने जैसे अनेक लोग कृत्रिमता से व्रत ग्रहण कर ते हैं, वैसा कृत्रिमता से उनका जल ग्रहण नहीं है । अन्तरात्मा जो व्रत ग्रहण करेंगे वे कृत्रिमता से नहीं; उनका व्रत ग्रहण उत्कृष्ट सहज और सुगम होता है । जैसे कुछ लोग ऐसा सोचकर कोई व्रत ग्रहण करते हैं कि मैं मुनिव्रत ग्रहण करूंगा, मैं इतने सब परिग्रहों का त्याग करूंगा, यथाजात लिङ्ग धारण करूँगा । इस तरह का विधि विधान का संकल्प करके मुनि होते और कोई ज्ञानी पुरुष चूँकि उसे आत्मा की उपासना की धुन लगी हुई है इस कारण वे बाह्यसंग को बाधा जानकर उनसे दूर होते हैं । जैसे वस्त्र से बाधा आना, उसे धोना होगा, सुखाना होगा, सिलाना होगा, उसकी चिंता रखनी होगी, अथवा जो-जो भी बाह्य संग है उन सबको बाधक जानकर उन बाधाओं से हट रहे हैं, बस यही उनके व्रत का रूप बन रहा है । ज्ञानी जीव के बाह्य विकल्पमय विधिविधान का संकल्प नहीं किन्तु किसी भी प्रकार बाधाओं से हटकर एक चैतन्य स्वरूप में दृष्टि को दृढ़ करने का भाव है । और उसी प्रयत्न में उसकी दिगम्बर मुद्रा बनती है । तो यह ज्ञानी जीव व्रत संयम तपश्चरण को ग्रहण करने में अकृत्रिम स्नेह वाला होता है और इसको गुणों में और गुणों में (दोनों में) प्रमोद रहता है । जिनको अपने गुणविकास में प्रमोद है वे गुणविकास वाले दूसरे जीवों में भी प्रमोद रखते हैं, ऐसे ये जघन्य अन्तरात्मा चतुर्थगुणस्थान में होते हैं और ये गुणस्थानों में बढ़-बढ़कर ऊँचे गुणविकास में चढ़कर अन्त में ये क्षीण कषाय गुणस्थान में उत्कृष्ट अन्तरात्मा कहलाने लगते हैं ।

गाथा — १९८

स-सरीरा अरहंता केवल-णाणेण मुणिय सयलत्था ।
णाण-सरीरा सिद्धा सव्वुत्तम सुक्ख-संपत्ता ।।१९८।।

परमात्मा का स्वरूप—अब परमात्मा का स्वरूप निरखिये । ये प्रभु दो प्रकार के होते हैं—अरहंत और सिद्ध । जो शरीरसहित परमात्मा हैं उनको अरहंत कहते हैं, जो शरीररहित परमात्मा हैं उनको सिद्ध कहते हैं । चाहे सिद्ध हों, अथवा अरहंत हों, केवलज्ञान के द्वारा समस्त विश्व का स्पष्ट ज्ञान सबके रहता है । और सर्वोत्तम जो आत्मीय आनन्द है उस आनन्द से सम्पन्न सभी रहते हैं । ज्ञान और आनंद का विकास पूर्णतया अरहंत में है और सिद्ध में है । अरहंत भी अघातिया कर्ममलों के दूर होने पर सिद्ध ही तो होने वाले हैं । तो यों परमात्मा का अर्थ है ज्ञान और आनन्द का पूर्ण विकास ही तो परमात्मा है । यह जीव ज्ञानानन्दभावस्वरूप है । ज्ञान और आनन्द के भाव में अपने आपको निरखने से अपना दर्शन होता है और उसमें भी आनन्द को नहीं किन्तु ज्ञानस्वरूप को एक ही ज्ञान में लिया जाय तो आनन्द स्वयं व्यक्त होता है और आत्मा का वहाँ अनुभव जगता है, तो प्रभु ज्ञानानन्द के परिपूर्ण स्वामी हैं । सर्वज्ञदेव, परमात्मा, सकलपरमात्मा अभी शरीरसहित हैं लेकिन उनका शरीर परमौदारिक कहलाता है । धातु और उपधातु दोषों से रहित है । धातु कहलाते खून मांस मज्जा आदिक और उपधातु कहलाते हैं मल मूत्रादिक । इन धातु उपधातुओं से वे रहित हैं । ३४ अतिशय एवं ८ प्रातिहार्यों से सहित हैं और अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द, अनन्तशक्ति जिनके पूर्ण प्रकट हुई है ऐसे अरहंतदेव जिन्होंने मोहादिक सर्व दोषों का घात कर दिया है वे विशुद्ध आनन्दमय हैं । हम आप प्रभु की भक्ति क्यों करते? वे कोई हम आपके रिश्तेदार नहीं हैं, वे कोई हमारे लौकिक कामों में साथ देने वाले नहीं है, वे तो अपने स्वरूप में लीन हैं । हम आप भक्ति यों करते हैं कि यह स्वरूपलीनता ही तो पूर्ण वैभव है और उस ही स्थिति में हमारी पूर्णता, हमारा उत्कृष्ट विकास है और सत्य आनन्द इसी पद में है, यह बात हममें सम्भव हो सकती है । इस कारण हम प्रभु के

अनुरक्त हुआ करते हैं और अपना तन, मन,, धन, वचन सब कुछ न्योछावर करके भी हम प्रभुभक्ति का अपना कार्यक्रम बनाया करते हैं । ये प्रभु १३वें गुणस्थानवर्ती जीव कहलाते हैं, संयोग केवली जिनके केवलज्ञान हो गया, जो शरीररहित है, और योग भी जिनके अभी विद्यमान है, जिससे उनका विहार, दिव्यध्वनि ये सब क्रियायें चलती हैं, कुछ केवली ऐसे भी होते हैं कि जिनकी दिव्यध्वनि न भी हों वे चाहे सामान्यकेवली अरहंत हों, चाहे सिद्ध भगवान हों पर ज्ञान और आनन्द के विकास में कहीं भी अन्तर नहीं रहता है, अन्य केवलज्ञानी जिन्होंने समस्त अर्थों को जान लिया है वे सशरीर परमात्मा अरहंत कहलाते हैं, और जब शरीर से भी वियोग हो गया, केवल धर्मादिक द्रव्यों की तरह पूर्ण विशुद्धि प्रकट हो गई है और ज्ञानानन्द के परिपूर्ण विकास में तो थे ही, वे ज्ञानशरीरी सिद्ध भगवान कहलाते हैं । उनके शरीर में ज्ञान ही ज्ञान रह गया, बाह्य शरीर भी उनके साथ नहीं रहा । ऐसे सर्वोत्तम आनन्द से सहित सिद्ध भगवान, वह आत्मा की विशुद्धि की उत्कृष्ट अवस्था है ।

अध्यात्मसाधना का प्रयोजन—अध्यात्मसाधना या आत्मध्यान किसलिए किया जाता है, उसका फल है कभी न कभी ऐसी कैवल्य अवस्था प्रकट हो जाय । इसके लिए ही हमारे समस्त धर्मपालन हुआ करते हैं । हम आपकी उत्कृष्ट अवस्था सिद्ध अवस्था है, जो आज प्रकट नहीं हैं, मगर योग्यता है कि हम सिद्ध हो सकेंगे । वे जीव बड़े भाग्यवान हैं जिनके चित्त में यह बात आ जाती है कि मुझे तो सिद्ध होना है और मेरा कोई प्रोग्राम नहीं है । घर में रहते हों अथवा गृह त्याग करके भी जो जीव अपने आपके इस संकल्प में बने हुए हैं, जिनकी एक ही धुन है उनका अन्त: चारित्र उज्ज्वल रहता है। जितना भी जिनके चारित्र प्रकट हुआ, वे उतने साफ हैं, वे अंधेरे में नहीं हैं । उन्हें किसी गाँव से देश से कुछ प्रयोजन नहीं, शरीर तक से भी कुछ प्रयोजन नहीं, उनका प्रयोजन तो सिर्फ उनके इष्ट की सिद्धि है । तो अपने आपके स्वरूप का विशुद्ध हो जाना, केवल रह जाना, इस कैवल्य की प्राप्ति में इस जीव का सदा के लिए संकट मिट जाता है । संकट है जन्म मरण का । हम अपने जीवन में कितना राग द्वेष स्नेह बढ़ाते, हैं, लोगों को निरखकर अपने में कुछ अभिमान भी किया करते हैं । मैं क्या हूं? और नही तो इस पोजीशन का ख्याल तो सभी लोग करते हैं । मेरा पोजीशन कहीं खराब न हो जाय । चार आदमी यदि जान गए कि हमारा पोजीशन बिगड़ गया तो यह दु:खी होता है । अरे अगर दूसरे की अपेक्षा न करें, केवल आपको निरखकर ही सारे काम किया करें तो अनेक संकट तो उसके उसी समय मिट जाते हैं । अकेले की पोजीशन क्या बिगड़ती है? दूसरों की दृष्टि रखते हैं तो उसमें पोजीशन का बनना सुधरना समझा जाता है । अकेले को देखा तो उसमें ये विकल्प न रहेंगे । तो यह मैं केवल अकेला जैसा मैं हूँ सो ही होऊँ । मोह में आ करके दूसरों से सम्पर्क बनाकर मैं एक अपनी अंधेरी दुनिया में फिरता हुआ चक्र काटता रहा हूँ बस वह चक्कर मेरा मिट जाय और मैं केवल अपने आपमें ही रत रह सकूं, ऐसी मुझमें योग्यता बने, ऐसी अनुभूति रहे तो इसमें ही परम कल्याण है, और किसी भी जगह कल्याण नहीं है ।

कैवल्यसाधना में तत्त्वज्ञान का सहयोग—कैवल्य की साधना लिए चाहिए हमें तत्त्वज्ञान । पदार्थ का ज्ञान शुरू होता है उत्पादव्ययध्रौव्य स्वरूप समझने से । देखिये—यदि एक यह ही ज्ञान बन जाय कि प्रत्येक पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्य का स्वभाव रखता है, है ना कोई पदार्थ, जो है वह स्वभाव से उत्पन्न होता रहता है । विलीन होता रहता है और बना रहता है । सभी सत् पदार्थों की यही विशेषता है और इस स्वभाव के कारण यह बात प्रकट ज्ञान में आयगी कि प्रत्येक पदार्थ अपने आपके स्वरूप से बन रहे हैं, बिगड़ रहे हैं और बने हुए हैं । लो अब उस पदार्थ की किसी भी बात के लिए दूसरे की अपेक्षा क्या रही? यद्यपि विकारभाव परपदार्थ का निमित्त पाकर होते हैं, हों, निमित्त मिल गया, इतनी बात बन गई,

मगर परिणमन में तो अपेक्षा नहीं रखते, क्योंकि परिणमन होना वस्तु का स्वभाव है । और प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभाव से परिणमता रहता है, परिणमन में जो विशिष्टता आयी वह नैमित्तिक है, औपाधिक है, परभाव है, लेकिन कोई भी पदार्थ अपने परिणमन में अपेक्षा नहीं किया करता । दूसरे पदार्थ के सन्निधान में हो गया, निमित्त मिल गया, यह बन गई अपेक्षा, पर इस स्थिति में भी परिणमन उसकी परिणति से चल रहा है, परिणति के लिए कोई किसी अन्य की प्रतीक्षा नहीं करता । यहाँ हम आप समझाया करते हैं कि यह परिणयन सापेक्ष है । मतलब उसका यह है कि ये विभाव परिणमन पर उपाधिसन्निधान बिना नहीं हो सकते । यह नियम अकाट्य है, इसमें कोई दो बातें नहीं है, इतने पर भी परिणमने वाले पदार्थ अपनी ओर से स्वत: अपनी परिणति से परिणाम रहे हैं । हां सन्निधान ऐसा है कि वह इस तरह परिणम गया । प्रतीक्षा करने की बातें नहीं रही । जैसे कोई बालक चल रहा है, गिर रहा है, पड़ गया है, उठ गया है, सब कुछ कर रहा है पर उन सब स्थितियों में वह बालक ही अपने में कर रहा है । उसमें जैसी जब जमीन मिली ऊंची नीची जमीन मिली या कुछ भी कारण मिले उसके अनुसार वह गिर रहा, पड़ रहा, चल रहा, सब कुछ साधन बन रहे, तो निमित्त सन्निधान बीच-बीच में आ रहे, मगर यहाँ की धारा तो देखो वह अपने आपका अपने रूप से सब कुछ कर रहा है । तो जब वस्तु का उत्पादव्ययध्रौव्य समझ में आता है, प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप से उत्पन्न होता है, विलीन होता है और वना रहता है, तब एक पदार्थ का दूसरा पदार्थ लगा क्या? देखिये वस्तु का स्वातंत्र्य इसलिए समझा जाता है कि मोह हटे । और क्या प्रयोजन है? देखिये—है वस्तु स्वातंत्र्य तभी स्वातंत्र्य समझा जाता है ।

क्लेश और आनन्द का आधार मोहिता और निर्मोहता—मोह ही हम आपकी परेशानी का एक आधार है । मोह नहीं है तो कोई परेशानी नहीं है । मोह है तभी तो हम आप कितनी परेशानी में हैं? धनिकों के बड़े ऊँचे काम चल रहे हैं, देखने में तो बड़े आराम में रहते हुए दिखते हैं लेकिन भीतर में यदि मोह परिणाम है तो यहाँ सब बिगाड़ कर लिया । भीतर में जो आत्मा का विशुद्ध ज्ञान तत्त्व है वह तो बिगड़ गया । अब वहाँ शान्ति की कहाँ से आशा हो? और कोई पुरुष जंगल में रहता है, कपड़े भी नहीं हैं, खाने की भी कोई नीयत व्यवस्था नहीं है, जहाँ कोई साथी मनुष्य भी नजर नहीं आता, वह ज्ञानी पुरुष है तो उसे हम पूज्य शब्द से कहते हैं । ये साधु हैं, किन्तु स्थिति तो बन रही है बड़ी दरिद्रता की, न कोई साथी है, न कोई व्यवस्था है, जंगल में पड़े हैं, कंटकों पर पड़े हैं, कंकरीली जमीन पर पड़े हैं, पास में कोई चीज नहीं है लेकिन चित्त में किसी भी परपदार्थ का स्नेह नहीं है, मोह नहीं है । वे केवल अपने आपमें सहज अन्त: प्रकाशमान प्रभु की उपासना में लगे रहते हैं । ऐसी धुन वाले वे पुरुष बड़े सुखी हैं, बड़ा आनन्द पा रहे हैं, बड़े तृप्त हैं, यह अन्तर मोह होने और न होने का है । मोह न हो इसके लिए यह आवश्यक है कि हम प्रत्येक पदार्थ को स्वतंत्र जान लें । और, इसी धुन में यद्यपि विकार परिणाम निमित्त पाकर होते हैं, यह वहाँ अपेक्षा पड़ी हुई है लेकिन परिणमने वाला पदार्थ तो अकेला है, केवल है । उसका तो परिणमने का काम है । ऐसा अनुकूल निमित्त है उस रूप परिणम गया, जैसी व्यवस्था है उस रूप परिणम गया । उसे तो परिणमने का व्रत है । विशिष्टता जो विकारों की आती है वह उपाधि के सन्निधान से आती है । जब समझ लिया कि प्रत्येक पदार्थ स्वभाव से उत्पन्न होता है, विलीन होता है और शाश्वत रहा करता है, तब उसका किसी दूसरे से क्या लेनदेन, क्या सम्बंध? और, सम्बंध अगर मानते हैं तो यह सबसे बड़ा अंधेरा है, अज्ञान है ।

मोह में अवगत घटना की स्वप्नवत् असत्यता—स्वप्न में जो कुछ दिखता है क्या स्वप्न देखने वाला यह समझ रहा है कि यह झूठा है? झूठ नहीं मालूम होता, और इसी कारण अगर सुख की घटना का स्वप्न आता है तो हर्ष के मारे भीतर फूला रहता है और दु:खमयी घटना का स्वप्न आता है तो वह अन्दर रोता रहता है, यह उसकी स्थिति बराबर बनी हुई है

। तो स्वप्न के समय में जैसे कोई यह नहीं समझ सकता स्वप्न लेने वाला कि यह स्वप्न है, यह झूठ बात है, इसी प्रकार मोह की नींद में रहने वाले को यह प्रतीत नहीं होता कि यह तो झूठ है, व्यर्थ है । भले ही कभी झंझटों से ऊबकर ऐसा कोई कह डाले कि ये सब व्यर्थ की बातें हैं, किसका भाई, किसका लड़का, किसकी स्त्री, मगर यह द्वेषवश कहा जा रहा है । किसी अनुकूल बात को न पाकर गुस्से में कहा जा रहा है, वस्तुस्वरूप के ढंग से नहीं कहा जा रहा है । वस्तुस्वरूप की पद्धति से यदि यह समझ में आये कि मेरा कहीं कोई नहीं है, तो उसका कल्याण अवश्य होगा । लेकिन मोह की नींद में तो यह बात दिखती है कि यह सब सच है, मेरा ही तो लड़का है । मेरा ही तो भाई है, मेरा ही तो सब कुछ है । बस यही विपत्ति इस जीव पर है।

अन्तःकल्याणवृत्ति का साहस—इतना साहस बना ले यदि कोई कि आखिर फैसला तो होगा, मरण के बाद मेरा कुछ न रहेगा, मैं अकेला ही यहाँ से चला जाऊँगा । अकेले ही सब कुछ भोगना होगा, तो जो बात १०-२० वर्ष बाद बीतने को हो उस जैसी बात यदि अभी से सोचने लगें तो यह थोड़े समय के लिए तो कुछ किसी प्रकार रहा, मगर वह इतना फायदा पायगा कि सदा के लिए जन्म संकट उसके मिट जायेंगे, ऐसा मार्ग पा लेगा । तो हम अपने अन्त: कुछ ऐसा चिन्तन बनायें कि मेरा कहीं कुछ नहीं है, देह भी मेरा नहीं है । मैं तो अकेला चैतन्यस्वरूप हूँ, ज्ञानमात्र हूँ । यही मेरा प्रयत्न हो । मैं हूँ और मेरा व्यापार पुरुषार्थ इतना ही हो रहा कि मैं स्वभाव से उत्पन्न होता रहता हूँ, विलीन होता रहता हूं और सदा बना रहता हूँ । इतना ही तो मेरा काम है, यही मेरा अस्तित्व है; यही मेरा घर है, जिन प्रदेशों में मैं रहता हूँ वही मेरा घर है, वही मेरी पूरा दुनिया है, ऐसे अपने आपके स्वरूप पर दृष्टि पहुंचे तो मोह छूटेगा । मोह छूटेगा तो कल्याण होगा । मोह छूटेगा नहीं, तो जो अब तक संकट भोगते आये बस वही संकट रहा करेंगे । मनुष्यभव व्यर्थ ही पा लिया । न पाते मनुष्यभव तो चलो एक सुविधा तो थी कि दो हजार सागर प्रमाण त्रस के भवों में मनुष्य भव पाने की गिनती तो न बढ़ती । मानो इस बीच २४ भव पाये जाते और आज मनुष्य न होते, जैसे कि अधर्म की स्थिति में रह रहे तो कम से कम यह रहता कि इतने २४ भव तक हो सकने का हमें अधिकार है और मनुष्यभव पाया और व्यर्थ गया तो एक अधिकार तो एक नरभव का छूट गया । लाभ क्या मिला? तो लाभ है ज्ञान बढ़ाया जाय, वैराग्य का विकास किया जाय । मोह न रहे और अपने आपका जैसा केवल ज्ञानस्वरूप है उस स्वरूप से हमारी दृष्टि रहे

तो इसमें हमारा कल्याण है और बाहरी बातों में, चर्चा में, विवाद में, सम्पर्क में, पोजीशन में, किसी भी बात में इस आत्मा का कल्याण नहीं है ।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन चतुर्थ भाग

लोकानुप्रेक्षा के प्रकृत प्रकरण में आत्मपदार्थ की चर्चा—लोक में जितने पदार्थ है उनके वर्णन के प्रसङ्ग में आत्मपदार्थ का वर्णन चल रहा है । आत्मा तीन प्रकार के होते हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा । और, चौथी बात तत्त्व की समझने की यह है कि इन तीन प्रकार की पर्यायों में रहने वाला जो एक सामान्य आत्मतत्त्व है अर्थात् जिस आत्मतत्त्व की ये तीन प्रकार की दशायें बनती हैं, वह आत्मतत्त्व स्वरूपत: शाश्वत एकस्वरूप है, इस प्रकार की चार बातें माने बिना किसी भी बुद्धिमान दार्शनिक का काम नहीं चल पाता । जिसको कुछ दार्शनिकों ने जागृत दशा, सुषुप्ति दशा, अन्तःप्रज्ञ और ब्रह्म इन चार रूपों में कहा है । जागृत का अर्थ है जो जग रहा हो । व्यवहार में लौकिक कामों में दुनियावी बातों में जो जग रहा हो, वह उनका जागृत है अर्थात् बहिरात्म दशा । यद्यपि एकदम समझ में यह बात आती है कि जगने वाले की दशा अच्छी दशा कहना चाहिए, पर उनके मंतव्य में इस आत्मा का जगना, लगना, उपयोग करना ये सब निकृष्ट रूप है । तो जागृत दशा बहिरात्मा की दशा है । सुषुप्त दशा अन्तरात्मा की दशा है । जैसे कोई पुरुष सो गया तो अब वह व्यवहार के कामों में नहीं लग रहा, इसी तरह जो व्यावहारिक बातों में न लग रहा हो वह सुषुप्त अर्थात् ज्ञानी है । अन्तःप्रज्ञ वह है जिसका ज्ञानबल भीतर में बढ़ रहा हो । परमात्मदशा और ब्रह्म, जिसे चतुर्थपाद शब्द से भी कहा गया है वह एक ब्रह्मस्वरूप । तो इसी तरह आत्मा की ये चार स्थितियाँ बतायी गई हैं जिन में सामान्य स्थिति तो परिणति नहीं है किन्तु वस्तु का शाश्वतस्वरूप है । परिणतियां तीन हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा । अपने स्वरूप से बाहर वाली बात में आत्मा को तक रहा हो, देह को आत्मा मान रहा हो वह बहिरात्मा है, मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है, मोही है । और जो अन्त: की बात को अपने ही अन्त: स्वरूप से सहज शाश्वत स्वरूप को जो स्वीकार करता हो उसे कहते हैं अन्तरात्मा और जो परम आत्मा हुआ हो उसे कहते हैं परमात्मा ।

परमात्मत्वस्थिति—परमात्मा शब्द दो शब्दों के मेल से बना—परम व आत्मा । परम अर्थात् उत्कृष्ट आत्मा । परमात्मा शब्द ही इस बात को बता देता है कि यह आत्मा निकृष्ट दशा में था, उस निकृष्ट दशा से निकलकर जो उत्कृष्ट दशा में आया हो उसे परमात्मा कहते हैं । परमात्मा अरहंत और सिद्ध दो प्रकार के हैं—सशरीर और अशरीर । कोई भी सिद्ध जब अपने आत्मा में आत्मस्वरूप को निरखने का दृढ़तम अभ्यास बनाता है, अनुसंधान करता है तो उसके इस दृढ़तम प्रयोग से उपयोग की एकता हो जाती है । अब ज्ञान ज्ञान में समाया हुआ है ऐसी निर्विकल्प समाधि बनती है । यह समाधि जब उत्कृष्ट काल तक बन जाय तो वहाँ केवलज्ञान उत्पन्न होता है । केवलज्ञान होने पर साधु तो वही है ना, अभी शरीर है, भले ही केवलज्ञान होने से अतिशय हो जाता है शरीर में कि वह परमौदारिक शरीर हो गया अब धातु उपधातु की अपवित्रता नहीं रही । उनका शरीर स्फटिक मणि की तरह स्वच्छ हो जाता है । लेकिन वहाँ भी शरीर ही तो है । तो जब तक शरीरसहित अवस्था रहती है तब तक सशरीर परमात्मा कहलाते हैं । अब यह शरीर कब तक टिकेगा? कर्मबन्ध हो नहीं रहा । और कर्म, निर्जरा बराबर चल ही रही है तब कर्म का निकटकाल में ही अन्त आवेगा ही । तो जिस क्षण शेष बचे हुए अघातियाँ कर्मों का अन्त होगा उसके साथ ही शरीर समाप्त होगा । निष्कर्म दशा हो जाने से अब नये शरीर न मिलेंगे । सो अब वे अशरीर रह जाते हैं । अशरीर परमात्मा सिद्ध को कहते हैं ।

सांसारिक स्थितियों में उत्कृष्टता का अन्वेषण व आकांक्षण करने की व्यामोहमात्रता—जीवों के मन में यह आकांक्षा रहती है कि मैं सबसे ऊँचा बनूं और जिसे परिस्थिति में जितना ऊँचा बन सकने की सम्भावना होती है उसको यह अपनी धुन में लेता है कि मैं ऐसा होऊँ, मेरी इतनी बाधायें समाप्त हो जायें, ऐसी बात लोगों के चित्त में रहती है । जितना जिसने अपने को सम्भावना में आया हुआ उत्कृष्ट समझा है वह उतना उत्कृष्ट बनना चाहता है, लेकिन सांसारिक स्थितियों में इन बाहरी लौकिक समागमों में कौनसी स्थिति कौनसा समागम ऐसा है जिसे हम उत्कृष्ट कह सकें? मान लो बहुत धनिक हो गए तो वह क्या उत्कृष्ट स्थिति है? उपयोग में अशान्ति है । अनेक प्रकार की बाधायें हैं, उतना ही काम बढ़ गया है, केवल ख्याल मात्र का इतना मौज है कि जब पटिलक में पहुंचे तो लोग उसका सम्मान करते हैं । मगर यह सम्मान झूठा मायारूप है, इस जीव को पतन में ले जाने वाला है । ऐसे मायामयी, असार-कल्पित मौज को मानने के लिए इस जीवन को कितना संकटों में डाल लेते हैं? तो विशेष धनिक बनने में क्या सार? परिवार वाले बन गए, बहुत नाती पोते हो गए, परिजन बहुत बढ़ गए, उसमें भी क्या सार मिला? आकुलता, वेदना अधिक बढ़ गई । लोग तो यों सोचते हैं कि यह पुरुष बहुत वृद्ध हो गया है, इसने चार पाँच पीढ़ी तक के लोगों को देख लिया है, यह बहुत ही भाग्यशाली है । और उस बूढ़े के मरने पर लोग सोने की सीढ़ी बनवाते हैं यह सोचकर कि इसको स्वर्ग में चढ़ने पर यह सीढ़ी काम देगी, पर उन्हें यह पता नहीं कि सीढ़ी तो उतरने के काम भी आती है । जिस बूढ़े ने अपने चार पाँच पीढ़ी के लोगों में इतनी ममता रखी उसका क्या होगा? वह तो नरक जाने का पात्र है । तो सम्भव है कि वह सोने की सीढ़ी उसे नरक में जाने में काम देगी । तो यहाँ के इन सांसारिक समागमों में क्या सार रखा है ।

संसर्ग की असारता—खूब ध्यान से सोचो—ये पड़ोस के लोग या ये जान हर लोग मुझे अच्छा कह दें, इनकी दृष्टि में मैं भला जचूं ये सब विकल्प क्या हैं? यह सब व्यामोह हैं, व्यर्थ की बातें हैं । ये लोग क्या कोई ईश्वर हैं या भाग्य के विधाता हैं? अरे ये सब तो कर्मों के प्रेरे जन्म-मरण का चक्कर लगाने वाले, स्वयं अपना बोझ न सम्हाल सकने वाले हैं । और फिर कितनी बड़ी यह दुनिया, ३४३ घनराजू प्रमाण इस लोक में यह परिचित क्षेत्र स्वयंभूरमण समुद्र के एक बूँद की तरह है । और, फिर कितनासा यह जीवनकाल है, उस अनन्तकाल के सामने यह १००-५० वर्ष का जीवन कुछ गिनती भी रखता है क्या? तो इतने से समय के लिए क्या सोचना? यह सारा समागम यह परिचय असार है । यह सब परिचय समाप्त हो, जैसे कि मुझे किसी ने समझा ही न हो, परिचय ही कुछ न हो, हम जानते ही न हो । और वस्तुतः हम जानते नहीं, दर्शनशास्त्र की दृष्टि से, वस्तुस्वरूप की दृष्टि से हम सदा अपने आपको जान रहे हैं । जो मुझमें ज्ञेयाकार आते हैं, जितने विकल्प बनते हैं हम उनको ही जानते हैं, किसी दूसरे को जानते नहीं हैं । और, इस तरह मान लो उपचार से भी दूसरों का जानना सही, किन्तु पर का जानना तो कहलाया । तो वहाँ भी हम लोग पर्यायरूप में जान रहे । जो इस वास्तविक रूप है शाश्वतस्वरूप सहजभाव, उसका पारखी है यहाँ कौन ? और, यदि कोई पारखी हो तो वह इस दुनिया के परिचय से अपरिचित हो जायगा । तो मेरा यहाँ कौन है? किसको क्या दिखाना है? मैं स्वयं की दृष्टि में यदि ठीक बन गया, अपना शुद्ध शाश्वत केवल जैसा मेरा सहज स्वरूप है चैतन्यमात्र एक उसे अगर अपने उपयोग में लिया तो उसका भला है, कल्याण है, उसका सन्मार्ग स्पष्ट है और इतनी बात यदि अपने लिए न कर पाया तब क्या है? सब नौकरी ही है दूसरों की । जिन-जिन जीवों के पुण्य का उदय है उनके पुण्य के उदय में नौकरी करनी पड़ रही है, इसके आगे और कोई सारभूत बात कुछ नहीं है ।

कैवल्यभावना, प्रभुभक्ति व प्रभुस्वरूप—जीवन में सबसे बड़ा भारी करने योग्य काम यही है कि अपना ऐसा भाव बने

कि सब झंझट है, मुझे तो केवल बनना है । जो मैं हूँ वही रह जाऊं और मैं कुछ नहीं चाहता । यही प्रार्थना हो जिनेन्द्र भक्ति में, यही भीतर में भावना हो तत्त्वचिन्तन में कि हे प्रभो जैसे आप जो थे सो ही हो गए, केवल रह गए, यही बात मैं भी चाहता हूँ । मैं केवल रह जाऊँ, मेरा स्वरूप मेरे में है वही मात्र रहे, उसके आगे मैं और कोई सम्बन्ध नहीं चाहता, ऐसी भावना से जिसकी दृष्टि अन्त: जगी है उसे कहते हैं अन्तरात्मा और अन्तरात्मा होने का बल है ऐसा कि इस उपाय से वह परमात्मा बनेगा । परमात्मा की स्थिति कैसी होती है? वह केवल है, शुद्ध है, उसका विकास अनर्गल है, निरवधि है, निरुपाधि है । ज्ञान है तो इतना महान है कि कोई ज्ञेय नहीं बचा ज्ञान में आने से, क्योंकि जो जिसका स्वभाव है उसका विरोधी अगर न रहे तो वह पूर्ण विकसित रहेगा । आनन्द है प्रभु में तो ऐसा असीम है कि जिस आनन्द में कोई सीमा नहीं है, अलौकिक आनन्द है, पूर्ण निराकुलता है, उपयोग अब जरा भी विचलित नहीं है पूर्ण विशुद्ध है । केवल जानन-जानन का ही जहाँ काम हो रहा है । रागद्वेष इष्ट अनिष्ट का जहाँ रंच भी प्रसंग नहीं है । आखिर एक हो गया, वहाँ किसी से कुछ सम्बंध नहीं रहा, ऐसी उत्कृष्ट स्थिति है परमात्मा की ।

प्रभुमक्ति में भी कैवल्यचिन्तन का प्रकाश—धन्य हैं वे पुरुष जिनमें भगवद्भक्ति और आत्मा के कैवल्यचिन्तन की बात जगती रहती है । ये दो ही तो काम करने हैं । उसमें मुख्य काम तो कैवल्यचिन्तन है । मैं अपने स्वरूप में केवल हूँ, अपनी सत्ता से जो हूँ सो ही हूँ, उसे में दूसरे का प्रवेश नहीं है । कोई भी सत् दो सतों से मिलकर नहीं बनता । प्रत्येक सत् स्वतंत्र है अर्थात् अपनी सत्ता से ही निष्पन्न है, किसी दूसरे की सत्ता लेकर सत् नहीं हुआ करता । यदि मैं सत् नहीं होऊँ तो बड़ी अच्छी बात । फिर संकट ही क्यों रहें? असत् पर अभाव पर संकट तो नहीं छाये जा सकते हैं । अगर मैं नहीं हूँ यह बात सही निकल आये तो यह तो बड़ी खुशी की बात होगी, पर है कहां ऐसा? और खुशी भी मनायेगा कौन? मैं नहीं हूँ, ऐसा जो ख्याल करते हैं, तो हैं वे तभी तो ख्याल करते हैं । मैं हूँ और मेरा सत्व कभी नष्ट नहीं हो सकता, मुझे अनन्तकाल तक रहना ही पड़ेगा । प्रत्येक सत् अनन्तकाल तक रहता ही है । तो मैं रहूँ, और ऐसी परिस्थिति में रहूँ, कभी कीड़ा मकौड़ा बनूं, पशु पक्षी बनूँ, स्थावर बनूँ, मनुष्य बनूँ, कुछ भी देही बनता ही चला जाऊँ, किसी न किसी पर्याय वाला ही रहा करूँ, यहां संसार की बातों में, तो ऐसा रहने से फायदा क्या? बल्कि बरबादी ही है । अत: हे प्रभो ! मेरी बस यह अन्तरङ्ग में आकांक्षा है कि वह काल आये, वह परिणति आये जहाँ मैं केवल रह जाऊँ । मुझे इस देह से भी प्रयोजन नहीं । देह मिलता यह तो संकटों से भरा है । भूख प्यास, सर्दी गर्मी, चिन्ता शोक, इष्टवियोग अनिष्टसंयोग सम्मानअपमान आदिक के संकट ये सब इस देह के बल पर होते रहते हैं । इस देह को भी मैं नहीं चाहता ।

नरदेहस्थ आत्मा को शाश्वत देहविविक्त होने का उपाय बनाने के लिये वर्तमान अपूर्व अवसर—यद्यपि आज की ऐसी स्थिति है कि कोई कहे कि यदि देह को नहीं चाहते तो मर जाओ, आत्मघात कर लो, छुटकारा हो जायगा, मगर इस तरह से छुटकारा नहीं होता । मान लो इसी समय आप आत्मघात करके मर गए तो क्या अगले भव में फिर देह न मिलेगा? अरे आगे फिर नये देह में बंधना पड़ेगा और आज तो मनुष्य हैं, विवेक मिला है, बुद्धि मिली है, कुछ सोच समझ सकते हैं, तत्त्वचिंतन कर सकते हैं, कहीं मरण करके कीड़ा मकौड़ा के भवों में पहुंच गए तो-क्या हाल होगा? तो यह मनुष्यभव कितना पवित्र भव है कि जहाँ हम इतना विवेक बना सकते कि सारे संकट मेट सकते हैं । हमारे ज्ञान में वह बल है, हमारी दृष्टि में वह सामर्थ्य है कि एक क्षण में ही समस्त संकट मिट सकते हैं । अब लिए हुए हैं हम संस्कार वासना तो अब वह वासना जगती है, वह दृष्टि हमारी खतम हो जाती है, फिर वे ही संकट सामने आ जाते हैं, किन्तु सत्यदृष्टि में जो चमत्कार है वह सामने आ ही जाता है । सत्य दृष्टि यही है कि जैसा मे वास्तव में हूँ सही अपने आप

अपने ही सत्व के कारण वैसा मेरा उपयोग रहे, ऐसा उपयोग होने पर एक भी संकट नहीं रहता । यह कला कितनी सरल है, ज्ञानसाध्य है । ज्ञान ज्ञान में ही रहे रस में कोई बाधा न आये, बाधा आये तो सत्वर दूर कर दी जायें, इसके लिए कुछ संयम की आवश्यकता है जिससे कि हमारा वह ज्ञान ज्ञान बना रहे, ऐसे काम के लिए हमें इन्द्रिय और मन के विषय से विरक्त होना होगा । अनेक इच्छाओं का परिहार करके हमें अपने आपके स्वरूप की दृष्टि बनानी होगी । तो हमारी उस दृष्टि में यह बल है कि हम संकटों को तुरन्त हीं दूर कर लें । कितनी सुगम कला है, जानना है ज्ञान के द्वारा सही ढंग से, ईमानदारी से, केवल गप्पों में नहीं, किन्तु भीतर में रुचिपूर्वक इस ज्ञानस्वरूप को समझना है । इतना सुगम ज्ञान और इतनी सुगम कला और सारे संकट समाप्त हो जायें इतना महान फल, उस काम के करने के लिए उत्साह न जगे तो यह तो बहुत अज्ञान, मिथ्यात्व, महा आपत्ति समझ लीजिए, वास्तव में जीव पर यही है संकट।

परपरिणति को संकटरूप मानने की मिथ्या मान्यता—मोही जीव मानता है कि कुछ धन कम हो गया संकट आ गया, अरे वह संकट है ही नहीं, झूठ का ऊधम है । कोई मानता है कि मेरे परिजन का किसी का वियोग हो गया, या मेरा मित्र मेरे से पृथक् हो गया, लोग अब मेरे अनुकूल नहीं चल रहे, मेरी बात नहीं मान रहे, मेरा यश नहीं गा रहे, इसे संकट समझते हैं । अरे यह सब झूठ का ऊधम है, यह कोई संकट नहीं है । परपदार्थ हैं उनकी जो परिणति होती हो वह अपने में । कोई कुछ बोलता है, जो बोले सो बोले वह अपने में । कोई कुछ करता है करे वह अपने में । प्रत्येक पदार्थ का परिणमन उसका उसके स्वयं में हो रहा है । हो उससे मेरे में क्या है? मेरे में संकट बाह्य पदार्थों की परिणति वाला नहीं है, किन्तु मेरे में संकट अज्ञान का छाया हुआ है । जो हमें अपने आपके स्वरूप को नहीं समझ रहे हैं, उससे में उपयोग नहीं दे रहे हैं, यह संकट हम पर छाया । है, बाकी बातों को संकट न मानें । अगर अन्य स्थितियों को, संयोग वियोग को हम संकट समझनें लगें तो हमारा उपयोग यही फंसा रहेगा, हम अपना कल्याण न कर पायेंगे । इससे इन बातों को संकट जरा भी न मानें । जिन्दगी है, घर में रहते हैं इस वजह से कुछ इसकी ओर चित्त देना पड़ता है तो दें मगर वहाँ यह हठ न

बना दें कि इतने ही काम बनें, ऐसा ही काम बने तो हम निश्चित हो सकेंगे, अथवा हम धर्म के पात्र हो सकते हैं । अरे निश्चितता अभी ही आना चाहिये यहीं । कैसी ही स्थिति हो, अपने ज्ञानबल को संभालें, वस्तु के स्वरूप को निहारे, निश्चितता यहीं आना चाहिए । अगर यह निश्चितता नहीं आ सकती तो धर्म का पालन नहीं हो सकता । हम कैसी ही कठिन स्थितियों में हों जिन स्थितियों को दुनियावी लोग बड़ी कठिन स्थितियां कहते हैं, पर कठिन स्थिति यहाँ कुछ नहीं है । जो बात बीते उसी में यहाँ रहना पड़ता है । क्या अनेक दरिद्र लोगों का गुजारा नहीं चलता? अनेक प्रकार के अपमानित लोग क्या अपना जीवन नही रखते? सारी स्थितियां हैं, ये कोई संकट नहीं, यह कोई चिंता की बात नहीं । चिंता की बात यह बना लिया कि इस पर्याय के परिचय को सत्य मान लिया । ये सब मायामयी पर्यायें हैं । इनका तो इस ढंग का परिचय न होना ही भला था । इस परिचय से हमने नफा कुछ न पाया । तो इन बाहरी बातों से हम जरा भी संकट न मानें, अपने आपमें हमारा ज्ञान जागृत रहे, मैं अपने सत्य स्वरूप को समझता रहूं, इसके लिए उत्साह जगना चाहिए ।

वस्तुतः ज्ञानसाम्राज्य में बाह्य संयोग वियोग की अबाधकता—इस ज्ञानवार्ता को उत्पन्न होने देने में बाहरी संयोग वियोग बाधा नहीं करते। अन्यथा बतलाओ, घोर उपसर्गों में मुनियों को केवलज्ञान कैसे उत्पन्न हुआ? शेरनी प्राणघात कर रही है, स्याल खा रहे हैं, ईंधन में मुनिराज को बंद करके जला दिया गया, नदी में बहा दिया गया, शस्त्रों से छेदे जा रहे, आदि अनेक प्रकार के उपसर्ग किए जा रहे लेकिन उनका परम कल्याण हुआ । तो यहाँ का यह दुःख हमें धर्म में लगने से रोकता है क्या? यह प्राणी खुद ही मोह में समझता है कि ऐसा संकट है, हम धर्म क्या करें ? अरे संकट तो धर्म में और सहायक बन सकते हैं । बल्कि समागम या मौज के साधन हमारे धर्ममार्ग में सहायक नहीं बन सकते । तो इतना साहस जगाना चाहिए कि कुछ भी स्थितियाँ आयें, ये सब परपदार्थ की परिणतियां है, जो कुछ भी हो रहा है उससे मेरे को कोई नुक्सान नहीं है । मैं उनके बारे में जो अज्ञान भरा विचार बनाता हूँ, बस यही हमारी करतूत हमें दुःखी कर रही है । संकट है तो मुझ पर यह है, यह संकट छूटे तो मेरा कल्याण है । बाहरी बातों में सुधार बिगाड़ होने से मेरा कुछ कल्याण नहीं है । ऐसा जिसने अपने अन्तःस्वरूप का निर्णय किया है वह पुरुष इस ज्ञानबल परमात्मा होता है । परमात्मा का स्वरूप क्या है यह इस बात को "परम आत्मा" ये शब्द ही बता रहे हैं । तो इन शब्दों की व्युत्पत्ति पूछते हुए जिज्ञासु पूछ रहा है कि परम का अर्थ क्या और पर का अर्थ क्या, मा का अर्थ क्या और परमात्मा का अर्थ क्या? इसके उत्तर में कह रहे हैं ।

गाथा — १९९

णीसेस-कम्म-णासे अप्प-सहावेण जा समुप्पत्ती ।
कम्मज-भाव-खए वि य सा वि य पत्ती परा होदि ।।१९९।।

परमात्मा शब्द में प्रयुक्त परा शब्द के प्रकाश से परमात्मस्वरूप का प्रकाश—परमात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक लोग नाना विवाद खड़े करते हैं । कोई मानते हैं कि यह परमात्मा अनादि से ही कर्मों से मुक्त है, कोई कहते हैं कि यह सारे लोक की रचना किया करता है, कोई कहते हैं कि समय-समय पर परमात्मा अवतार लेता है, कोई कहते हैं कि यह एक परमात्मा सर्वजीवों के घट-घट में बसा हुआ है । इस तरह नाना प्रकार की कल्पनायें परमात्मा के सम्बन्ध में होता है, लेकिन भली प्रकार शब्द पर ध्यान दिया जाय तो परमात्मा इस पद में जितने शब्द हैं उनका जो अर्थ है सो यह शब्द ही

राही सही बतला देता है । अर्थात् इन शब्दों के सहारे से परमात्मा का सही स्वरूप जान लिया जा सकता है । परमात्मापद में ३ शब्द हैं—पर मा आत्मा, पर मायने उत्कृष्ट, मा मायने लक्ष्मी और आत्मा मायने निरन्तर जाननहार पदार्थ । तो इसका सीधा अथ यह हुआ कि उत्कृष्ट लक्ष्मी जहाँ प्रकट हुई है ऐसे जाननहार पदार्थ को परमात्मा कहते हैं । तो इन शब्दों में प्रथम पर शब्द की उपपत्ति की जाती है । समस्त कर्मों का नाश होने पर स्वभाव से जो समुपपत्ति होती है उसका नाम है परा । परमात्मा शब्द में ३ शब्द बताये गए हैं—पर मा आत्मा, इनमें पर तो विशेषण है, मा विशेष्य है अतएव अलग-अलग शब्द बनाते समय परा शब्द बोला जायगा क्योंकि मा शब्द स्त्रीलिङ्ग है तो उसका विशेषण रूप पर शब्द स्त्रीलिङ्ग होगा । जिसका समास बनता है —परा मा विद्यते यस्य सा परम:, अर्थात् उत्कृष्ट लक्ष्मी जहाँ विद्यमान हो उसे परम कहते हैं । लोग परम शब्द को अर्थ उत्कृष्ट करने लगे हैं, यह तो परम पदार्थ है, उत्कृष्ट है, अनोखा है आदि, किन्तु परम शब्द का अर्थ बन कैसे गया? उसकी उपपत्ति इस प्रकार है कि जहाँ अधिक शोभा हो, अतिशय हो, लक्ष्मी हो उसे परम कहा करते हैं । वह परा लक्ष्मी क्या है? जो समस्त कर्मों का नाश होने पर अपने आपके स्वभाव से उपपत्ति हो उसको परा कहा करते हैं । यही बात प्रत्येक पदार्थ में घटित करा लीजिए । प्रत्येक पदार्थ में अन्य बाधा संयोग का विनाश होने पर जो अपने आपके स्वभाव से बनती है बात वह है परा । यहाँ आत्मा की बात चल रही है । आत्मा में जो उत्कृष्ट बात आत्मा के स्वभाव से जगे, जो कि समस्त व्यापक कारणों के दूर होने पर जग सकती है उस परिणति को परा कहते हैं, अथवा कर्मजन्य भावों के क्षय होने पर जो उपपत्ति होती है उसका नाम है परा । कर्मजन्य भाव हैं रागद्वेष, मोह, विचार, विकार, इन सब भावों का विनाश होने पर आत्मा में जो बात स्वयं सहज बनती है उसका नाम है परा । ऐसी परा अर्थात् उत्कृष्ट अनुपम लक्ष्मी जहाँ हो उसे परम कहते हैं । ऐसा जो परम आत्मा है उसे परमात्मा कहते हैं ।

परमात्मस्वरूपचिन्तन में आत्मनिधि का प्रकाश—उक्त वर्णन से जब हम अपने आपके स्वरूप पर दृष्टि देते हैं तो यहाँ कितना ही वैभव नजर आता है? मेरे में इस स्वभाव से ऐसी अपूर्व विधि है, ऐसा अपूर्व चमत्कार बसा हुआ है कि जिसमें रंचमात्र भी आकुलता नहीं हो सकती । यदि हम इन सब बाहरी मायामयी विनश्वर असार अत्यन्त भिन्न पदार्थों का संसर्ग त्यागकर अपने उपयोग से इन समस्त बातों को भूलकर एक गुप्तरीति से ही अपने स्वरूप का स्पर्श करने चलेंगे, जहाँ पर अन्य कोई भी ख्याल न रहे, केवल अपने स्वरूप का अनुसंहरण हो, स्मरण हो, उपयोग में ज्ञानमात्र हो, केवल ज्ञानस्वरूप, केवल ज्योतिस्वरूप ऐसा अपने आपको मान मानकर अपने ज्ञान में जब केवल ज्ञानमात्र स्वरूप ही बस गया हो उस समय जो अनुभूति होती है वह अनुभूति बहुत से कर्मकलंकों का विनाश करती हुई उनका उपसंहार करती हुई प्रकट होती है । इसी कारण यदि इस अनुभूति को काली महाकाली दुर्गा आदिक शब्दों से कहा जाय तो यह कोई अर्थ विरुद्ध बात न होगी । काली का अर्थ है जो आत्मा को हित की प्रेरणा दे । कलयति प्रेरणति आत्मानं हिते इति काली, यह अनुभूति आत्महित में प्रेरणा देती है, प्रयोगरूप से लगा देती है, प्रयोगरूप से लगा देती है, यही अनुभूति महाकाली है, कलयति भक्षयति शत्रून् इति काली । जो रागादिक दोषों को अथवा द्रव्यकर्मों को नष्ट कर दे उसे कहते हैं महाकाली । वह यह अनुभूति ही तो है जिसकी लोग शक्ति देवता के रूप में आराधना किया करते हैं । वह शक्ति बाहर में है कहाँ? कहाँ उपयोग को बाहर में घुमाया जा रहा है और कहाँ अनेक भुजाओं वाले देवता की कल्पना करके चित्त को लगाया जा रहा है? वह महाशक्ति अपने आपमें स्वयं में है, इस ज्ञानानुभूति के प्रकट होते ही कितने ही कर्मकलंक नष्ट हो जाते हैं । इसको यदि अनुयोग पद्धति से विचारा जाय तो यह कहा जाता है कि अनन्त संसार नष्ट हो गया । जो अनन्त जन्म मरण की परम्परा को नष्ट करे ऐसी देवमयी शक्ति वह स्वानुभूति ही तो है । यही शक्ति बड़ी कठिनता से प्राप्त होती है । जगत में

की जाने वाली ये सब बातें बड़ी सुगम लग रही हैं । परिजनों का समागम होना, नाना देहों का मिलना, आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदिक संज्ञाओं का होना, पञ्चेन्द्रिय के विषयों का साधन मिलना आदि ये सब कितने सुलभ हो रहे हैं? किन्तु कठिनाई से प्राप्त की सकने वाली परिणति यह अनुभूति है स्वानुभूति ज्ञानानुभूति, आत्मानुभूति, इसी को ही दुर्गा कह सकते हैं । दुर्गा का अर्थ है—दुःखेन गम्यते प्राप्यते या सा दुर्गा, जो बड़ी कठिनाई से पाया जा सके उसका नाम दुर्गा है । कठिनता से पायी जा सकने वाली चीज है यह अनुभूति ।

काम भोग सम्पर्क की असारता व मोह में सुलभत्वमान्यता—ऋषिसंतों ने बताया है कि काम भोग सम्बन्धी कथायें इस जीव ने अनेक बार सुनी है, उनका परिचय अनेक बार हुआ है और उनकी अनुभूति भी अर्थात् आत्मस्वरूप रूप में उनका अवगम भी अनेक बार किया है, सो सारा जगत इसी चक्र में पड़ा हुआ है । और, कोल्हू के बैल की तरह यह समझ रहा है कि मैं सारा काम सीधा ही और नया-नया करता जा रहा हूँ । जैसे कोल्हू का बैल घूमता तो है उसी चक्र में, यदि उस बैल को यह पता हो जाय कि मैं इसी गोल दायरे में घूम रहा हूँ तो वह इसी ख्याल के बल से चक्कर खाकर गिर पड़ेगा । मालिक उसकी आंखों में पट्टी बाँध देता है और उस कोल्हू के बैल को चक्र से घुमाया करता है । उस बैल को यह पता रहता है कि मैं सीधा चल रहा हूँ और नई-नई जगह जा रहा हूँ, इसी तरह इस जीव के ज्ञान नेत्र पर मोह की पट्टी बँधी हुई है जिससे यह अंधा है । सो कर तो रहा है उन ६ विषयों का वही-वही काम, जैसे—स्पर्शन इन्द्रिय से स्पर्श का विषय करना, रसना इन्द्रिय से रसका विषय करना, बार इन्द्रिय से सुगंध दुर्गन्ध का विषय करना, चक्षु इन्द्रिय से अनेक प्रकार के रूपों का अवलोकन करना, कर्णइन्द्रिय से रागरागनी के मनोज्ञ अमनोज्ञ शब्द सुनना और मन के द्वारा यश अपयश, कीर्ति अकीर्ति, भोगोपभोग आदि के अनेक प्रकार के विचार बनाना आदि, सो ये सब काम यह कर तो रहा है अनादि काल से, पर यह समझ रहा है कि मैं ये काम रोज-रोज नये-नये कर रहा हूँ । ऋषि ज्ञानी संतों ने तो इन भोगों को उत्छृष्ट कहा है क्योंकि ये भोग बहुत-बहुत भोगे जा चुके हैं । जैसे कोई भोजन करे और उसे मुख से उगल कर फिर करना चाहे तो वह भोजन उच्छृष्ट भोजन करना कहलाता है । इसी तरह से ये इन समस्त भोगों को ऋषिजनों ने उच्छृष्ट बताया है ये भोग भोगे जाने लायक नहीं हैं । लेकिन जब ज्ञाननेत्र पर व्यामोह की पट्टी बंधी हुई हैं तो यह जीव समझता है कि मैं आज कोई नया ही भोग-भोग रहा हूँ कोई अपूर्व काम ही कर रहा हूँ । यों ये भोग अनादिकाल से इस जीव के लिए सुलभ हो रहे हैं । कर्म के योग से ये सब साधन मिल जाया करते हैं, और मिल क्या जाया करते हैं, इन विषयों से भरा हुआ ही तो यह संसार है । पुद्गल ही तो पड़े हुए हैं, पुद्गल का ही रूप है । यह जीव जहाँ पहुंचता है वहीं इसके भोग के साधन मौजूद हैं, अब इसमें पड़ा हुआ है अज्ञान तो उन भोग साधनों को यह भोगने के रूप में ग्रहण कर लेता है । यों जीव को ये सब काम भोग वाली कथायें सुलभ हो रही हैं, लेकिन अपने एकत्व विभक्त स्वरूप के दर्शन की बात कठिन लग रही है और कठिन होने का कारण यह है कि यह जीव कषाय भावों के कारण एकमेक बन रहा है, इसी कारण अपना स्वरूप तिरोहित हो गया । उसके दर्शन नहीं होते ।

स्वभावपरभावविवेक से सकल संकटों का विध्वंस—यदि यह जीव एक इतना ही काम करे, ऐसा निरखे कि मेरे में जो इस समय भाव बन रहे हैं, कषायें जग रही हैं, रागद्वेष की तरंगें उठ रही हैं ये मेरे स्वरूप नहीं हैं, विकार हैं, परभाव हैं, औपाधिक हैं, मेरे स्वभाव की बात नहीं है, इतना ही विवेक यदि जग जाय तो इस विवेक कृत्य का इतना महान फल होगा कि इस जीव के समस्त संकट समाप्त हो सकते हैं । धर्मपालन के लिए क्या काम करना है? उसका एक छोटे रूप में दिग्दर्शन कराया है कि विवेक करना है । विवेक के मायने है भेद विज्ञान । भेद कर देना यह मैं ज्ञानमात्र हूँ और ये

रागद्वेष, विचार विकार आदिक भाव ये विभाव हैं, परभाव हैं, औपाधिक हैं, मेरे से विपरीत है, अपवित्र है, विनश्वर हैं, इनसे मेरा पूरा न पड़ेगा, इनसे मेरा कल्याण नहीं है, बरबादी है । इतनी विवेक भर की बात निरखना है, इसके फल में फिर जो उत्साह जगेगा, प्रेरणामूलक संयम होगा वे सब अच्छे से अच्छे कार्य इसके होने लगेंगे । पर चाहिए इसको मूल में विवेक । बतलाओ इसमें क्या कठिनाई है? जिस जगह बैठे है, जिस स्थिति में पड़े हैं, जहाँ कहीं भी है, आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है, इसको तो कुछ न कुछ दृष्टि में लेने का स्वभाव पड़ा ही है । कुछ तो दृष्टि में आयगा । यदि माया को दृष्टि में न ले और कुछ क्षण सत्य बात को ही दृष्टि में ले तो कौन रोकता है? इसका क्या बिगाड़ है? इस पर कौन जबरदस्ती किए है? कोई शरीर पर जबरदस्ती भी करे, कोई मारे पीटे, बंधन में बाँध ले, कही से कहीं से कहीं पकड़कर कोई ले जाय ऐसी स्थिति में भी यदि यह जीव अपने आपके स्वरूप की दृष्टि करता है तो उस समय भी इसको दृष्टि से कौन रोक सकता है? कारागार में है, बंधन में बने हैं, वहाँ भी यह स्वतंत्रता का दर्शन करना चाहे तो वह अपने ज्ञान से स्वतंत्र है और उस समय में स्वतंत्रता की दृष्टि का अमूर्त दृष्टि का वह लाभ ले रहा है ।

दृष्टि के अनुकूल अनुभवन—भैया ! बाह्य स्थिति कैसी ही कहीं हो, स्वाद तो दृष्टि के अनुसार आयगा । जैसे कोई किसी मैले में पड़ा हुआ है, पर मिश्री की डली मुख में रखे हुए है तो वह तो मिश्री का ही स्वाद ले रहा है, और कोई पुरुष बड़ी साफ जगह में बैठा है, किन्तु कोई बड़ की चीज के मुख में रखे हुए है तो वह तो कड़वा ही स्वाद ले रहा है । तो कितना सुगम और कितना पवित्र शासन प्रभु ने बताया है कि भाई अपनी दृष्टि को निर्मल बनाओ । दृष्टि निर्मल बनाने में कितना ही समय गुजर जाय, लगाइये समय कितने ही प्रयत्न करने पड़े, करें प्रयत्न, और कितना ही बलिदान करना पड़े, करते जायें बलिदान, यहाँ तक कि यदि प्राण भी गंवाने पड़े तो गंवा दें, पर एक इस निर्मल दृष्टि को प्राप्त कर लीजिए तो इस निर्मल दृष्टि को प्राप्त करने का महत्व यह है कि संसार के सारे संकट इसके समाप्त हो जाते हैं । अपने को निरखना है, अपने को देखना है, कोई परतंत्रता नहीं, किसी की अपेक्षा नहीं इस काम में । जिसमें कि यह जीव अपने को बड़ा स्वाधीन समझता है । इतना वैभव हो जाय, तब ही हमें स्वतंत्रता रहेगी, समझता है स्वतंत्रता, मगर कितनी ही अपेक्षायें करनी पड़ती हैं, कितने ही लोगों का मुख तकना पड़ता है और कितने ही लोगों से व्यवहार रखना पड़ता है । क्या उन परिस्थितियों में इसको स्वतंत्रता है? स्वतंत्रता की बात खुद में खुद की दृष्टि में पड़ी हुई है । उसे तो यह जीव प्राप्त-करता नहीं और बाहरी उपक्रमों में इतने साधन बना लें तो स्वतंत्रता मिलेगी, ऐसा भ्रम रख करके बाहरी कामों में पुरुषार्थ किया जा रहा है, प्रयत्न किये जा रहे हैं । सो भाई विवेक करना है और वह विवेक यही कि यह समझ लेना है कि मैं यह हूँ और ये सब मायारूप हैं । विवेक कर लेना कोई कठिन बात नहीं ।

आत्मस्वभाव व विभाव में विवेक उपपन्न करने के लिये दर्पण के दृष्टान्त का प्रतिपादन—एक दर्पण में हाथ की छाया पड़ी है तो जहाँ छाया पड़ी है वहाँ दर्पण में अंधेरा है, वहाँ अब दूसरी चीज का प्रतिमास नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ तो अंधकार छा गया, उसी का नाम छाया है । जहाँ अंधकार छाया वही छाया है । तो अब दर्पण में जो छाया है बतलावो क्या वह दर्पण का निजी स्वरूप है? दर्पण में दर्पण के स्वभाव से वह बात जगी है क्या? यद्यपि उस छाया का आधार दर्पण है और दर्पण की स्वच्छता का ही यह चमत्कार है कि किसी बाह्यपदार्थ की छाया आ जाय । भींत, दरी, चौकी चटाई आदि में कहाँ उस तरह की छाया पड़ रही है? उनमें दर्पण जैसी स्वच्छता ही नहीं है । दर्पण में कैसा ही प्रतिबिम्ब आया सो वह यद्यपि दर्पण की स्वच्छता से गुण का ही अभिनन्दन कर रहा है कि देखो दर्पण में कैसी स्वच्छता है कि ऐसी छाया प्रकट हो जाती है । तो भले ही ऐसा कोई सूखा अभिनन्दन करे, लेकिन तथ्य यही समझना है कि दर्पण में ऐसी

छाया का हो जाना दर्पण का निजी स्वरूप नहीं है, स्वभाव नहीं है । यह छाया औपाधिक मायारूप है, विनश्वर है, नैमित्तिक है, इसकी जिन्दगी निमित्त के सद्भाव पर आलम्बित है, यह मेरे स्वरूप पर आलम्बित नहीं है । तो यों निरखने पर क्या यह नहीं जाना जा सकता कि दर्पण में छाया का आना दर्पण का स्वभाव नहीं है, किन्तु यह दर्पण में मायारूप है ।

आत्मस्वभाव व विभाव में विवेक व विवेक का महत्त्व—दर्पण में छाया व स्वच्छता का तथ्य निरखने की भांति खुद में भी निरखिये कि ये रागद्वेष मोहादिक विकार भाव जो प्रकट होते हैं तो यद्यपि कुछ थोड़ी स्वातंत्र्य की दृष्टि से निरखने पर यह ज्ञान होता है कि इस आत्मा में देखो ऐसी समझ है, इसमें ऐसी जानकारी की आदत है कि वहाँ रागद्वेष मोहादिक की तरंगें प्रकट हो जाती हैं । ये रागद्वेष मोह की तरंगें इन दरी, चटाई आदि में तो नहीं होती क्योंकि उनमें चेतना नहीं है, समझ नहीं है, मगर यह सूखा ही अभिनन्दन है । भीतर निरखें तो ये रागद्वेष मोहादिक विकार मेरे स्वरूप नहीं हैं, ये हममें हैं । इनका वर्तमान में आधार यद्यपि मैं हूँ, अन्य कोई अधिकरण नहीं है, मेरे परिणमन बन रहे हैं, लेकिन ये मेरे स्वरूप नहीं है, किसी भी वस्तु का स्वभाव उस वस्तु के विनाश के लिए नहीं हुआ करता । जो मेरा स्वभाव है वह मेरे विनाश के लिए न होगा, और ये विकार ये तो मेरी बरबादी के लिए हो रहे, ये मेरे स्वरूप नहीं, औपाधिक है, नैमित्तिक भाव हैं, इनसे निराला मैं केवल चेतना मात्र हूँ, यह विवेक बने तो अनेक संकट, अनेक कलुषतायें, अनेक कर्म कलंक तुरन्त ही ध्वस्त हो जाते हैं, ऐसी अपने आपमें विभूति का दर्शन परमात्मस्वभाव में प्रयुक्त परा शब्द की व्याख्या के अवसर में अपने आपको प्राप्त होता है ।

गाथा — २००

जइ पुण सुद्धसहावा सव्वे जीवा अणाइकालेवि ।
तो तव चरणविहाणं सव्वेसिं विप्फलं होदि ।।२००।।

परमात्मा की अन्तरङ्ग लक्ष्मी के वर्णन से आत्मा के शुद्ध स्वभाव का स्मरण—परमात्मा शब्द का अर्थ किया जा रहा था, पर अर्थात् उत्कृष्ट लक्ष्मी जिसमें हो उसे परम कहते हैं । आत्मा की उत्कृष्ट लक्ष्मी बहिरङ्ग में तो समवशरण आदिक है, और अन्तरङ्ग में केवलज्ञानादिक है । तो प्रभु अरहंत जिनेन्द्रदेव बहिरङ्ग लक्ष्मी से भी युक्त हैं और अन्तरङ्ग लक्ष्मी से भी युक्त हैं । समवशरणादिक को बहिरङ्ग लक्ष्मी यों कहा गया कि समवशरण जैसी शोभा और अमूल्य पदार्थों की लक्ष्मी अन्यत्र नहीं हो सकती । और न किसी मनुष्य के द्वारा सम्भव है, वह देवकृत रचना है, अनोखे ढंग की रचना है, ऐसी रचना भगवान जिनेन्द्र के सान्निध्य के कारण होती है । वे देवगण भी प्रभु के सान्निध्य बिना ऐसी रचना नहीं किया करते । इस कारण इस शोभा को भगवान जिनेन्द्रदेव की बहिरङ्ग लक्ष्मी कहा है । अन्तरङ्ग लक्ष्मी है केवलज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति, ऐसी अन्तरंग और बहिरंग लक्ष्मी से शोभायमान परमात्मा होता है । परमात्मा शब्द की व्युत्पत्ति से यह सिद्ध होता है कि प्रभु उत्कृष्ट होते हैं, वे अन्य संसारी जीवों से अपनी एक विशेषता रखते हैं, निरन्तर ज्ञानमय और आनन्दमय अपनी अनुभूति करते रहते हैं । उनका यह शुद्ध परिणमन स्वयं से हुआ है । इससे शुद्ध स्वभाव का परिचय मिलता है ।

शुद्धस्वभाव वाले जीवों को तपश्चरणादि करने के उपदेश की निष्फलता का प्रश्न—अब इस समय एक जिज्ञासु यह जानना चाहता है कि सभी जीव अनादि से ही शुद्ध स्वभाव वाले हैं क्या ? मानना तो पड़ेगा कि सभी जीव ऐसा ही शुद्ध स्वभाव रखते हैं लेकिन शुद्ध स्वभाव का एकान्त कर लेने पर एक शंका यह होती है कि जीव यदि ऐसा शुद्ध स्वभाव वाला है सो स्वभाव तो अनादिकाल से होता है अत: इसका अर्थ है, कि जीव अनादिकाल से शुद्ध स्वभाव वाला है । तो जब जीव अनादिकाल से ही शुद्ध स्वभाव वाले सिद्ध हो गए याने कर्ममलकलंक उनके नहीं है । शुद्ध-बुद्ध एक ज्ञानदर्शन स्वभावमात्र हैं तो ऐसे शुद्ध स्वभाव वाले जीव जब अनादि से हीं हैं तब फिर आचरण तपश्चरण ध्यान अध्ययन परीषहसहन आदिक का जो विधान बताया है शास्त्रों में, फिर वह निष्फल हो जायगा । तपश्चरण से क्या प्रयोजन ? जीव, तो शुद्ध स्वभाव वाला है, कर्ममलकलंक से रहित है । वर्णन भी तो शास्त्रों में ऐसा किया गया है कि जीव कर्ममलकलंक से रहित है, परद्रव्य का इसमें प्रवेश नहीं है । यह स्वयं अपनी सत्ता से सत् है । तो इस वर्णन से भी यह सिद्ध होता है कि जीव शुद्ध है । तब उस शुद्ध जीव को यह उपदेश क्यों दिया जाता है कि संयम करो, तपश्चरण करो, ध्यान करो, अध्ययन करो, दान आदिक करो । वह तो शुद्ध है ही । उसको कोई आपत्ति ही नहीं है, फिर कैसे आपत्ति आदिक को दूर करने के लिए तपश्चरण आदिक बनाये जाते हैं ? एक यह जिज्ञासा हुई । इसी जिज्ञासा से सम्बंधित आगे की गाथा में द्वितीय प्रश्न चलेगा ।

गाथा — २०१

ता किहे गिण्हदि देहं णाणाकम्माणि ता कहं कुणदि ।

सुहिदा वि य णाणारूपा कहं होदि ।।२०१।।

शुद्ध स्वभाव वाले जीवों के बन्धन, देहग्रहण व पर्यायवैचित्र्य की असंभवता का प्रश्न—यदि यह जीव शुद्ध स्वभाव वाला है तब यह बतलाओ कि यह ऐसे अपवित्र शरीर को कैसे ग्रहण कर लेता कि यह औदारिक शरीर जहाँ मल मूत्र हड्डी खून आदिक घृणित पदार्थ हैं । इस घृणित पदार्थमय शरीर को ग्रहण कैसे कर ले ? क्यों ग्रहण करता है ? करना ही कैसे पड़ेगा ? शुद्ध होने पर या मानने पर जीव इस शरीर को ग्रहण नहीं कर सकता । क्योंकि जब जीवों का अनादि से ही शुद्धस्वभाव है तो उस स्वभाव से क्या शरीर ग्रहण बन सकता है ? कभी नहीं बन सकता । और, भी सुनो—यदि सभी जीव कर्ममलकलंक से रहित हैं, शुद्ध हैं तो फिर ये नाना प्रकार की जो क्रियायें दिखने में आती हैं, गमन हुआ, आना हुआ, सो गया, भोजन किया, बैठ गया या व्यापार लेखन आदिक जो क्रियायें देखी जाती हैं या ज्ञानावरण आदिक कर्मों का जो बंधन बताया है वह इन सब बातों को कैसे कर सकेगा, क्योंकि जीव शुद्ध है । इस शुद्ध स्वभाव में यह योग नहीं बनता कि वह किन्हीं क्रियाओं को कर सके या कर्मों को बाँध सके । और, यह भी शंका होती है कि जीव यदि शुद्ध स्वभाव वाला है तो फिर इसके ये नानारूप कैसे बन गए ? कोई सुखी है दु:खी है, कोई अमीर है गरीब है, कोई बड़ी सवारियों पर चलता, कोई नंगे पैरों पैदल चलता, किसी को बड़ा सम्मान मिलता है किसी का बड़ा अपमान होता है आदिक नानारूप जो ये दिख रहे हैं ये रूप कैसे बन जायेंगे ? जीव शुद्ध स्वभावी यदि है तो उसके ये सब रूप नहीं बन सकते, किन्तु देखा जा रहा है कि कोई जीव पशु है, पक्षी है, मनुष्य है, सुखी है, दु:खी है, अनेक क्रियायें करते हैं तो ये सब बातें कैसे सम्भव हैं ? ऐसा एक जिज्ञासु ने प्रश्न किया । उसके उत्तर में कहते हैं ।

गाथा — २०२

सव्वे कम्मविवद्धा संसरमाणा अणाइकालम्हि ।
पच्छा तोडिय बंधं सिद्धा सुद्धा धुवा होंति ।।२०२।।

अनादि से कर्मनिबद्ध एवं संसरमाण जीवों की बंधध्वंस होने पर सिद्धि और शुद्धि का प्रकाश—सर्व जीव अनादिकाल से कर्मनिबद्ध हैं, संसार में घूम रहे हैं । बाद में कर्मों को तोड़कर बन्धन को तोड़कर यह जीव शुद्ध सिद्ध हुआ करता है । शुद्ध क्या कहलाता है ? इस सम्बन्ध में दो दृष्टियों से समझना है—द्रव्यदृष्टि से और पर्यायदृष्टि से । द्रव्यदृष्टि से तो शुद्ध होने का अर्थ यह है कि प्रत्येक द्रव्य अपने आपके स्वरूप से सत् है । किसी दूसरे पदार्थ से मिलकर सत् नहीं बनता । उसमें किसी दूसरे पदार्थ का संसर्ग नहीं है । प्रत्येक पदार्थ अपने ही सत्व से सत् है । द्रव्यदृष्टि का इतना अर्थ है । जैसे कि हम स्थूल रूप से आँखों देखते हैं कि अनेक पदार्थ हैं और वे अत्यन्त भिन्न-भिन्न हैं, उनमें एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ से संसर्ग नहीं है यह मोटे रूप में देखते हैं । वस्तुत: यहाँ प्रत्येक अणु सत् है किसी भी सत् पदार्थ में किसी अन्य सत् पदार्थ का मेल नहीं है, तादात्म्य नहीं है, प्रवेश नहीं है । अपने ही सत्त्व से प्रत्येक पदार्थ सत् है । तो यों पर से निराला और अपने आपके स्वरूप से तन्मय निरखने को द्रव्यशुद्धि कहते हैं । पर्यायशुद्धि का अर्थ है कि पदार्थ में किसी प्रकार की औपाधिक अशुद्धि न रहे । अशुद्धि सब औपाधिक हुआ करती है । जैसे जीव में कर्म का बन्ध है, शरीर का संसर्ग है, सुख-दु:ख होते हैं, नाना क्रियायें होती हैं, अनेक भवों में गमन होता है, ये सब अशुद्धियाँ हैं । इन परमाणुओं में स्कंधरूप बन जाना, अनेक प्रकार के परिणमन होना ये अशुद्धियाँ हैं । ये पर्यायें, ये अशुद्धियां न रहें, पदार्थ अपने स्वरूप से स्वयं जैसा है उसही प्रकार से व्यक्त हो जाय उसे कहते हैं पर्याय से शुद्ध । अब तीसरी बात यह समझिये कि पर्याय से शुद्ध

कोई पदार्थ हो जाता है तो वहाँ यह-यह मानना पड़ेगा कि ऐसा शुद्ध होने का स्वभाव उसमें पड़ा है । जिसको हम शुद्ध द्रव्यदृष्टि से ज्ञात कर रहे हैं । उक्त विवरण से यहाँ यह निर्णय करना है । तो यों द्रव्यशुद्धि और पर्यायशुद्धि की बात कही है ।

द्रव्यशुद्धि, पर्यायशुद्धि व स्वभावशुद्धि—द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक ये दो नये विभाग हैं । अब हम जिस दृष्टि से निरखेंगे उस दृष्टि का हमें उत्तर मिलेगा । पर्यायदृष्टि से देखने पर तो यह मैं अशुद्ध आत्मा हूँ, पर द्रव्यदृष्टि से यदि हम इसे निरखें तो द्रव्यदृष्टि की शुद्धि का अर्थ यह है कि प्रत्येक पदार्थ परद्रव्य से विविक्त व स्वद्रव्य में अविभक्त है । तो द्रव्यदृष्टि से जैसा शुद्ध देखा जाता है उस तरह का शुद्ध अब भी सब पदार्थ हैं । याने द्रव्यदृष्टि से यह निरखना है कि किसी दूसरे सत् का मेल होकर सत् नहीं बना । और, यह त्रिकाल न्याय की बात है कि प्रत्येक पदार्थ अपने ही सत् से सत् है, दूसरे सत् से मिल करके सत् नहीं बना । अब उसमें द्रव्यशुद्धि व पर्यायशुद्धि के अतिरिक्त स्वभावशुद्धि की बात सुनिये । स्वभावशुद्धि इन दो के बीच की बात है । उस द्रव्य में ऐसा सत् होने का स्वभाव पड़ा हुआ है । तो स्वभाव स्वभावरूप हुआ करता है । जैसे गर्म जल में भी अगर पूछा जाय कि इस जल में ठंडा होने का स्वभाव है कि नहीं ? तो कहना पड़ेगा कि गर्म होने पर भी आखिर जल में जल का स्वभाव तो ठंडा है, तो कोई कहे कि कहाँ व्यक्त है ठंडापन ? तो स्वभाव स्वभावरूप में व्यक्त रहा करे यह नियम नहीं है । इसी को पर्याय अशुद्धि कहते हैं—स्वभाव है जैसा वैसा प्रकट नहीं हो पाना, उससे भिन्न प्रकार से प्रकट हो रहा तो यहाँ जीव को पर्यायदृष्टि से निरखने पर यह अनादिकाल से अशुद्ध है और स्वभावदृष्टि से निरखें तो जीव में स्वभाव शुद्धता का है, पर प्रकट नहीं है, और द्रव्यदृष्टि से शुद्ध को निरखते हैं तो उसका तो केवल इतना ही अर्थ है कि अन्य पदार्थों का मिलकर एक द्रव्य सत् नहीं हुआ है, किन्तु यह अपने स्वरूप से ही सत् है दूसरे के स्वरूपसे सत् नहीं है । जैसे कहते हैं स्वचतुष्टय से सत् होना, पर चतुष्टय से असत् होना बस इतना ही अर्थ द्रव्यशुद्धि का है । पर्यायशुद्धि का अर्थ है कि पर्याय उस प्रकार से व्यक्त हो गई जैसे पदार्थ का निरपेक्ष स्वरूप है । और, उसमें जो शक्ति स्वभाव है उस शक्ति स्वभाव का अर्थ है कि इस द्रव्य में अपने आपके सत् रूप बने रहने की शक्ति है और ऐसे ही यह व्यक्त बने, ऐसा इसमें स्वभाव है । तो फलित, अर्थ यह है कि हम यद्यपि शुद्ध चैतन्य स्वभाववान हैं, लेकिन परिणति हमारी मलिन है, हम कर्मों से बद्ध, संसार में रुलते हैं और यहाँ कर्मबन्धन है । जब कोई जीव अपने इस कर्मबन्धन को तोड़ देता है और इस कर्ममलकलंक से रहित होता है तो यह शुद्ध होता है । इस कारण यह जानना चाहिए कि जीव का स्वभावशुद्धता का होनेपर भी परिणति अनादि से ही इसकी मलिन चली आ रही है इस कारण तपश्चरण संयम आदिक उपायों से इस जीव को शुद्ध होना चाहिए, तब ही सदा के लिए संसारसंकटों से यह जीव मुक्ति पा सकता है ।

शुद्धस्वभाव होने पर ही जीव की अनादिबद्धता और विचित्रता—जितने जगत में जीव हैं वे सब अपने में ऐसा तो जानते ही हैं कि मैं हूँ । मैं जीव हूँ तो जो मैं जीव हूँ उस जीव में जीव का ही स्वरूप है । दूसरी चीज का स्वरूप नहीं है । जब जीव में जीव का ही स्वरूप है तो इसके मायने यह हैं कि जीव का स्वभाव शुद्ध है । अगर जीव में किसी अन्य चीज का स्वरूप आ जाय तो जीव न रहा । जीव है ज्ञानमय, जानता रहे, तो जानन का जिसका स्वभाव है ऐसा जीव अपने शुद्ध स्वभाव में रहता है, लेकिन आज देखो तो कोई जीव शुद्ध नहीं नजर आता । जीव पर्याय में बंधे हैं, शरीर से बँधे हैं, कर्म का बन्धन है । कोई सुखी है, कोई दुःखी है । नाना प्रकार की इन जीवों की हालत हो रही है । और ये सब दुःखी भी हो रहे हैं तो व्यर्थ ही कल्पनायें करके दुःखी हो रहे हैं । कोई धनिक है तो वह भी चैन में नहीं, धन बढ़ाने की ही धुन बनी रहती है, शान्ति नहीं मिल पाती, परिणाम यह होता है कि वे धनिक भी आराम से नहीं रह पाते, क्योंकि

तृष्णा लगी है । निर्धन भी इस बात को सोचकर दुःखी रहता है कि मेरे पास धन नहीं है । वह निरन्तर परपदार्थों की चाह बनाये रहता है इससे दुःखी रहा करते हैं । ये परपदार्थ तो अत्यन्त भिन्न चीज हैं इनकी चाह से इस जीव को कुछ लाभ भी नहीं है । पर इन परपदार्थों को चाह कर यह जीव अपने सिर पर दुःख लादे फिरता है । और इसी से यह इतना बड़ा कर्मबन्धन बंध गया है ।

कर्मबंधन से मुक्ति का उपाय सम्यग्दर्शन सम्यज्ञान सम्यक्चारित्र का लाभ—हम आप कोई ऐसा उपाय बनायें कि जिससे चलकर इस कर्मबन्धन से छुटकारा प्राप्त हो जाय । तो मूल उपाय यह है कि पहिले यह जान लें कि मैं इतना जीव हूँ, यह देह मेरा नहीं है, यह वैभव मेरा नहीं है, मैं सर्व से निराला हूँ । आखिर वह समय भी तो आना है कि इस देह को छोड़कर जाना पड़ेगा । यहाँ का सब कुछ छूट जायेगा । यदि यहाँ की कुछ भी चीज मेरी होती तो मेरे साथ जाती । मैं तो केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञान ही मेरा वैभव है, ज्ञान ही मेरा प्राण है, वही मेरा सर्वस्व है । इसके आगे मेरा कुछ नहीं है । यहाँ तो अज्ञानी जीवों ने बाह्य में अपनी इज्जत मानकर अपने को दुख में डाल रखा है । यह जीव तो ऐसी भावना बनाये कि में तो इस देह से भी निराला हूँ, देह भी मेरा स्वरूप नहीं है । जब ऐसे अकेले स्वरूप को देखा जायेगा तो कुछ ध्यान बनेगा, मन के विकल्प जो यहाँ वहाँ दौड़ते हैं वे समाप्त होंगे । जब हम अपने स्वरूप को निहारें तो वह हुआ सम्यग्दर्शन और अपने स्वरूप को जानेंगे तो वह हुआ सम्यग्ज्ञान और रागद्वेष न करके अपने स्वरूप को जानते रहेंगे तो यही हुआ सम्यक्चारित्र । संकटों से छूटने का उपाय सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है । तो जब यह मनुष्य सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र में अपना कदम रखता है, तपश्चरण करता है, निःसंगता में तृप्त रहता है तो समस्त बंधों को तोड़कर फिर यह जीव सिद्ध बनता है और वहाँ अनन्तकाल तक शुद्ध आनन्द में रहता है । जन्म जरा मरण जो महान कठिन बाधा में हैं उनसे सदा के लिए मुक्त हो जाता है । अब सिद्ध भगवान जन्म न लेंगे । जन्म लेते हैं संसारो मोही प्राणी अथवा कर्मबंधन से बँधे हुए प्राणी । सिद्ध भगवान कर्मों से रहित हैं, वे जन्म जरा मरण आदि रोगों से परे हो गए हैं । तो देखिये आनन्द कहाँ मिला है ? वह आनन्द मिला है केवल रहने में । यहाँ तो कोई अकेला रहना ही नहीं चाहता, लेकिन उस आनन्द को प्राप्त करने के लिए वैसा ही अकेला बनना पड़ेगा । ऐसा अकेला कि अपने में इन विचारों को, इन विकारों को साथ न रखकर केवल ज्योतिमात्र ज्ञानस्वरूप निरखना होगा । इसी उपाय से मुक्ति प्राप्त हो सकेगी अन्यथा संसार के जन्म मरण ही करने पड़ेंगे । तो निर्णय इस गाथा में यह किया है कि सभी जीव अनादिकाल से कर्मबन्धन में बंधे हैं, जन्म मरण की परम्परा में पड़े हुए घोर दुःख

सह रहे हैं । सिद्ध भगवान भी ऐसे विकट बन्धन को तोड़कर सिद्ध हुए हैं और सदा के लिए शुद्ध अनुभूति में विराजमान हैं । अब यह जिज्ञासा होती है कि वह बन्धन क्या कहलाता और मूल में उसका बन्ध किस प्रकार है जिससे यह जीव बद्ध होता है ।

गाथा — २०३

जो अण्णोण्ण-पवेसो जीव-पएसाण कम्म खंधाणं ।
सव्व-बंधाण वि लओ सो बंधो होदि जीवस्स ।।२०३।।

जीव के बन्धन का वर्णन—जीव के प्रदेशों का और कर्मस्कंधों का जो परस्पर प्रवेश है उसका नाम बन्धन है । मूल बन्धन यही है कि ये जीव और कर्म (दोनों) परस्पर बंध गए । यद्यपि स्वरूप को देखो तो कर्म में कर्म है जीव में जीव है मगर परस्पर ऐसा निमित्तनैमित्तिकसम्बंध है कि वहाँ जीव बन्धन में बद्ध है और परतंत्र है । जैसे गाय को गिरमा से बाँध दिया जाता है तो गला और गिरमा का परस्पर में बन्धन नहीं है किन्तु, गिरमा का एक छोर से दूसरे छोर का बन्धन है । मगर ऐसा निमित्तनैमित्तक सम्बंध है कि वह गाय उस गिरमा से ऐसा बंध गई कि कहीं जा नहीं सकती । तो इसी तरह यहाँ यद्यपि यह जीव अनादिकाल से अपना ही स्वरूप रख रहा लेकिन ऐसा बद्ध चला आ रहा है कि जीव रागद्वेषादि परिणाम करता है तो उसके निमित्त से कर्म बँधते हैं, कर्मों का उदय आता है, तब वह जीव रागद्वेषी होता है । यह जीव अमूर्त है और कर्म भी इतने सूक्ष्म हैं कि जिन्हें अमूर्त की तरह समझ लीजिए । अमूर्त तो नहीं हैं, उनमें रूप, रस, गंध, स्पर्श हैं, किन्तु इतने सूक्ष्म हैं कि प्रतिघातरहित हैं । उनका जो बन्धन होता है तो जीव के सर्वप्रदेशों में उनका प्रवेश है बन्धन है, मगर स्वरूप में प्रवेश नहीं है । एक क्षेत्रावगाह तो हो गए कि जीव के उन असंख्यात प्रदेशों में उन अनन्तानन्त कर्मपरमाणुओं का प्रवेश है और वे कर्म कर्मरूप से आये हुए हैं और उनका यही बन्धन है, पर इसको यदि वस्तुरूप से देखें तो जीव में किसी अन्य का प्रवेश नहीं, अन्य में जीव का कुछ प्रवेश नहीं, एकक्षेत्रावगाह की दृष्टि का प्रवेश है, मगर पर के सत्व के बल का सत्त्व नहीं है, याने परपदार्थ का उसमें सत्व मिलाकर जीव को सत् बताना यह मूढ़ता पूर्ण प्रलाप है । जीव सत् है, अपने आपमें उसका सत्व है, पर अनादि से ऐसा बन्धन है कि जीव के प्रदेश और कर्मपरमाणु इनका परस्पर प्रवेश है, एकक्षेत्रावगाह है और वहाँ जीव का बन्धन होता है ।

प्रत्येक जीव के असंख्यात प्रदेश और उनमें अनन्तकार्माणवर्गणावों का बन्धन—जीव के प्रदेश कितने हैं ? सूत्रों में बताया है कि असंख्यात प्रदेश हैं । असंख्यात प्रदेश का यह अर्थ है कि कदाचित् जीव फैल जाय सारे लोक में तो फैल सकता है । और लोक में हैं असंख्यातप्रदेश । असंख्याते प्रदेश असंख्याते तरह के हैं, पर उत्कृष्ट प्रमाण जितने लोकाकाश के प्रदेश हैं उतने प्रदेश बराबर हैं । वैसे तो यदि एक अंगुल जगह को भी नापा जाय तो उसमें असंख्याते प्रदेश कहे जायेंगे । एक सूई के द्वारा कागज पर गढ़ा बने तो जितनी जगह में वह गढ़ा बना है वहाँ भी असंख्याते प्रदेश हैं, एक प्रदेश की जगह को कोई नहीं निहार सकता संख्याते प्रदेश की जगह को कोई बता नहीं सकता है । यह सारा भारत देश असंख्यातप्रदेशी है । और सारा तीन लोक यह भी असंख्यात प्रदेश में है । जब अरहंत भगवान आयु के अन्त से पहिले समुद्घात करते हैं तो उनके जीव प्रदेश तीन लोक में वातवलयों में सब जगह व्याप जाते हैं, तो जीव का परिमाण कितना बड़ा है ? यदि वह प्रदेश से फैले तो लोकाकाश के बराबर है, लेकिन यह फैला हुआ नहीं है । अनादि से ही यह देहप्रमाण है । जो शरीर मिला है उस शरीर के बराबर ही यह जीव है । जैसे आज जो मनुष्य शरीर है तो उतना जीव इस शरीर के बराबर है, न कम है न अधिक है, और मरण करके किसी अन्य गति में गया, वहाँ जो देह मिला उस देह

के बराबर हो गया । जब यह मनुष्य पैदा हुआ था तब जो शरीर मिला उसही प्रमाण था यह । जैसे ही इस जीव का शरीर बढ़ा वैसे ही जीव के प्रदेशों का भी फैलाव हुआ । तो संसार में सर्वजीवों के प्रदेश देह के बराबर विस्तृत हैं और जब यह मनुष्य मुक्त होता है तो जिस देह से मुक्त होता है । मुक्त होने पर इस जीव के प्रदेश के न तो फैलने का कारण रहा, और न संकोच का कारण रहा, संकोच और विस्तार ये कर्मोदय का निमित्त पाकर होते थे, जब कर्म न रहे तो ऐसी स्थिति में जीव ने आयु के क्षय से देह को तो छोड़ दिया, लेकिन जिस आकार में रहते हुए इस देह को छोड़ा गया है उतना ही आकार उस सिद्ध का रहता है । तो उतना आकार रहा । उसका कारण यह है कि जो था सो ही रहा । जीव के प्रदेश अधिक फैले तो ये कर्म के सम्बंध बिना होगा, जीव के प्रदेश सिकुड़ जायें तो यह भी कर्म के सम्बंध बिना न होगा, क्योंकि संकोच और विस्तार का कारण कर्मोदय है । जैसे नोकर्म, जैसे कार्माणशरीर, जैसा जब उदय आता है उस प्रमाण इस जीव के प्रदेश हुआ करते हैं । तो अनन्त आत्माओं में प्रति एकात्मा के सर्वप्रदेशों में अनेक पुद्गल स्कंधों का प्रवेश है ।

अनन्त जीवों में प्रत्येक जीव में अखण्डता और असंख्यातप्रदेशिता का कथन—कोई लोग मानते हैं कि केवल एक ही जीव है और वह सारी दुनिया में फैला है, पर ऐसा अनुभव नहीं बैठता । तो हम आपका जो अनुभव है वह यह बताता है कि हममें सुख होता है, उतने में ही सुख होता है जितने कि देह में हम बसे हुए हैं । यहाँ यह सुख का अनुभव है, यदि जीव एक होता तो जब सुखी होता तो सर्व जगह रहने वाला जो जीव है याने अन्य देहों में रहने वाला जो जीव है उसे भी अब उसी सुख से सुखी हो जाना चाहिए, क्योंकि एक पदार्थ में यह भेद न बन पायेगा कि एक चीज का एक हिस्सा और भांति परिणमे और दूसरा हिस्सा और भाँति परिणमें । अगर ऐसा कहीं देखा जाता हो तो कहा जाना चाहिए कि वह एक चीज नहीं है । जैसे काठ एक तरफ जल रहा है बाकी तरफ नहीं जल रहा है तो समझना चाहिए कि वह काठ एक नहीं है, अनन्त परमाणुओं का स्कंध है । एक पदार्थ उतना होता है कि जो भी परिणमन हो तो पूरे में होना पड़े, एक के आधे में परिणमन हो या विरुद्ध परिणमन हो ऐसा नहीं होता । जो कुछ चीजें हम आपको दिखती हैं वे वास्तव में एक नहीं हैं और तभी इसके टुकड़े हो जाते । एक का कभी टुकड़ा नहीं होता । जैसे यहाँ काठ के टुकड़े हो जाते हैं, सींक वगैरह तोड़ दी जाती हैं, इनका भाग हो जाता है तो ये एक चीज नहीं हैं । उनमें अनेक स्कंध हैं तो कोई अलग हो गया कोई कहीं पड़ गया । एक पदार्थ हो तो उसके हिस्से नहीं हो सकते । यदि जीव को माने एक और सर्वव्यापक तो वहाँ यह दोष आयेगा कि उस जीव के एक प्रदेश में जो परिणमन हो तो वही परिणमन सब जीवों में होना चाहिए । तो सभी जीव एक साथ एक सुख से सुखी हों और एक साथ एक दुःख से दुःखी हों, ऐसी बात बनें तब तो मानें कि एक जीव है, लेकिन ये भिन्न-भिन्न अनुभव हो रहे, इस कारण से यह अनुभव होता है कि जीव एक नहीं है किन्तु अनन्त है । उन अनन्त जीवों में से एक-एक जीव की चर्चा चल रही है कि प्रत्येक जीव अखण्ड और असंख्यातप्रदेशी है ।

कर्मों में प्रकृति स्थिति आदि का बन्ध—इस जीव में कर्म का बन्ध है, कर्मबन्धन है, जब रागद्वेष मोह का परिणाम होता है तो यही पड़ा हुआ जो कार्माण स्कंध है वहु कर्मरूप बन जाता है । उनमें यह प्रकृति का बंध हो जाता कि इस प्रकृति वाले कर्म के विपाक से जीव अज्ञानी बन गया, इस प्रकृति वाले कर्म के उदय से जीव सुखी दुःखी बन गया । उनमें ऐसी स्थिति पड़ जाती है कि बँधे हुए ये कर्म बहुत नियत दिनों तक इस जीव के साथ रहेंगे । और जब इनके खिरने का समय होगा, स्थिति पूरी हो जायेगी तो अमुक प्रकार का फल देकर अर्थात् उनके उदय में जीव इस प्रकार परिणम जायेगा और वे कर्म खिर जायेंगे । उनसे ऐसे अनुभाग पड़ते हैं । उनमें ऐसा बटवारा हो जाता कि अमुक प्रकृति वाले कर्म इतनी संख्या में होंगे और अमुक प्रकृति वाले कर्म इतनी संख्या में होंगे । यों चार प्रकार का बन्धन इस जीव

के हो जाता है । जीव हैं अनन्त । यहीं देख लो किसी जगह अगर कीड़ी निकल आती हैं तो कितनी बड़ी संख्या में निकलती हैं, या कभी मक्खी अथवा टिड्डियों को देखा होगा, कितनी बड़ी संख्या में निकल पड़ती हैं, यह तो त्रस जीवों की बात है । जब बड़े-बड़े जीवों की संख्या भी नहीं बतायी जा सकती तो फिर उन छोटे-छोटे जीवों की तो बात ही क्या कहना ? इस शरीर के अन्दर असंख्यात जीव भरे हैं, और भी त्रस जीव हैं, जिन्हें रक्त अणु, मांस अणु आदिक कहते हैं, ऐसे भी बहुत से जीव पाये जाते हैं, और निगोद जीव तो अनन्त हैं ही । ऐसे जीवों की संख्या नहीं की जा सकती । इनमें प्रत्येक जीव के प्रदेश असंख्यात हैं । और एक-एक प्रदेश में कर्म प्रदेश बहुत से भरे हुए हैं ।

जीव के अपने भावों पर अपने भविष्य की निर्भरता—यहाँ इस बात का निर्णय करना कि भविष्य हम अपना अपने आप बना लेते हैं। जैसे हम कर्म करते हैं वैसा हमको फल प्राप्त होता है । हम खोटे कर्म करें और उससे भले फल की आशा रखें तो यह नहीं हो सकता । खोटे कर्म करेंगे तो खोटा फल पायेंगे, अच्छे कर्म करेंगे तो अच्छा फल पायेंगे, यह व्यवस्था जीव और कर्म के सम्बन्ध में अपने आप बनी हुई है । ऐसा नहीं है कि कोई अलग जज हो और वह हमारा फैसला करे, हमको सुखी-दुःखी करे । इसमें तो वह गल्ती भी खा सकेगा, पर जहा ऐसा प्राकृतिक सम्बन्ध है कि हम जैसा भाव करते हैं वैसा ही कर्मबन्ध होता है और जैसे कर्म का उदय होता है वैसा ही जीव को सुखी अथवा दु:खी होना पड़ता है । यह एक प्राकृतिक बात हो गई । यह एक निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध वाली बात हो गई । जैसे घड़ी ठीक है, चाबी भरी है तो उसे देखें अथवा न देखें वह चलती रहेगी, उसके चलने में कोई फर्क नहीं आता, वहाँ निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध ही ऐसा है, तो ऐसे ही समझिये कि यहाँ जीव और कर्म का ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि जब जीव रागद्वेष परिणाम करता है तब कर्मबन्ध होता है । जब कर्मोदय होता तो जीव में रागद्वेषादिक होते । होते हैं प्रत्येक जीव में, उनके अपने परिणमन से, कर्म में भी जो कुछ होना है होता है, मेरे परिणमन से परपदार्थ में एक निमित्तनैमित्तिक भाव है, यह सब व्यवस्था प्रकृत्या बनी हुई है । तो इस तरह आत्मा में प्रवेश प्रदेश का बन्ध है और वह बन्ध घन है । जैसे कि लोहे का मुदगर या गोला हो तो वह अपने में घन है, बीच में कोई जगह खाली नहीं रहती है इसी प्रकार इस जीव प्रदेश में कर्म का बन्ध घन है, यहाँ कोई प्रदेश घिरा नहीं रहता, तो ऐसा दृढ़ जीव के साथ बन्धन लगा है, सर्वप्रदेशों में अनन्तानन्त कर्म परमाणुओं का बन्धन है, और यह बंध परम्परा अनादिकाल से

चली आ रही है ।

हम आप पर वास्तविक संकट और उससे छूटने के उपाय के सम्बन्ध में विचार—हम आप पर कोई संकट है तो यही है कि कर्मबन्धन है, देह का बन्धन है, जन्म मरण करना पड़ता है, बस यही संकट है । ये कोई संकट की बात नहीं है कि धन कम हो गया, कोई इज्जत नहीं है, कोई लोग अपमानजनक वचन बोल रहे हैं आदि, इन्हें तो विवेकपूर्वक सह लेना चाहिए । इनमें अधीर न होवें और उपाय ऐसा बनायें कि कर्मों से हमारा छुटकारा हो, जन्म मरण का चक्र मिटे । अगर यह उपाय हम बना सके तो इतना उत्कृष्ट कुल पाना, मनुष्यभव पाना, श्रेष्ठ बनना आदि सब सार्थक हो जायेंगे, और एक कर्मबन्धन से छूटने का उपाय न बना सके तो कितने ही धन का ढेर हो जाय, यह क्या साथ दे देगा? कितने ही परिजन हो जायें तो क्या ये मददगार हो जायेंगे ? ये सब वैभव पर हैं, ये सब परिजन पर है, ये सब प्राप्त समागम पर है; इन समस्त परपदार्थों से इस जीव का कुछ भी प्रयोजन नहीं है । आत्मा का प्रयोजन तो इसमें है कि सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र को पूर्ण बनाये, अपने आपको निहारें, अपने आपका स्वरूप समझें, अपने में गुप्त हो जाये, ऐसा उपाय बनायें । बाहरी पदार्थों में हर्षविषाद न हो ऐसी उदारता आये तो इससे ही इस आत्मा को शान्ति का मार्ग मिलेगा और जीवन सफल हो जायेगा । एक यही काम यदि न कर सके तो इस मानवजीवन के पाने का कुछ भी लाभ न उठाया जा सका ।

गाथा — २०४

उत्तम-गुणाण धामं सव्व-सव्वाण उत्तमं दव्वं ।
तच्चाण परम तच्चं जीवं जाणेह णिच्छयदे ।।२०४।।

जीव की उत्तमगुणाधाररूपता—उत्तम गुणों का घर यह जीव है । पदार्थ अनेक हैं और प्रत्येक पदार्थ में अनन्त गुण होते हैं । जैसे पुद्गल हैं, जो दिख रहे हैं उनमें जो एक-एक परमाणु हैं उनमें रूप रस गंध स्पर्श आदिक अनेक गुण हैं किन्तु उन गुणों की महिमा जीव हित में नहीं है और जीव में ज्ञान दर्शन चारित्र आदिक अनन्त गुण है, तो इन गुणों की बड़ी महिमा है । कारण यह है कि जीव जानने वाला है इसलिए लोक में जितने भी पदार्थ हैं सभी पदार्थों में प्रमुख द्रव्य जीव है । जीव न हो तो यह पता कैसे लगे कि लोक में क्या-क्या है? है जो कुछ है सो है । और देखिये यदि जीव न होता गे ये सब जो किवाड़ भींत, चौकी, दरी आदिक पदार्थ दिख रहे हैं ये भी न होते । जैसे यह जो काठ है तो आखिर पहिले वृक्ष था, तभी तो यह काठ बना । यह वृक्ष की सकल कैसे बनी? वहाँ जब जीव आया और जीव ने आहरण किया तो उसका रूप बना, वृक्ष बना । ये जो ईंट भींट आदिक दिख रहे हैं ये पृथ्वी जीव ही तो थे । जो-जो भी चीजें यहाँ दिख रही हैं वे सब इस जीव के सम्बन्ध से ही बनी हैं । यदि यह जीव न होता तो ये कोई भी चीजें न होती । सर्व जगत शून्य होता । तो सर्वजीवों में जीव पदार्थ की इतनी बड़ी महिमा है, अन्त: देखिये कि जितने भी लोग क्लेश मान रहे हैं वे सब इस अज्ञान से हैं, तो ऐसी स्थितियां कि जिनको आज के लोग कहते हैं कि कैसे छोड़ा जाय, कच्ची गृहस्थी है, क्या करेंगे ये बच्चे लोग? कैसे होगा घर का काम पर पुराने ऋषि संतों को देखो जब वे विरक्त हुए तो सब कुछ छोड़कर चल दिए । सुकौशल स्वामी की स्त्री के पहिला ही गर्भ था, पर जब उन्हें वैराग्य हुआ तो छोड़ छाड़कर चल दिए । लोगों ने बहुत समझाया कि अभी कच्ची गृहस्थी है, संतान हो जाने दीजिए, उसका राज्य अभिषेक कर दीजिए, परन्तु उन्होंने एक भी न सुनी । इस जीव को जब ज्ञानज्योति जगती है तो फिर वहाँ अदया नहीं कह सकते । दया और अदया का प्रश्न

तो वहाँ है, जहाँ कषाय है, जहाँ केवलज्ञान है और यह जान भी लिया गया कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, वे अपने उत्पाद व्यय ध्रौव्य से परिणमते रहते हैं, उनका कोई दूसरा रचने वाला नहीं है । तो जब यों सम्यक् ज्ञान का उदय आयेगा तो वहाँ अदा का कोई क्षण अवसर नहीं । जान लिया कि मैं मैं हूँ, पर पर है, मेरा भविष्य मेरे पर ही निर्भर है, सत्यज्ञान हो गया, विरक्त हो गए ।

बाह्य व्यवसाय की अनर्थकता—लोग तो सोचते हैं कि खूब धन कमाओ, किसलिए? तो वहाँ दो उत्तर मिलते हैं एक तो यह कि इस लोक से मेरी इज्जत बढ़ेगी, जहाँ जायेंगे समाज में अग्रस्थान मिलेगा, मेरी पूछताछ होगी, दूसरा उत्तर यह होगा कि हमारे लड़के लोग सुखपूर्वक रहेंगे । दोनो के उत्तर की बात सोचें कि जिन लोगों में हम इज्जत चाहते हैं वे लोग हैं क्या? संसारी प्राणी, जन्म मरण के प्रेरे, महादु:खी लोग हैं और उनमें मैं अपनेलिए कोई पोजीशन चाहूं तो यह अज्ञान है । यहाँ किसको पोजीशन रही?

चक्रवर्ती जब छह खण्ड पर विजय प्राप्त करमे वृषभाचल पर्वत पर आता है अपना नाम खोदने के लिए तो उसको जगह नहीं मिलती । उसे विवश होकर किसी नाम को वहाँ से हटाकर उस जगह अपना नाम लिखता पड़ता है, ४०-५० कोश का वह विस्तार है पर कहीं अपना नाम खोदने के लिए उस चक्रवर्ती को जगह नहीं मिलती। तो देखिये न जाने कितने ही चक्रवर्ती हो गए, पर सभी को यहाँ का सब कुछ छोड़कर जाना पड़ा । तो यह सांसारिक इज्जत पोजीशन कुछ सारभूत चीज नहीं है । हम यदि अपने आत्मा का सही स्वरूप का ज्ञानानुभव कर लेते हैं निर्विकल्प बुद्धि से गुप्त होकर, बाहर से किसी में भी कुछ अपनी बात न जताने का भाव रखकर यदि भीतर वह अपने ज्ञानस्वरूप को देखकर उसमें मग्न होकर एक बार भी अनुभव कर लें, जिसे स्वानुभव कहते हैं, सम्यग्दर्शन कहते हैं, वह अनुभव अगर प्राप्त हो तो सच्चा मार्ग उसे मिलेगा और वह जानेगा कि आनन्द का उपाय यहीं अपने अन्दर है । बाहर में आनन्द का उपाय नहीं है । जिन्होंने यह जान लिया उनको मोह उत्पन्न नहीं होता । दूसरी बात घर में जितने भी कुटुम्बी जन हैं वे सब जीव ठीक उतने ही जुदे है जितने कि जगत के अनन्त जीव । खूब तर्क-पूर्वक विचार लीजिए । जब सत्ता न्यारी-न्यारी है, प्रत्येक जीव अपने ही भाग्य से जन्म मरण करता है, सुखी दुःखी होता है, मेरी व्यवस्था मेरे ही साथ है, उसका सत्व उस ही में है, उसका कोई गुण मेरे में नहीं है । तो अपने से भिन्न जैसे जगत के अनन्त जीव हैं उसी प्रकार भिन्न ये घर में बसे हुए जीव हैं । इनका उदय है । कोई चाहे कि हम इन बच्चों का ऐसा साधन बना जायें कि ये सदा सुखी रहें तो जीवनभर बड़ा श्रम करके अपना जीवन बिताया, पर होगा वैसा जैसा कि उनका उदय है । तो आप कुछ भी काम कर लें, पर परिजनों का जैसा उदय है उसके अनुसार चीजें प्राप्त होंगी । अगर परिजनों का उदय अनुकूल नहीं है तो चाहो आप कितना ही कुछ जोड़कर धर जायें, सब निकल जायगा ।

सागारजीवन में सही योजना—आपकी जो योजना अभी तक चल रही है वह कोई सही योजना नहीं है । जैन धर्म में यह बताया है कि गृहस्थजनों का कर्तव्य है कि वें न्यायनीति से धनोपार्जन करें, उसमें उदयानुसार जो भी आय हो उसमें व्यवस्था बना लें । आय का कुछ भाग गृहस्थी के खर्च के लिए, कुछ भाग धार्मिक कार्यों के लिए, कुछ भाग परोपकार के लिए, कुछ बचत के लिए, यों विभाग बनाकर धन का उपयोग करें । जब जैसी स्थिति हो उसी माफिक उसका विभाजन करके अपनी व्यवस्था बना लें । स्थिति कैसी भी आये उसमें घबड़ाये नहीं । कभी यह आकांक्षा न रखें कि हमारे पास इतना धन हो जाये तव हम स्वतंत्र होकर धर्मपालन में लग जायेंगे । अरे इस धर्मपालन के कार्य को अभी से करने लगना चाहिए, क्योंकि जब आपकी पूर्व में चाही हुई स्थिति आ भी जायेगी तो वहाँ आपके और ढंग के विकल्प बन जायेंगे, वहाँ

भी आप अपने को फंसा हुआ अनुभव करेंगे और धर्मपालन में लगने का काल और भी लम्बा होता जायगा । इस धर्मपालन के कार्य को फिर कभी कर भी न सकेंगे । देखिये-अनेक घटनायें सुनने में आती हैं कि चलते फिरते अचानक ही किसी का मरण हो गया । तो ऐसी स्थिति में अपना कर्तव्य यह है कि अपने आत्मा की सुध लें । अपने आपकी सम्हाल करें, अपनी सम्हाल अगर बन जायगी तो बाहरी बातें अनायास बन जायेंगी । जब तक संसार में हैं तब तक स्थितियाँ अच्छी मिलेंगी । एक अपने आपकी सम्हाल न हो पायी तो बाहरी स्थितियाँ भी ठीक न रहेंगी और अपना भविष्य भी ठीक न रहेगा, इस कारण सम्यक्त्व लाभ पर आचार्य संतों का प्रमुख अनुरोध रहा कि किसी भी प्रकार इस सम्यक्त्व की प्राप्ति हो ।

सम्यक्त्वलाभ का परिचय और महत्त्व—सम्यक प्राप्त हुआ या नहीं इसको यदि जानना है तो अपने अनुभव से जान भी सकते हैं । हमको किसी भी समय क्या ऐसी स्थिति आयी, क्या कभी ऐसी ज्ञानानुभूति हुई कि जहाँ किसी भी परपदार्थ का विकल्प न हो और ज्ञान में ज्ञान समा गया हो? केवल ज्ञान ज्योति ही ज्ञान में आयी हो, ऐसी अनुभूति हुई हो कभी जो एक अनुपम आनन्द को उत्पन्न करता हुआ होती है, तो समझिये कि हमें सम्यक्त्व का लाभ हुआ है । अपने आपके ज्ञानस्वरूप की अनुभूति पा लेना यह सबसे बड़ा भारी काम है । अनेक मुनिराज ऐसे हुए हैं जिनको उनके जमाने में कोई जाने वाला भी न था, लेकिन वे भी सिद्ध हुए हैं और सिद्ध होने पर उनका ज्ञान, उनका आनन्द वैसा ही है जैसा कि बड़े-बड़े प्रसिद्ध पुरुष आदिनाथ जैसे तीर्थंकर सिद्ध हुए हैं, तो जगत में कोई मुझे समझे, पूछे, जाने, ये सब विकल्प तो इस अज्ञान की नींव पर होते हैं । पवित्र जैन शासन को पाकर असली कमाई यह करना है कि हम अपने आपमें एक बार भी बाहरी पदार्थों का ख्याल तजकर, निर्विकल्प रहकर ज्ञानस्वरूप की अनुभूति को प्राप्त करें । यह काम जताने से नहीं होता, यह काम दिखाने से नहीं होता । जहाँ भी हों, अपने आप पर यदि दया हुई हो कि ये जन्ममरण तो संसार के झंझट हैं और हमें इस जन्म मरण से छुटकारा बनाने के उपाय में ही लाभ हैं । यदि ऐसी करुणा और रुचि जगी हो तब तो सम्यक्त्व का उपाय बन सकता है अन्यथा नहीं । तो आप यह निर्णय कर लें कि ये बाहरी समागम मेरे कब तक साथी हैं? क्या अब भी साथी हैं? क्या मेरे को सुख शान्ति के साधन हैं या आकुलता के साधन हैं या विकार के साधन हैं? यह ही निर्णय करके देख लो । यदि यह बात सत्य समझ में आये कि सर्व जीव अजीव यहाँ तक कि यह देह भी मेरे स्वरूप से अलग चीज है और इसके लगाव में मेरे को शान्ति नहीं सन्मार्ग नहीं है । यदि ऐसा निर्णय बने तो चाहे आप विशेष न कर सकें पर कोई समय आप उपेक्षा करके अपनी उस निर्विकल्प ज्ञानस्वरूप अनुभूति को पा सकते हैं । हैं । वह अनुभूति यदि मिले तब तो समझिये कि हमारा यह मनुष्यभव पाना सार्थक है । और वह अनुभूति अगर न मिली तो जैसे अनेक भव पाये, मरण किया, जन्म लिया, बस उसी परम्परा में यह भव भी पाया, जन्म लिया, मरण किया मगर हाथ कुछ न लगेगा । एक अपने इस जीवतत्त्व को देखें, अपने अन्त: वैभव को देखें कि मेरे में वास्तविक विभूति क्या बसी हुई है? अनुपम प्रतिभासमात्र, ज्ञान ज्योति स्वरूप, जिसकी उपमा देने के लिए जगत में कोई पदार्थ न मिलेगा। आप आकाश का उदाहरण दे सकेंगे क्या? यद्यपि आकाश अनन्तप्रदेशी है लेकिन वह अचेतन है । जितना यह आकाश है यह सब तो इस चेतन के एक कोने में पड़ा रहता है । जब ज्ञान का विकास होता है तो तीन लोक और तीन काल के सर्वपदार्थ इसके ज्ञान में समाये रहते हैं ।

जीव की सर्वद्रव्यों में साररूपता—यह जीव उत्तम गुणों का घर है । सर्वद्रव्यों में उत्कृष्ट यह जीवतत्त्व है । जहाँ समयसार की व्याख्या की है तो वहाँ अर्थ बताया है कि समय नाम हैं सर्व पदार्थों का । समय में दो शब्द हैं—सम और

अय् । अय् के मायने हैं प्राप्त होना । जो अपने गुण पर्यायों को प्राप्त करे उसको समय कहते हैं । तो समय मायने-चीज, वस्तु, पदार्थ । तो समय ६ प्रकार के हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । और, इन सब समयों में मायने सर्वपदार्थों में सारभूत पदार्थ है जीव । तो समय नाम जीव का भी है । जो एक साथ सर्व गुण पर्यायों को जाने उसे समय कहते हैं । तो इन सब पदार्थों में श्रेष्ठ है जीव, और इस जीव में भी सारभूत चीज क्या है? तो जीव के रूप बहुत विस्तृत हैं । देव, नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय आदिक बहुत विस्तार हैं । और, भावों की दृष्टि में अनेक प्रकार के क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अनेक विस्तार हैं जीव में, लेकिन उन सब विस्तारों में कुछ सार नहीं है । सारभूत तो एक वह ज्ञानमात्र स्वरूप है । उसका कितना विस्तार है, मूल में तो कोई एक बात है, अनेक बातें तो आयी हुई होती हैं और मूल बात कोई एक होती है । तो जीव में मूल बात एक चेतना है, फिर रागद्वेष मोह आदि ये सब तो आयी हुई बातें हैं । तो जो स्वाभाविक है, सहजस्वरूप है ऐसा जो चेतना धर्म है चैतन्य, वही सार है । अपने आपको हर एक जीव किसी न किसी रूप में श्रद्धान किए हुए है—मैं अमुक चंद हूँ, अमुक प्रसाद हूँ, अमुक लाल हूँ, समझदार हूँ, कम समझदार हूँ आदि । मैं क्या हूं? हर एक के वित्त में इसका कोई न कोई उत्तर मिलता है । जब यह अंत: उत्तर आने लगे कि मैं विशुद्ध चैतन्यमात्र आत्मतत्त्व हूँ तब समझिये कि हाँ अब मैंने अपने आपको पहिचाना । पर अपने आपकी बात माने कैसे? इसके लिये तत्त्वज्ञान का अभ्यास करके उसका दृढ़ श्रद्धान बनाइये । जब यह श्रद्धान बनता है कि मैं चैतन्यमात्र हूँ तब समझिये कि हमने अब सारभूत चीज प्राप्त की ।

जीव में सार स्वरूप के लाभ का उद्यम—जीव में भी सारभूत बात ज्ञानसाधना है, उसकी प्राप्ति के लिए ही यह उपाय है कि देवदर्शन करें, भगवान की रोज-पूजा करें । उसमें हम क्या सीखते हैं? वहाँ गुणों का स्मरण तो करते हैं, पढ़ करके, चरित्र बाँच करके हम प्रभु के गुणों का स्मरण करते हैं, क्यों करते हैं कि उनका स्मरण करने से हमें अपनी अनुभूति की खबर आ जाय कि मैं भी ऐसा एक श्रेष्ठ तत्त्व हूँ ज्ञानस्वरूप । इसे न मानकर और अन्य-अन्य रूप अपने को मानकर यह जगत में भटकना बन रहा है । आज यहाँ हैं तो यहाँ के प्राप्त समागमों को अपना मानते हैं, उन्हें ही अपना सर्वस्व समझते हैं, इस भव के पहिले जब किन्हीं अन्य भवों में थे तो वहाँ के प्राप्त, समागमों को अपना मान रहे थे, उनको ही अपना सर्वस्व समझ रहे थे, परन्तु जैसे पूर्वभवों के प्राप्त समागम आज अपने लिए कुछ नहीं हैं ऐसे ही आज के ये प्राप्त समागम भी सब विघट जायेंगे। मेरे लिए ये कुछ भी न रहेंगे । यह जीव इस ममता के कारण इन प्राप्त समागमों को नया और अपूर्वसा समझता है । जब तक यह ममता इस जीव के साथ रहेगी तब तक यह प्राप्त होने वाले समागमों को नई चीज और एक अपूर्व चीज मानता रहेगा । धन्य हैं वे जीव जो कि इस ममता की धारा को तोड़ देते हैं । अपने सत्यस्वरूप के परिज्ञान से यही फायदा मिलता है कि यह मोह टूट जाता है ।

मोह से निवृत्त होने में ही भलाई—इस मोह को मोही लोग बड़े प्रशंसा के रूप में लेते हैं, जैसे इसको अपने घर से बड़ा मोह है, यह अपने घर का बड़ा ख्याल रखता है आदि, पर ये स्वार्थीजन ही इसको प्रशंसा के रूप में लेते हैं । मोह टूट जाने में कोई हानि नहीं है । मोहरहित होकर घर में रहने में शान्ति का उदय है । मोह और राग में अन्तर है । घर में रहते हुए राग न करें यह बात न बन सकेगी । अगर राग नहीं कर रहा है तो वह घर में रह नहीं सकता, स्थिति ही ऐसी है, पर मोह न रहे घर में फिर भी वह घर में रह सकता है, उसकी सीमा है । मोह और राग में यह अन्तर है कि मोह में तो भरा है अज्ञान । जैसे—यही लोग मेरे लिए सर्वस्व है, इनके बिना मेरी जिन्दगी नहीं, इनको छोड़कर अन्य कोई मेरे लिए शरण नहीं, मेरा सर्वस्व प्राण ये ही हैं । मोह में अपने आपके स्वरूप की सुध नहीं रहती, पर राग रहते हुए भी अपने

स्वरूप की सुध रह सकती है, यदि मोह न हो । घर में है, संहनन भी वैसा नहीं है, परिस्थिति ऐसी नहीं कि हम सर्व का परित्याग कर दें, रहना पड़ता है तो राग तो करना ही होगा, धनार्जन भी करना होगा, सबकी खबर लेना ही होगा, लेकिन उसको मोह नहीं है । उसे सत्य ज्ञान है कि ये जीव उतने ही जुदे हैं जितने कि जगत के अन्य जीव जुदे हैं, यह देह भी मेरा मेरे से ऐसा जुदा है जैसा कि अनेक पुरुषों को मरण के बाद देखा भी है कि देह उनका वहीं पड़ा रह गया, बिछुड़ गया, जीव निकल गया, ये सब उदाहरण उसके सामने रहते हैं, तो उसके मोह नहीं रहता । मोह और राग में अन्तर है । मोह और राग का अन्तर इस तरह भी जान सकते हैं कि जैसे कोई सेठ रोगी हो जाय तो उसके लिए घर में आराम के बड़े साधन बड़ा दिए जाते हैं, अच्छा कमरा, अच्छा पलंग, दो चार नौकर, समय पर डाक्टर लोग दवा भी देते, दवा देने में जरा देर हो गई तो वह सेठ झुँझला भी जाता है, तो देखिये उस सेठ को उस औषधि में राग है, पर मोह नहीं है । मोह के मायने अंधेरा, वह रोगी सेठ नहीं चाहता कि मुझे आज जो आराम मिल रहा है वैसा आराम जिन्दगीभर मिले । यद्यपि उस सेठ को उस औषधि से राग है फिर भी उसके चित्त में यह बात बसी हुई है कि कब यह औषधि छूटे और मैं दो चार मील दौड़ प्रतिदिन लगा सकूं । तो ऐसे ही समझिये कि हम आप गृहस्थी के अन्दर रहकर भी ऐसा विवेक बना सकते हैं कि वहाँ राग तो रहे पर मोह न रहे । तो देखिये भीतर की बात अपनी समझ से, अपने ज्ञान से अपने आपमें घटित करके यदि एक इस अंधेरे को दूर कर दिया जाय तो घर वही है, परिजन वहीं हैं पर खुद का जीवन उजेले में आयगा । और, एक मोह न हटा तो जीवन उजेले में न रहा, जीवन अंधकार है, शान्ति का रास्ता नहीं पाया जा सकता ।

ज्ञानोद्यमन की अपूर्वता—जो ज्ञानी पुरुष हैं उनके बाह्यपदार्थों की परिणति में कुछ उल्झन नहीं है । बाह्य में जो कुछ होता है उसके ज्ञातादृष्टा रहते हैं । धन कम हुआ तो क्या है, न कोई बाह्य पदार्थ मेरा कुछ था, न है,

न होगा, उसके प्रति क्या दुःखी होना? कोई इष्ट वियोग हों गया तो क्या है ? जगत में तो यह बात होती ही रहती है, जिसके आयु का क्षय जब होना था हो गया, उसके पीछे क्या दुःखी होना? यों ज्ञानी पुरुष बाह्यपरिणतियों से अपनी कुछ हानि नहीं समझते हैं । बस यही फर्क रहता है निर्मोही और मोही गृहस्थ में । यदि तत्त्वज्ञान जगाकर एक इस मोह को दूर कर लिया जाय तो समझिये कि मैंने अपने जीवन में सब कुछ पा लिया । यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि देखो तो अपने स्वरूप को । यह उत्तम गुणों का घर है । सर्वद्रव्यों में उत्तम है और तत्वों में यह परम तत्त्व है, एक अपने स्वरूप को निहारकर अपने आपमें वह घटित करता है कि मेरे लिए मैं ही सब कुछ हूँ, मेरी ही करतूत मुझे सुख दुःख देती है । जैसा मेरा ज्ञान होगा उसी प्रकार का मेरा भविष्य बनेगा । इस बन्धन से मुक्त करने के लिए भी कोई दूसरा न आयेगा, खुद को ही करना होगा । तो अपने आप पर कुछ दया करके इस जन्म मरण से छुटकारा प्राप्त करने का उपाय प्राप्त हो, ऐसा मन में निर्णय करना और उसके अनुसार चलना, भगवान की भक्ति करके, स्वाध्याय करके अपने आपको अकेला अनुभव करना है, जिस किसी भी प्रकार से पर का विकल्प छूटकर एक बार भी ज्ञानस्वरूप का अनुभव पा लेना यही अपने जीवन का एक प्रधान उद्यम होना चाहिए ।

गाथा — २०५

अंतरतच्चं जीवो वाहिरतच्चं हवंति सेसाणि ।
णाणविहीणं दव्वं हियाहियं णेव जाणादि ।।२०५।।

सर्व पदार्थों में अन्तस्तत्त्व व बाह्यतत्त्व का विभाग और उसमें हित दर्शन—जगत में जितने भी सब कुछ पदार्थ हैं इन सबका दो हिस्सों में विभाग करना, अंतस्तत्त्व और बाह्य—तत्त्व । अंतस्तत्त्व तो यह आत्मा है, जीव है और बाह्यतत्त्व में सर्व पदार्थ आ जाते हैं, पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल, और इनमें भी विशेष भीतरी दृष्टि करके देखें तो मेरे लिए मेरा अन्तस्तत्त्व मेरा आत्मा है और मेरे को छोड़कर बाकी सर्व जीव और समस्त पुद्गल आदिक पदार्थ ये सब बाह्यतत्त्व हैं । अन्तस्तत्त्व के मायने भीतरी स्वरूप और बाह्य तत्त्व के मायने बाहरी स्वरूप । दो भागों में सर्व कुछ विभक्त हो गया (१) मैं और (२) मेरे से अतिरिक्त सर्वपदार्थ अथवा (१) जीव और (२) जीव के अलावा अन्य सर्व पदार्थ । तो इसमें जीव तो है ज्ञानस्वरूप । लाह तो हित और अहित को जानता है और जीव को छोड़कर बाकी पदार्थ हित और अहित को नहीं जानते । यदि सर्व द्रव्यों के स्वरूप पर दृष्टि दें तो जीव सर्व द्रव्यों में श्रेष्ठ, उत्तम जाना जाता है । अथवा कहो कि यह जीव ही राजा है, बाकी पुद्गल आदिक जो कुछ ढेर पड़े हुए हैं सो ये ज्यों के त्यों पड़े है । इसमें ज्ञान नहीं है, व्यवस्था का माद्दा नहीं है । जीव है ऐसा कि जिसमें ज्ञानस्वरूप है और सर्वपदार्थों को जानता है, हित अहित को जानता है ।

वर्तमान साधन की कल्याण का उपाय बनाने के लिये अनुकूलता—अब इस समय का मौका अगर सही दृष्टि से देखो तो अपने आपको कितना सुन्दर मिला हुआ है । अगर चाहे तो सदा के लिए इन संकटों को मेट लें । और न चाहें तो बाहरी बातों में फंसकर अपना रागद्वेष मोह में जीवन बिताये और जैसे अन्य भव पाये वैसे ही यह भी भव बीत लेगा । अपने आत्मा का उद्धार करने के लिए यहाँ बहुत बड़ी तैयारी करनी होगी, हिम्मत बनानी होगी और हिम्मत भी क्या? जब सर्व चीजें अपने से निराली हैं तो दृढ़ता से निराला समझ लें । कुछ-कुछ जब समझ में आता है कि घर परिवार भी क्या, धन वैभव भी क्या? सब कुछ परवस्तु है, और यह सब पुण्य पाप का संयोग है, और की तो बात क्या? यह मेरा देह भी

मेरा साथी नहीं है, यह भी मेरे लिए निःसार है, यह सर्व रोगों का घर है, सारी चिंताओं का यह साधन है । जब यह देह लगा है, हमारा आकार बना है, नाक कान आदिक रचनायें हैं तो एक आधार मिल गया ना यहाँ ही रमने का । यह ही मैं हूँ और इस मुझको सब लोग जानते हैं । जो नहीं जानते वे भी मुझ को जान जायें ऐसी भीतर में आकांक्षा जगती है, और है कोई नहीं समझने वाला, किसी से कोई सम्बंध नहीं । जैसे भाव करता है उसके अनुसार फल इस अकेले को ही भोगना पड़ता है, बाहरी जो ठाठ हैं, जो घर में जीव बस गए हैं वे सबके सब मुझ से अत्यन्त निराले हैं, तत्त्व निरखें और अपने आपमें जो सहज स्वरूप है । ज्ञानस्वरूप है उसकी दृष्टि करें तो केवल ऐसा अनुभव जगेगा कि जो इस कर्मबन्धन को तोड़ देगा । हम मात्र बाहरी मन वचन काय की चेष्टाओं को करके हम चाहें कि इन कर्मकलंकों को तोड़ दें तो केवल इन बाहरी चेष्टाओं से ये कर्म नहीं टूटते । इन कर्मों के फल से जब वैराग्य जगेगा और अपने आपके सहजस्वरूप में अपना ज्ञान जगेगा तो उस अलौकिक अनुभूति से कर्म कटते हैं ।

धर्मपालन की कर्मविच्छेदनप्रयोजकता—कर्मों के काटने के लिए हमने ये साधन जुटाये हैं कि भाई रोज देवदर्शन करें । यहाँ आकर गुणस्मरण करें, अपने आपकी सुध भी होगी तो सीखना है यहाँ भेदविज्ञान । मैं सबसे निराला हूँ, देह से भी निराला हूँ, यह ज्ञान सीखना है मंदिर में पूजा में, दर्शन में, धर्म के प्रसंग में, यह अनुभव करना है, यह अभ्यास बनाना है कि देह जड़ है, नष्ट होगा, जला दिया जायगा, यह दुर्गन्धित है, सारहीन है । मैं आत्मा एक चैतन्य भावरूप हूँ, पवित्र हूँ ऐसा यह मैं ज्ञानपुञ्ज आत्मा इन सर्व समागमों से निराला हूँ । मेरी कहीं भी हानि नहीं, कहीं अरक्षा नहीं । जब तक राग है तब तुक अरक्षा का दिमाग बनता है । जब ज्ञान ज्ञान में आ जाय, ज्ञान का सही स्वरूप समझ ले तो यह अनुभव करेगा कि मेरा कोई विनाश कर सकने वाला ही नहीं है । मेरा जो सहज ज्ञानस्वरूप है उसमें कोई बाधा डाल सकने वाला ही नहीं है । अपने को निराकुल अनुभव करें । पर यहाँ भीतर की दृष्टि नहीं रहती है तो बाहर के उपयोग में तो विडम्बना ही है । हम भगवान की मुद्रा को निरखकर उसकी उपासना करते हैं तो मुद्रा में हम सीखे क्या ? इनका ठाठ हम से हजारों गुना था, तीर्थंकर थे, चक्रवर्ती थे, करोड़ों गुना ठाठ था, पर वह ठाठ, वह सारा समागम उनकी शान्ति का कारण न बना, उसको असार जानकर सर्व कुछ त्यागकर सारभूत अपने आत्मा के ध्यान में लग गए । मुद्रा भी देख लो, पैर में पैर फँसाकर बैठे हैं । जो आसन हमें दिखाता है कि अब हमें कहीं जाने का काम ही नहीं है । हाथ पर हाथ धरे बैठे है प्रभु, जों हमें दिखाते हैं कि जगत में अन्य कुछ कर्तव्य ही करने लायक नहीं है । श्रेष्ठतम कर्तव्य तो एक आत्मसाधना है ।

ज्ञानसाधनारुचि की परमवैभवता—जिन जीवों के इस आत्मज्ञान की साधना में रुचि जगी है वे चाहे दरिद्र भी हों फिर भी वे अपने में तृप्त रहते, संतुष्ट रहते और अपने को अमीर अनुभव करते हैं । दर्शन में पढ़ते हैं कि इस जिनधर्म को छोड़कर मैं चक्रवर्ती भी नहीं होता चाहता और जिनधर्म से वासित होकर मैं किसी का नौकर रहा जाऊँ, दरिद्र भी रहा आऊँ यह हमें मंजूर है । इस बात को, इस भाव को परखें कि मेरा ज्ञानस्वरूप आत्मा मेरे ज्ञान में रहे और फिर मैं चाहे दरिद्र भी रहूं, किसी का सेवक भी रहूं तो वह भली बात है क्योंकि एक ज्ञानस्वरूप आत्मा का दर्शन तो बनता रहता है और एक अपने आत्मा की सुध न हो सके मिथ्यात्वमय, हिंसामय, नीचकुल में जन्म हो और -वहां वे ही झगड़े के विकल्प निरन्तर रहा करें और वहाँ चाहे श्रीमान बन जायें, लखपति बन जायें तो भी वहाँ सार कुछ नहीं है । जब जैसा जो मिलेगा वह सब छोड़कर जाना है । चाहे कोई, धनिक हो अथवा कोई साधारण स्थिति का हो, छोड़कर जाने में समानता है । सब कुछ छोड़कर यहाँ से जाना होगा । अब यहाँ से छोड़कर जाने वाले को आगे किस प्रकार क्या बीतेगा,

यह तो उसके किए हुए कर्मों पर निर्भर है । एक जन्म में किसी तरह दुनिया को अपना पोजीशन बता दिया, दुनिया को कुछ भी दिखा दिया तो उससे दुनिया हमारी साथी न बन जायगी, वे सभी स्वार्थ निरत हैं । स्वरूप भी ऐसा ही है कि कोई किसी दूसरे का क्या करेगा? तो यहाँ दूसरे के लिए हमें क्या करना? स्वयं के लिए ही कुछ करना है ।

स्वयं ही स्वयं पर बिछाई हुई आपत्ति के न होने पर सुविधा का सौगम्य—आज यदि समाज में एक दहेज प्रथा की आपत्ति न होती तो जैनदर्शन का पाने वाला यह समाज चाहे किसी भी परिस्थिति में होता सुखी रहता । दरिद्रता हो तो कोई दुःख की चीज नहीं, अथवा अपनी इज्जत न हो तो यह भी कोई दुःख की चीज नहीं । कितनी बड़ी यह दुनिया है, उसमें थोड़े क्षेत्र का हमारा निवास है, अनादि अनन्त समय है, उसमें ये १००-५० वर्ष क्या कीमत रखते हैं? जो हो सो हो, सर्व बातों को सहन कर सकते हैं, पर विवेक हो तब ना, पर एक खुद ही खुद की समाज ने जो एक आपत्ति बिछा दी है इससे परेशानी है । अन्य बातों में हम आप अपने मन को बहुत संभाल सकते हैं, जो भी स्थितियां आयें उनमें गुजारा कर सकते हैं । कर्तव्य तो धनिक बनने का नहीं है जीवन में । आखिर सब कुछ यहाँ से छोड़कर जाना होगा । इज्जतवान, पोजीशनवान बनना भी हमारा कर्तव्य नहीं है जीवन में, पोजीशन बनाकर मिलेगा क्या, आखिर सब कुछ छोड़कर जाना होगा, बस अपने आत्मस्वरूप का अनुभव हो जाय यही काम जीवन में करने का है । यह काम नियम से आगे बहुत बड़ी मदद देगा । बाकी और काम हमारा कुछ भी साथ न देंगे, बल्कि दुःख के ही साधन बन रहे हैं ।

अपनी अविनश्वरता व भावों पर भविष्य की निर्भरता जानकर आत्मकरुणा में भलाई—हम जीव हैं, हम अपने को मिटा कहां सकते हैं? अनादि से हैं, अनन्त काल तक रहेंगे, इस मुझ का कभी विनाश हो नहीं सकता, तब यह किसी न किसी हालत में रहेगा । जैसे मैं आज इस मनुष्य की पर्याय में हूँ और जो-जो परिस्थितियां बना रखी हैं उन परिस्थितियों में हूँ तो आगे भी किसी न किसी हालत में रहूंगा । यदि यह अपने स्वरूप का ज्ञान कर लेता है, एक बार अनुभव कर लेता है कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, केवल चैतन्यस्वरूप हूँ, सबसे निराला हूँ, मुझमें केवल मैं ही हूँ, अखण्ड हूँ, सदा सुरक्षित हूँ; अविनाशी सत् हूँ । किसी दूसरे से इसका रंच भी सम्बन्ध नहीं है । केवल ज्ञानमात्र, अपनी सत्तामात्र अपने को अनुभव कर लिया जाय तो उससे बढ़कर इस जगत में कोई अमीर है क्या ? ये व्यर्थ की बुद्धियां जरा-जरा से राग मोह में हम बहुत बड़ी समस्यायें मान करके हम अपने जीवन में चिंतित हो जाते हैं । साहस यह बनाना चाहिए कि ये तो कोई समस्यायें ही नहीं हैं । अपने घर के स्त्रीपुत्रादिक को धर्म की ये बातें सिखा देना चाहिए कि सब कुछ निराला है, किसी भी बात में भय, चिन्ता न रखना चाहिए । अपने स्वरूप को देखो उसमें बड़ा वैभव भरा है, अपने स्वरूप के ध्यान के प्रताप से ही अरहंत हुए हैं, सिद्ध हुए है, जिनकी हम आप रोज उपासना करते हैं । बाहर में कहीं कुछ नहीं रखा है । अपना सब कुछ अपने अन्दर ही पड़ा हुआ है, उसकी धुन बनायें, उसके लिए प्रेमी बने, यह बात यदि घर में सबको सिखा दें तब संकट क्या रहा? घर में सभी लोग धर्मप्रेमी हो गये, अब बाहरी संकोच भी नहीं रहा । जो स्थितियाँ हैं वे सब झेली जा सकती हैं । स्वयं सीख लो—अपने आपके ज्ञान में ही शान्ति का मार्ग मिलेगा, बाहरी पदार्थों के सुधार बिगाड़ में शान्ति नहीं मिल सकती ।

ज्ञानमय जीवद्रव्य में हिताहित जानने की वृत्ति—मैं हूँ, ज्ञानमय हूँ, अंतस्तत्त्व हूँ, जाननहार हूँ, हित अहित का विवेक कर सकता हूँ, पर ज्ञानरहित जो बाहरी यह सारा विश्व है यह हित, अहित नहीं जानता । आश्चर्य की बात यह है स्वयं प्रभु होकर, स्वयं एक उत्तम द्रव्य होकर, एक ज्ञानमय पदार्थ होकर इन जड़ असार पदार्थों में यह जीव रमना चाहता है और इनमें ही यह संतुष्ट रहना चाहता है, जो कभी भी सम्भव नहीं है, बस यह वृत्ति चल रही है । भगवत्भक्ति यथार्थ ढंग

से की जाय तो, यह सब ज्ञानप्रकाश सामने आता है । तो यह ज्ञान, यह अंतस्तत्त्व, यह जीव, इसके लिए यही सर्व कुछ है, इस कारण सर्वद्रव्यों में उत्तम द्रव्य जीवद्रव्य है, सर्व उत्तम गुणों का घर यह जीव है, तत्वों में परमतत्त्व यह जीव है, उसका आदर करें । बाहरी पदार्थों का आदर जो चित्त में समाया हुआ है यह विषपान है, इसमें निरन्तर जलन है, आकुलता है और, अपने आपके ज्ञानस्वरूप पर जो अपना उपयोग जाय, दृष्टि जाय, अपने की पहिचान कि मैं सिर्फ ज्ञानमय हूँ, ज्ञान के सिवाय अन्य कोई मेरे रूप नहीं है । मैं हर जगह इस ज्ञान को ही करता हूँ, इस ज्ञान को ही भोगता हूँ । यह तो उपचार कथन है कि मैं घर को करता हूँ, कुटुम्ब का पालन करता हूँ आदि । मैं तो सदा ही अपने विकल्पों को ही किया करता हूँ । अब दूसरे जीवों का पुण्य का उदय है तो आप निमित्त होंगे, धनार्जन होगा, उनकी सेवा बनेगी तो आप यदि धनार्जन करते हैं तो समझो कि आप तो उन पुण्यवंतों के नौकर बने हुए हैं । आपको तो रातदिन जुतना पड़ता है और घर के लोग आराम से उस धन का उपभोग करते हैं तो तुम व्यर्थ ही विकल्प करते हो कि मैं परिवार का पालन पोषण करता हूँ । आप तो अपने ज्ञान को ही करते हो, ज्ञान को ही भोगते हो । ज्ञान के सिवाय अन्य कुछ नहीं करते । एक ऐसी अन्तःदृष्टि तो बनाओ ।

भगवत्प्रज्ञप्त रत्नत्रयमार्ग से ही परमशान्ति की संभवता—शान्ति का उपाय दुनिया के सभी लोग सभी प्रकार से बताते हैं और यह भी उनका कहना बहुत अंशों में ठीक है कि सबसे पहिले तो घर गृहस्थी के व्यापार भोजनपान आदिक का सामर्थ्य होना चाहिए । तो ठीक है, पर पुण्यकर्म के उदय से जब हम मनुष्य हुए हैं तो हमारा उदय इतना अवश्य है कि इतने साधन मिलते रहेंगे, पर मुख्य काम तो ऐसा मार्ग ढूँढ लेने का है कि जिससे नियम से शान्ति ही प्राप्त हो, वहाँ कोई दूसरी ही बात नहीं, वह मार्ग है जिनेन्द्र देव के द्वारा बताया गया सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप । जब इन बाहरी विकल्पों को त्यागकर हम इस ओर आते हैं कि प्रभु ने जो उपदेश दिया है और जिन प्रभु को हम आपने पूज्य माना है तो प्रभु के उपदेश में बल । अवश्य है, सार अवश्य है, और यही सारभूत काम आता है कि हम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्राप्त करें । अपने को जाने मानें और अपने में रम जायें । ज्ञानी पुरुष बड़ा साहसी पुरुष होता है । जब धनंजय सेठ भगवान की पूजा कर रहे थे और उसी समय धनंजय के बच्चे को साँप ने डस लिया तो बच्चे की माँ ने सेठ के पास खबर भिजाया कि बच्चे को सर्प ने डस लिया है, लेकिन वह प्रभुभक्ति में इतना मग्न थे कि कुछ भी न सुना, दुबारा फिर खबर भिजाया पर धनंजय ने अनुकूल कर दी । तो गुस्से में आकर धनंजय की स्त्री ने उस अधमरे बच्चे को मंदिर में पहुंचा दिया और यह कहकर कि बच्चा मरे चाहे जिए, तुम जानो, छोड़कर चली गई । आखिर धनंजय सेठ प्रभुभक्ति में लीन रहे । आखिर उपयोग ही तो है । वहीं स्तवन भी रच डाला, और उनकी भक्ति का ऐसा माहात्म्य हुआ कि वह बच्चा स्वयं निर्विष हो गया और खड़ा हो गया । तो यह बात तो पुण्योदय की है, अलग बात है लेकिन ज्ञानी की धुन तो देखिये—कितना महान साहस है कि कोई भय नहीं, कोई घबड़ाहट नहीं, कोई विकल्प नहीं, और एक अपने ज्ञानमार्ग में ही लगा हुआ है तो साहस बिना इस जीव का कोई साथी नहीं हो सकता है । यहाँ कौन मददगार है? हमारा ज्ञान विवेक भीतरी साहस यही हमारा साथी बनेगा, दूसरा कोई हमारा साथी नहीं । पवित्र भाव रखें ।

हितार्थी का एक मात्र कर्तव्य—एक दृष्टि से निहारने पर विदित होगा कि जो होना है वह होकर रहेगा । अवधिज्ञानी ने, प्रभु ने जो जान रखा है, हम जानते नहीं हैं, होगा विधिविधानपूर्वक, मगर होने को कौन रोकेगा? होकर रहेगा । तब हम उसके करने वाले क्या? जिस जीव का जैसा उदय है उसके अनुसार उसे सर्व सामग्रियां प्राप्त होती हैं । मैं कुछ भी करने वाला नहीं हूँ । मेरा तो वह स्वरूप है जैसा कि प्रभु का है । जैसे प्रभु में ज्ञानदर्शन आनन्द प्रकट है वैसे ही ज्ञान,

दर्शन, आनन्द मुझ में शक्तिरूप है । जाति एक है, आत्मा ही तो प्रभु है, आत्मा ही हम हैं । जो स्वरूप प्रभु का है वही मेरा है । पर अन्तर यह हो गया कि प्रभु ने तो ज्ञान वैराग्य का उपाय बनाकर कर्मों का नाश किया, प्रभुता पायी और यहाँ हम ज्ञान वैराग्य का सहारा नहीं ले रहे, इसी कारण जन्म मरण करते हैं । आज मनुष्य हैं तो इतना ख्याल है, इतना परिचय है, कुछ विचार भी है और मनुष्य न रहे, मरकर पशु पक्षी कीट पतंगा आदि हो गए तब तो समझिये कि हम क्या करें? यह जीव जैसी स्थिति में है उस ही में यह बड़ा दुःख मानता है, मगर इससे भी करोड़ों गुना दुःखमयी स्थितियां हैं अनेक भवों में । जीव तो भैंसा, बैल आदिक भी हैं जो कि गाड़ी में जोते जाते हैं, चलते नहीं बनता फिर भी पिटते जाते हैं । उनको पूछने वाला यहाँ कौन है? जीव हम भी हैं, जीव जाति तो समान हैं । हम आज अच्छी स्थिति में आकर भी अपने को दुःखमय अनुभव करते हैं । कोई भी हो बड़े से बड़ा, करोड़पति भी यही अनुभव करते हैं कि अभी मेरी ऊंची स्थिति नहीं है इस कारण वे आकुलता मानते हैं पर उससे और नीची स्थिति हो किसी की तो क्या उसका जीवन नहीं चलता है तो अनेक दुःखमय स्थितियां हैं जगत में । यहाँ के समागमों से सुख की आशा करना व्यर्थ है, शान्ति की आशा करें तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से करें । मैं अपने स्वरूप को जान लूँ, पहिचान लूँ; वहीं रमकर रह जाऊं, ऐसी धुन ऐसा विचार, ऐसा यत्न बनायें, इस ओर लक्ष्य दें कि करने योग्य काम केवल एक ही है, बाकी सब काम असार हैं । कुछ भी काम कर डालो उससे आप यह अनुभव न कर पायेंगे कि जो कुछ हमें करना था वह सब कर चुके । किसी बाहरी दशा में बढ़कर देख लो । आपको यह सन्तोष न होगा कि जो कुछ मुझे करना था सब कर चुके, अब कुछ नहीं करना है, लेकिन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में बहुत संतोष पायेंगे । समझो कि जो कुछ हमें करना था वह सब कर लिया । अब मुझे कुछ करने को बाकी नहीं है । तो इस अपने निरपेक्ष सहज ज्ञानमय स्वरूप को समझें और

उसमें ही मग्न रहकर अपना कल्याण करें ।

गाथा — २०६

सव्वो लोयायासो पुग्गल-दव्वेहि सत्वदो भरिदो ।
सुदुमेहिं वायरेहिं य णाणा-विह-सत्ति-जुत्तेहिं ।।२०६।।

जीव और पुद्गल के परिचय की सुगमता—इस लोक में जितने भी पदार्थ हैं वे सब ६ जाति के हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । इन ६ जाति के पदार्थों में से दो जाति के पदार्थों का तौ खूब परिचय है—जीव और पुद्गल । जीव खुद है सो अपने बारे में अपना बोध रहता है कि मैं हूँ सुख दुःख सभी कुछ इस पर आया करते हैं। उन्हें यह झेलता है, विचार करता है, कभी दुःखी होता है, कभी मौज मानता है, कभी शान्ति का उपाय भी बनाता है तो अपने आपके स्वरूप की याद होने से इस जीव को तो मानता है कि दुनिया में जीव है । और, पुद्गल ये सब चूँकि दिखाई देते हैं, इनको कैसे मन करेंगे? जिनमें रूप, रस, गंध, स्पर्श हो वे सब पुद्गल हैं, तो पुद्गल को भी जल्दी ध्यान में लाया जा सकता है । अब चार द्रव्य जो और हैं धर्म, अधर्म, आकाश और काल, इनकी बात कठिनाई से समझ में आती है ।

धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य व कालद्रव्य का स्वरूप—धर्मद्रव्य इस सारे लोक में फैला हुआ है जो आंखों नहीं दिखता पर जिसके होने से हम आप और पुदगल ये गमन कर जाते हैं जो हम आपके चलने में मददगार है वह धर्मद्रव्य है । आंखों नहीं दिखता इस कारण उस विषय में जिज्ञासा रहती है कि कहाँ है धर्मद्रव्य, लेकिन धर्मद्रव्य न होता तो, हम आप हाथ पैर भी न हिला सकते थे । कोई चीज है ऐसी, जैसे कुछ बताते हैं कि बाहरी कोई विशिष्ट वातावरण होता है वहाँ गमन होता है, न हो तो गमन नहीं होता, उससे भी सूक्ष्म चीज धर्मद्रव्य है । जो ऋषि संतों ने बताया है, आधुनिक वैज्ञानिक के लोग वहाँ तक नहीं पहुंचे हैं, और वह सारा एक ही पदार्थ है, इसी तरह एक अधर्मद्रव्य है जो सारे लोक में भरा हुआ है । अधर्मद्रव्य चलते हुए जीव पुद्गल को ठहराने में सहकारी है । यद्यपि ये पदार्थ जबरदस्ती किसी को चलाते, ठहराते नहीं हैं मगर जब चलें या ठहरे तो ये सहायक होते हैं । जैसे मछली के चलने में जल सहायक है । पर जल मछली को जबरदस्ती चलाता नहीं है, हां अगर मछली चलना चाहती है तो उसके चलने में वह जल सहायक बन जाता है । इसी प्रकार गर्मी के दिनों में वृक्ष की छाया मुसाफिर को जबरदस्ती ठहराती नहीं है, किन्तु मुसाफिर ही स्वयं यदि छाया में ठहरना चाहता है तो वह वृक्ष उसके ठहराने में सहायक बन जाता है । तो ऐसे ही ध र्म और अधर्मद्रव्य चलने और ठहरने में सहायक हैं । ये बहुत सूक्ष्म द्रव्य हैं । इन दो द्रव्यों का पता सुगमतया नहीं लगता । एक आकाशद्रव्य भी है । आकाश-आकाश तो सभी लोग कहते हैं, यह जो पोल है, आसमान है, यह आकाश है, लेकिन आकाश कोई अवस्तु नहीं है । कुछ भी न हो, केवल अभाव का नाम आकाश नहीं है किन्तु वह एक द्रव्य है, अनन्तप्रदेशी है । और, यहाँ हर एक क्षेत्र में हर एक छोटी-छोटी जगह पर एक-एक कालद्रव्य पड़ा है, जिसके निमित्त से वहाँ की भी चीजें बदलती रहती हैं । तो ये सब सूक्ष्म द्रव्य हैं ।

जीव और पुद्गल में विवेक भेदविज्ञान करने की आवश्यकता—खैर इनको अभी न विचार कर एक जीव और पुद्गल के बारे में ही विचार करें । इनका विचार करना यों आवश्यक है कि यह जीव जितना परेशान है केवल मोह और रागद्वेष से परेशान है । जिनको सच्चा ज्ञान मिला वे योगी हुए, कर्मों को काटकर अरहंत सिद्ध हुए, जिनकी हम आप उपासना करते हैं उन्होंने कोई उत्तम काम ही तो किया होग । जो यहाँ, संसारी मोही जीव घर में रहकर घर की व्यवस्था

बनाकर और कुछ कल्पित बढ़िया योग बनाकर ऐसा मौज मानते हैं कि मैंने करने योग्य सब कुछ कर लिया, हम बड़े वैभववान हैं, मगर छह खण्ड की विकृति को त्यागकर चक्रवर्ती, तीर्थंकर दिगम्बर होकर अपने आपमें आत्मा का ध्यान करके ही उन्होंने आनन्द समझा । तो जो बात सत्य है वह दृष्टि में आ जाय तो समझ लीजिये कि हमारा यह मनुष्यभव पाना सफल है, हम कितना कर सकते या नहीं कर सकते, यह तो हमारी परिस्थिति पर निर्भर है लेकिन सही बात के जानने में प्रमाद क्यों किया जा, रहा है? यह बात सत्य है कि नहीं कि मैं जीव इस जगत में सर्व बाहरी पदार्थों से निराला हूँ, मैं अपने स्वरूप से बना रहता हूँ, ये बाहरी पदार्थ सब अपने स्वरूप से बने रहते हैं, ये मेरे से अत्यन्त पृथक् हैं । इतनी बात ज्ञान में आ जाय तो इसमें कौनसी कठिनाई है? सही बात जान लेने पर सम्यग्दर्शन की तैयारी होती है ।

स्वजीव का अन्य जीवों से भेद का परिचय—जीव के बारे में भी विचारें । मैं भी एक जीव हूँ और मुझ जीव को छोड़कर बाकी जो जीव है वे सब पूरे के पूरे स्वयं अन्य-अन्य द्रव्य हैं। उनका सब कुछ उनमें है, उनसे कुछ भी मेरे में नहीं आता। अब तक देख लो जिन्दगी में जिन-जिनसे प्रीति की, उनसे कुछ भी आपमें नहीं आया। उनका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सब कुछ उनमें ही है । उनके वियोग होने पर पता पड़ता है कि वह सब प्रीति तो एक भ्रम का खेल था । जिन बाबा दादों की हम पर बड़ी प्रीति थी वे भी कहाँ रहें सके । और, उनके समय में भी वे मेरा कुछ न करते थे और मैं उनका कुछ न करता था, सबका अपना-अपना अलग-अलग भाग्य है । जो कुछ इष्ट अनिष्ट चीजें मिलती हैं वे सब सुकृत कर्म का फल है और इस कर्मफल में क्या अधिक बुद्धि लगाना? ये उदयानुसार जैसे आना है आते हैं । प्राप्त सुविधा में ही अपने को सन्तुष्ट रखें और उसमें ही अपनी व्यवस्था बना लें । विवेक तो यह है कि हम हर स्थिति में अपनी व्यवस्था बनाते हुए धर्म का पालन करते रहें । आज हम मनुष्यभव में हैं, कुछ ही समय इस पर्याय में और रहना है, निकट ही समय है जब कि यहाँ से विदा होना होगा । फिर यहाँ के कोई भी समागम मेरे काम न आयेंगे । फिर इन समागमों में क्या मोह करना? तो बाहरी पदार्थों का यथार्थस्वरूप जानने से ये सब बातें स्पष्टतया विदित हो जाती हैं । मैं जीव हूँ, मेरे को छोड़कर अन्य जितने भी जीव हैं और पुद्गल हैं वे सब मुझसे अत्यन्त निराले हैं, मेरा सब कुछ मेरे में ही बना करता है, मेरा निर्माण मुझमें है, मेरा भविष्य मुझ पर निर्भर है, ऐसा मैं सबसे निराला स्वतंत्र पदार्थ हूँ, यह बोध होवे तो इस जीव का ऐसा अच्छा संस्कार बनता है कि इसके जब तक संसार में रहना है तब तक अच्छी गति मिलती जायगी, और कभी ऐसा उपाय बना लेगा कि इसके जन्म मरण सब समाप्त हो जायेंगे । तो ये सब पहिचान करने के लिए हमें जानना है कि मैं क्या हूँ और बाकी सब कुछ क्या है?

लोक की पुद्गलद्रव्यों से पूरितता—इस गाथा में पुद्गलद्रव्य का वर्णन है । यह जितना लोकाकाश है वह पुद्गलद्रव्यों से ठसाठस भरा है । जहाँ हम पोल समझते हैं वहाँ भी ये पुद्गल द्रव्य भरे पड़े हैं, और वे इतने सूक्ष्म हैं कि हमारे हाथ से छिड़ते नहीं और हमें पोल मालूम होती है । प्रथम तो यही बात देखिये कि लोकाकाश में सभी जगह ठसाठस जीव भरे पड़े है । जहाँ हम पोल समझते हैं वहाँ भी अनन्त जीव हैं, मगर वे सूक्ष्म जीव हैं, वे अपनी मौत से मरते हैं । जन्म लेते हैं सुखी दुःखी होते हैं । उन्हें आग भी नहीं जलाता, पानी भी उनको गीला नहीं करता, सूक्ष्म शरीर है उनका, जिन्हें कहते हैं सूक्ष्म निगोद जीव । और, संसार में एक जीव के साथ अनन्त कार्माणवर्गणायें लगी हैं । अब समझिये कि कितने पुद्गलद्रव्य भरे पड़े हैं । तो पुद्गलद्रव्य से यह सारा लोक भरा है । इस जीव को है मोह की आदत, और पुद्गलद्रव्य सभी जगह भरे पड़े हैं । तो जहाँ भी यह जीव जन्म ले लेता है वहाँ ही इसे पुद्गलों का ढेर मिल जाता है । और उन पुद्गलों के ढेर में मोह करके यह जीव कर्मों का विकट बन्धन कर लेता है और संसार में जन्म मरण की विकट यातनायें

सहन करता है ।

किसी भी परद्रव्य को उपयोग में न लेकर किसी क्षण निर्विकल्प अनुभूति पाने का अनुरोध—भैया ! साहस बनाकर किसी भी क्षण ऐसा अपना चित्त बना लें कि मुझे किसी भी परपदार्थ को अपने चित्त में नहीं बसाना है, इन परपदार्थों के संयोग से अनेक दुःख भोगे, अनेक सहे, आपत्तियाँ सहीं, उनमें चित्त बसाने से अभी तक लाभ कुछ नहीं मिला । इसलिए कुछ क्षण लिए मुझे किसी भी परपदार्थ को अपने चित्त में नहीं बसाना है । और उस समय जो भी बात चित्त में आये उसी का झट विचार करने लगें कि यह चीज भी मेरा साथ न निभायेगी, इसमें दृष्टि होने से हमें आकुलता ही मिलेगी । तब एक बार किसी समय भी अपने आप पर दया करके अपना चित्त ऐसा तो बना लें कि जब यहाँ मेरा कहीं कुछ भी नहीं है तो किसी भी वस्तु को मैं अपने चित्त में स्थान न दूंगा, यह बात तुरन्त न बन पायगी, इसके लिए रोज-रोज बड़ा अभ्यास करना होगा । हम आप रोज जो सामायिक पाठ करते हैं, प्रभु के नाम का १०८ बार जाप जपते हैं, उसका भी प्रयोजन यही है कि भर में चित्त को वहाँ पर हम ऐसा बनावे कि किसी भी परपदार्थ को अपने उपयोग में न ठहरने दें । ऐसी अवस्था कभी क्षणभर को बन पायगी । उस एक क्षण की झलक आपको एक अद्भुत आनन्द देगी और उसी समय अनेकों भवों के बचे हुए कर्म कट जायेंगे । यह है वास्तविक धर्मपालन । ऐसा उपाय बना लें यही हम आपका सही मददगार है । बाकी तो सब मायाजाल है । यहाँ के ये सब समागम कुछ दिनों के लिए मिलते हैं और बिछुड़ते हैं । इन समस्त पदार्थों से अपने को निराला सोचना है । एतदर्थ उन पदार्थों की जानकारी तो करें कि ये बाहरी पदार्थ जो भरे पड़े हैं ये कैसे हैं और किस जाति के हैं ।

पुद्गलद्रव्यों की स्थितियों का विचार—इस गाथा में बता रहे हैं कि ये पुद्गल अपने में अपनी नाना शक्तियाँ रखते हैं और ये वादर और सूक्ष्म नाना प्रकार के भेद से हैं । वादर मायने स्थूल और सूक्ष्म मायने सूक्ष्म । कौन स्कंध स्थूल हैं और कौन सूक्ष्म हैं, इन सब दिखने वाली चीजों का ब्योरा चल रहा है । इनमें सर्वप्रथम बात यह जानें कि जो कुछ भी पदार्थ यहाँ दिखते हैं, भोगोपभोग में आते हैं वे सब एक-एक पदार्थ नहीं हैं । जैसे यह एक कंकड़ दिख रहा है तो यह एक चीज नहीं है, यह अनन्त परमाणुओं का पिण्ड है, ऐसे ही जो कुछ भी नजर आता है वह सब स्कंध है, मायाजाल है, कभी विघट जायेगा । ये सब पदार्थ इस रूप न रहेंगे । खूब भली भाँति विचार कर लें क्योंकि ये परमार्थ चीज नहीं हैं । जो एक परमाणु है वह द्रव्य है । दृश्यमान पदार्थ न सही एक परमाणु अनेक परमाणुओं का पिण्डस्कंध है लेकिन इस स्कंध की हालत में वहाँ यह भेद नहीं डाल पा सकते हैं कि देखो इसमें यह एक परमाणु है, यह एक परमाणु है, इसलिए वे स्कंध एक-एक पदार्थ की तरह लग रहे हैं । तो इन ही स्कंधों की बात अब करेंगे ।

पुद्गल स्कन्धों के ६ प्रकार—ये स्कंध ६ प्रकार के हैं—स्थूलस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मसूक्ष्म । सूक्ष्म का अर्थ है बहुत छोटा । जो किसी चीज से भिड़ न सके । स्थूल का अर्थ है मोटा, जो कि किसी दूसरी चीज से भिड़ सके । तो ये सब पुद्गल द्रव्य इन ६ ढंगों में हैं । स्थूलस्थूल वे कहलाते हैं कि जिनको छेदा भेदा जा सके, दूसरी जगह ले जाया जा सके । जैसे ये चौकी, पत्थर, आदि, और स्थूल वे कहलाते हैं जो छेदे भेदे न जा सके, पर दूसरी जगह ले जाये जा सकते हैं । जैसे पानी को छेदा भेदा नहीं जा सकता, पर उसे उठाकर कहीं से कहीं ले जाया जा सकता है, और स्थूलसूक्ष्म है छाया की तरह । जैसे छाया को छेदा भेदा नहीं जा सकता, कहीं पकड़कर ले नहीं जाया जा सकता, और है वह पुद्गल । और सूक्ष्मस्थूल है नेत्रइन्द्रिय को छोड़कर शेष चार इन्द्रिय के विषय याने घ्राण से गंध जाना तो गंध को कोई पकड़कर दिखा तो नहीं सकता । सूक्ष्म वह कहलाता जो न छेदा भेदा जाय, न कहीं

ले जाया सके, न आंखों भी दिखे । कर्म सूक्ष्म हैं, इन्हें अवधिज्ञानी जानते हैं । कोई विशेष अवधिज्ञानी मुनि है तो वे किसी कर्मों को भी देख लेंगे कि इस जीव के ऐसे-ऐसे कर्म बँधे हैं । और सूक्ष्मसूक्ष्म वे कहलाते हैं जिनसे सूक्ष्म और कुछ नहीं है जैसे परमाणु । तो इस तरह ६ जातियों में ये सब पदार्थ विभक्त हैं ।

समस्त पुद्गलों से अन्तस्तत्त्व की विविक्तता—अब यह बतलाओ कि उक्त छहों प्रकार के पदार्थों में हम आपका साथी कौन है? कोई भी नहीं है । मेरा साथी तो है मात्र मेरा ज्ञान । ज्ञान के मायने आत्मा । उस आत्मा का स्वरूप क्या है सो सोचिए । जैसे यह चौकी दिखती है कि यह इस तरह की कठोर, लम्बी, चौड़ी, ऊँची, मोटी है उस तरह से अपने आपके बारें में भी विचार करें कि हम आप वास्तव में कौन हैं? लोग कहते तो हैं कि मैं हूँ लेकिन वे इस पुद्गल शरीर को ही मैं समझते हैं । परन्तु मैं यह नहीं हूँ, मैं हूँ एक जाननहार पदार्थ, जिसमें प्रतिभास है, ज्ञानदर्शन है वह है मैं । तो उस मैं से ये दिखने वाली सभी चीजें अत्यन्त न्यारी हैं । अब आप देखिये—जिस घर में आप उत्पन्न हुए वहाँ यदि आप उत्पन्न हो गए होते तो वहां के प्राप्त समागमों को आप अपना मान लेते कि नहीं?...मान लेते। तो फिर कहां मेरापन ठीक रहा? क्योंकि आज जिस घर में आप पैदा हो गए हैं वहाँ के प्राप्त समागमों को अपना मान बैठे हैं । इस जीव की आदत ऐसी ही पड़ी है कि जहाँ यह पैदा हो जाती है वहाँ के प्राप्त समागमों से ही यह ममता करने लगता है । तो जिन पुद्गलों में ममता की जा रही है वे क्या हैं, कितने ढंग के हैं, किस स्वरूप के हैं यह चीज जानना जरूरी है । कोई सामान्य रूप से जानें, कोई विशेष रूप से । जैनशासन के परिज्ञान का प्रयोजन सिर्फ इतना ही है कि यह भेदविज्ञान कर लेवें कि जीव जुदा है और पुद्गल जुदा है, और भीतर में कुछ ऐसा ज्ञानप्रकाश बढ़ाये कि ये दिखने वाले समस्त बाह्यपदार्थ मेरे से अत्यन्त भिन्न है । तो जिनमें हमें भेदविज्ञान करना है उन पदार्थों की यहाँ चर्चा चल रही है कि ये पदार्थ कैसे हैं । कोई पदार्थ स्कंध है, कोई देश है, कोई प्रदेश है, कोई परमाणु है । जो-जो बड़े पूरे हैं, वे स्कन्ध हैं । उनके आधे हो गए देश और आधे हो गए प्रदेश, किन्तु एक ही है । आधा तो कुछ पदार्थ होता ही नहीं है । बहुत से पदार्थ मिले थे तो अब बिछुड़ गए, कुछ अलग हो गए उसी को लोग आधा कहते हैं । किसी काठ पिण्ड के दो टुकड़े हो गए तो लोग कहते हैं कि देखो, यह काठ पिण्ड आधा-आधा दो भागों बंट गया, पर ऐसी बात वहां नहीं है । एक पदार्थ का टुकड़ा ही हुआ करता । वे टुकड़े अनन्त परमाणुओं के समूह हैं । मैं जीव एक हूँ तौ मेरे कभी टुकड़े नहीं हो सकते । एक परमाणु का खण्ड नहीं है, वह सदा एक है । तो यहाँ यह बात निरखना है मैं आत्मा इन सब बाह्य पुद्गलों से अत्यन्त निराला हूँ ।

परभावों व विकल्पों से विविक्त निरखने में ही आपत्ति से छुटकारा—यह बड़ी विपत्ति है, जो इस जीव की यह बुद्धि जगती है कि दुनिया में मेरा नाम हो, पोजीशन हो, लोग मुझे अच्छा समझे, कुछ यद्यपि यह बात किसी दृष्टि से ठीक है कि इज्जत बनी रहेगी तो वह व्यक्ति से पापों से डरेगा। कहीं मेरी निन्दा न होने पावे, मेरी पोजीशन बनी रहे । यद्यपि ऐसी बात भी एक दृष्टि से भली है, लेकिन कोई इस पर ही उतारू हो जाय कि बस मेरा तो जीवन में केवल एक ही काम है कि मैं अपनी इज्जत बढ़ाता रहूं, दुनिया के लोग मान जायें कि यह भी कुछ है । यह सब विकल्प तो घोर अंधकार है, अज्ञान है । दुनिया जान गई तो क्या है? ये दुनिया के लोग तो कीड़ा मकोड़ों की भांति जन्म मरण करने वाले प्राणी हैं । इन्होंने कहीं स्वार्थवश कुछ कह दिया तो इससे इस जीव का क्या उत्थान हो गया? और फिर जिस शरीर का मुद्रा का यह उत्थान चाहता है, पोजीशन चाहता है वह तो एक मिथ्या चीज है । यह शरीर मैं नहीं हूँ । मैं तो सर्व पुद्गलों से निराला सर्वजीवों से निराला एक अपनी ही दुनिया को रचने वाला हूँ । मेरा भविष्य मुझ पर ही निर्भर है । मैं अपने को जानूं, अपने को देखूँ, अपने में रहूँ, ऐसी हमारी स्थिति बन सके तो उसमें हमारी सद्गति है, हम संसार के सर्व संकटों

से छूट जायेंगे । तो यह धुन बनाना है, अन्य बातें जैसी हो उसमें व्यवस्था बनायें और अपना जीवन निर्वाह करें । मनुष्य हुए हैं तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की आराधना के लिए हुए हैं । इसी से इस दुर्लभ नर-जीवन के पाने की सार्थकता है ।

पुद्गलद्रव्य की विभावन्यञ्जन पर्यायें—पुद्गलद्रव्य में उक्त सब भेद द्रव्यार्थिकनय के भेदरूप व्यवहारनय के अभिप्राय से किए गए हैं । अब इसी भेद को पर्यायदृष्टि से और द्रव्यप्रदेशों की सीमा में भेद कर रहे हैं । पुद्गलद्रव्य की पर्यायें दो प्रकार की हैं—स्वभावपर्याय और विभावपर्याय । गुण में भी दो प्रकार के भेद हैं, और आकार अथवा व्यञ्जन के भी दो प्रकार के भेद हैं, उनमें स्वभाव व्यञ्जन पर्याय और स्वभाव गुणपर्याय तो सहज स्वाभाविक है, सुगम है । विभावव्यञ्जनपर्याय की बात कहते हैं । विभाव व्यञ्जन पर्याय का अर्थ है कि प्रदेश के आकार में ही बदल है, किन्तु वह बदल नैमित्तिक है, विकाररूप है, जिसको शब्द, बंध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, अंधकार, छाया, उद्योत और आताप इन १० प्रकारों में बताया गया है । इनमें शब्द पर्याय का विवरण सुनो ।

शब्दनामक पुद्गलद्रव्य की विकारव्यञ्जन प्रर्याय—शब्द दो प्रकार के होते है—(१) भाषात्मक और (२) अभाषात्मक । उनमें से भाषात्मक शब्द दो प्रकार के है—(१) अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक याने किसी प्राणी ने अपनी जिह्वा इन्द्रिय से वचन बोला तो वहां भाषा तो निकली, मगर किन्हीं प्राणियों की वह भाषा अक्षरात्मक है और किन्हीं की अनक्षरात्मक है । अक्षरात्मक भाषा अनेक प्रकार की होती हैं । जितनी प्रकार की भाषायें हैं उतनी प्रकार के अक्षरात्मक भाषा शब्द है । संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदिक भाषाओं के भेद हैं, जिन भेदों से आर्य पुरुष और म्लेच्छ पुरुषों का व्यवहार चलता है । अनक्षरात्मक शब्द दो इन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के तिर्यञ्च जीवों में पाया जाता है और सर्वज्ञ की दिव्यध्वनि में भी अनक्षरात्मक भाषा ही है । अभाषात्मक शब्द दो प्रकार के होते हैं—जिन शब्दों में भाषा तो नहीं है, कोई अर्थ की बात ध्वनित नहीं होती, जो अभिप्रायपूर्वक कहा गया नहीं है, किसी प्राणी का शब्द नहीं हैं, किन्तु हैं शब्द तो ऐसे अभाषात्मक । शब्द दो प्रकार के होते हैं—प्रायोगिक और वैस्रसिक । प्रायोगिक का अर्थ है—जो किन्हीं का संयोग वियोग का प्रकार करके शब्द बनाया जाय, किन्तु किन्हीं का प्रयोग न किया, किसी जीव के निमित्त से उनका संयोग वियोग न बनाया गया, किन्तु स्वभाव से ही उनमें से शब्द गर्जना बनती है वे वैस्रसिक शब्द कहलाते हैं । प्रायोगिक शब्द चार प्रकार के कहे गए हैं—तत, वितत, घन और सुषिर । अनेक प्रकार के बाजों की ध्वनि में जो शब्द निकलते हैं उन शब्दों की चार जातियां होती हैं—एक तो तत—जो तारों की वीणा आदिक द्वारा स्वर निकलते हैं, इनमें वीणा, सितार, सारंगी, बेञ्जो, बेलियन, गिटार, हारमोनियम आदिक सब गर्भित हो जाते हैं । वितत कहलाते हैं ढोल आदिक के शब्द । जितने भी प्रकार के ढोल तासा, ढपला, मृदंग, तबला आदिक हैं वे सब वितत में गर्भित होते हैं । घन कहलाते हैं कांसा ताल आदिक के शब्द । जैसे कटोरी बजाना या चिमटा बजाना, कांसा ठोकना, मंजीरा, झांझ ये सब घन शब्द में शामिल हैं और बांसुरी आदिक के शब्द सुषिर के शब्द कहलाते हैं, ये सब प्रायोगिक शब्द हैं । इनके बजाने वाले अभ्यासी पुरुष होते हैं और उसके व्यापार से इन शब्दों में ध्वनि बनती है । वैस्रसिक शब्द उसे कहते हैं जो स्वभाव से होता है । जैसे बिजलीप्रपात, मेघों की गर्जना, अथवा इन्द्रधनुष आदिक से उत्पन्न होने वाला जो शब्द है, जो आवाज केवल स्कंधों की स्निग्धता, रूक्षता, आदिक गुणों के कारण होती है, ऐसे बहुत प्रकार के शब्द वैस्रसिक शब्द कहलाते हैं । ये सभी शब्द पुद्गल के विकार हैं, पुद्गल के संयोग वियोग की प्रक्रियावों से उत्पन्न होते हैं । ये पुद्गल की व्यञ्जन पर्यायें कहलाती हैं ।

बन्धनामक विकारव्यञ्जनपर्याय—अब बंध की कथा सुनो । बंध नाम है सम्बंध का । जहाँ घन बंध हो जाता है वह

सब बंध पर्याय कहलाती है । दो पदार्थों का परस्पर में बंध हो तो वहाँ विकार आया किधर? प्रदेश-प्रदेश परस्पर बंधन में हो गए, परतंत्र हो गए, जैसे मिट्टी के पिण्ड आदिक रूप से और बहुत प्रकार से बंध होते हैं वे हैं पुद्गल बंध, स्कंध बंध, सामान्य बंध और जो कर्म शरीररूप से बंध होता वह है जीव और पुद्गल के संयोग वाला बंध । कर्म के परमाणु और जीव के प्रदेश इनका एकक्षेत्रावगाह रूप बन्धन होता है, यह जीव पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हुआ बंध । इसको द्रव्य बंध कहते हैं, और जीव में जो राग—द्वेषादिक विकार उत्पन्न होते हैं वे भावबंध हैं अर्थात् यहाँ केवल भाव का बंधन है । जीव के स्वभाव में इन रागादिक विकारों का बंधन होता है, यह भावबंध कहलाता है ।

सूक्ष्म और स्थूल नाम की विभावव्यञ्जन पर्याय—अब सूक्ष्म को देखिये—सूक्ष्म के मायने हैं छोटा होना, यह सापेक्ष व निरपेक्ष दो प्रकार की पर्याय है । जैसे बेल की अपेक्षा से बेर सूक्ष्म होता है, तो सूक्ष्मता कहीं होती है सापेक्ष और कहीं है निरपेक्ष । जो सूक्ष्म कहा वही चीज और अधिक सूक्ष्म वस्तु के मुकाबले में स्थूल हो जाती है, पर जो निरपेक्ष सूक्ष्म है वह सदा सूक्ष्म है, तो इन स्कंधों में दृश्यमान पदार्थ में जो सूक्ष्मता का व्यवहार है वह है सापेक्ष व्यवहार, किन्तु परमाणु में सूक्ष्मता की बात कही जाती है वह है साक्षात् अथवा निरपेक्ष । अब स्थूलता की बात सुनो । स्थूलता भी दो तरह से देखी जाती है—(१) सापेक्षता से और (२) निरपेक्षता से । जैसे बेर की अपेक्षा से बेल स्थूल है तो यह सापेक्ष स्थूल का वर्णन है । बेल से बढ़कर मोटा कोई पदार्थ हो तो उसकी अपेक्षा यह बेल सूक्ष्म कहलाने लगेगा । तो सापेक्ष स्थूल व्यवहार में जो अभी स्थूल कहा जा रहा वह सर्वदा स्थूल ही रहे सो बात नहीं, यह है सापेक्षस्थूल । और साक्षात् स्थूलता या सर्वोत्कृष्ट स्थूल है जगत व्यापी महास्कंध । तीनों लोक का समुदायरूप जो अभिप्राय में एक पिण्ड स्वीकार किया वह है सर्वोत्कृष्ट स्थूल ।

संस्थाननामक विभावव्यञ्जनपर्याय—अब संस्थान नामक विभाव व्यञ्जन पर्यायकी बात देखिये—जीव के जो ६ प्रकार के संस्थान बताये गये हैं—समचतुरस्र, निग्रोध, बाल्मीक, कुब्जक, बामन और हुंडक, ये उस-उस जाति के कर्मों के उदय से होते हैं इसलिए इन्हें जीवों में बताया गया है, लेकिन साक्षात् हैं ये सब पुद्गल के ही संस्थान । शरीरादिक समान चतुरस्र हो गए, जितने लम्बे, चौड़े, मोटे चाहिए उस-उस प्रकार से रचे गए, तो रचे कौन गए? पुद्गल ही । यह आकार कहां है? पुद्गल में । अतएव ये सब संस्थान पुद्गल के संस्थान हैं, और इनके अतिरिक्त जो नाना प्रकार के अन्य संस्थान हैं, जीव का जहाँ सम्बन्ध नहीं याने जीवत्यक्त जो ये सब शरीर हैं, वे कभी छिदभिदकर या अन्य-अन्य आकारों में हो जाते हैं तो ये नाना आकार भी पुद्गल के ही संस्थान हैं, जैसे गोल हो जाना, तिकोना होना, चौड़ा होना, चौकोर होना, या मेघपटल आदिक में नाना प्रकार के आकार होना ये सब भी पुद्गल ही हैं, तो ये संस्थान पुद्गलद्रव्य की व्यञ्जन पर्याय हैं अर्थात् उन परमाणुओं में ही, प्रदेशों में ही, आकारों में ही उस प्रकार का फैलाव हुआ है ।

भेदनामक विमावव्यञ्जनपर्यायें—अब भेदनामक पुद्गल द्रव्य की विकार व्यञ्जनपर्यायों को सुनो—भेद ६ प्रकार के होते हैं । भेद का अर्थ है टुकड़ा हो जाना । ये ६ प्रकार के हैं—उत्कर, चूर्ण, खण्ड, चूर्णिका, प्रतर, अणुचटन । उत्कर का अर्थ है—जैसे काठ आदिक को करोती आदिक से टुकड़े कर देते हैं अथवा बसूले आदिक से छीलते हैं तो काठ में जो भाग बना दिया करते हैं वे भेद सब उत्तर कहलाते हैं । चूर्ण नाम उसका है जो गेहूं, जौ आदिक अनाज पिसकर चूर्ण हो जाते हैं । खण्ड कहते हैं घट आदिक के टुकड़े हो जाने को । जैसे घड़े के टुकड़े हो गए, खपरिया बन गई तो ये खण्ड कहलाते हैं । अथवा जैसे दाना शक्कर बनती हैं तो किसी तरह उस रस के उतने खण्ड-खण्ड बना दिए गए वह सब खण्ड नाम का भेद है । चूर्णिका मूँग आदिक की दालों में होता है, उसकी चुनी हो अथवा दो दालें हो गई, यह सब चूर्णिका

नाम का भेद है । प्रतर भेद होता है मेघ पटल आदिक का । मेघ बहुत घने फैले हों और फैल करके भी अलग-अलग हो जाते हैं, तो उनका वह फैलाव प्रतर भेद के ढंग का होता है । अणुचटन फुलिंगों के निकलने को कहते हैं । जैसे—तपते हुए लोहे के पिण्ड पर घन की चोट मारने पर फुलिंगें निकलते हैं वे अणुचटन कहलाते हैं । भेद ही तो हुआ, वहाँ वह सब कुछ एक लोहपिण्ड में था, उसका कोई वह अंश ही तो है जो थोड़े फुलिंगों रूप में अलग होता है । अथवा लकड़ी का कोयला जलता हो उसमें भी फुलिंगे निकलते हैं । वे फुलिंगे पहिले उसी मूल में ही तो थे, अब किसी भी प्रकार से वे फुलिंगे रूप में उचट गए तो वह कहलाता है अणुचटन । इस प्रकार के भेद नामक पुद्गल की व्यञ्जन पर्यायें ६ प्रकार की होती हैं ।

अन्धकार, छाया, उद्योत व आतप नाम की विभावव्यञ्जन पर्यायें—अब अंधकार नामक पुद्गल की व्यञ्जन

पर्याय देखिये—जों दृष्टि का प्रतिबंध करने वाला हो उसको अंधकार कहते हैं । यह अंधकार उन-उन द्रव्यों की व्यञ्जनपर्याय है जिन पर अंधकार है । वह उसके ही प्रदेश का उस प्रकार का परिणमन है । वह है तम नाम की विकार व्यञ्जनपर्याय । छाया व्यञ्जनपर्याय होती है वह जो वृक्ष, मनुष्यादिक के सहारे । जो कुछ भी वर्ण आदिक में विकार आया है, उसकी जो परिणति हुई है उसे छाया कहते हैं । जैसे वृक्ष की छाया धूप में आ जाती है । पृथ्वी का वह प्रकाशरूप मिटकर कुछ उस प्रकार का रूप आया है । अंधकार उसे यों नहीं कह सकते कि वह स्पष्ट दिख रहा है । इसी प्रकार दर्पण आदिक में जो प्रतिबिम्ब पड़ता है उसे भी छाया कहते हैं । यह पृथ्वी और दर्पण आदिक के स्कंधों का ही उस प्रकार का प्रदेश परिणमन है इस कारण यह व्यञ्जनपर्याय कहलाता है । उद्योत नामक विभाव व्यञ्जनपर्याय—चन्द्र के विमान में या पटबीजन आदिक तिर्यञ्चों के शरीर में होता है । जो प्रकाशमय है किन्तु ठंडा है, उसमें गर्मी नहीं है, इस प्रकार को उद्योत पुद्गल की विभावव्यञ्जन पर्याय है और १० वीं पर्याय है आतप-सूर्य के विमान में । पृथ्वी कायों में आतप नाम की विभाव व्यञ्जजनपर्याय होती है । इस तरह नाना प्रकार की व्यञ्जनपर्यायों में ये पुद्गलद्रव्य पाये जाते हैं ।

गाथा — २०७

जं इंदिएहिं गिज्झं रूवं-रस-गंध-फास-परिणामं ।
तं चिय पुग्गल-दव्वं अणंत-गुणं जीव-रासीदो ।।२०७।।

पुद्गलद्रव्य का स्वरूप—जो रूप, रस, गंध और स्पर्श परिणाम युक्त होने के कारण इन इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण में आते हैं वे सब पुद्गलद्रव्य हैं । इस गाथा में पुद्गलद्रव्य का स्वरूप कहा गया है । यहाँ स्पष्टतया यह बताया है कि जहाँ रूप, रस, गंध, स्पर्श का परिणाम होता है वे सब पुद्गलद्रव्य कहलाते हैं । तो जिनमें रूप, रस, गंध, स्पर्श पाये जाये उनको पुद्गल द्रव्य कहते हैं, ऐसे पुद्गलद्रव्य की संख्या जीवराशि से अनन्तगुनी है । अनन्तगुनी क्यों है? तो उसका स्पष्ट प्रमाण तो यह है कि एक जीव ने जो शरीर ग्रहण किया है उस शरीर में अनन्त परमाणु हैं और जीव में जो कर्म बँधे हुए हैं उनमें शरीर से भी अनन्तगुणे परमाणु हैं । तब एक जीव के ही जुम्मे जो संसार में बस रहे हैं अनन्तानन्त पड़े हुए हैं और ऐसे संसारी जीव हैं अनन्तानन्त । तो पुद्गल द्रव्य इस जीव की संख्या से भी अनन्तगुने हो गए । पुद्गल द्रव्य इन इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण में आते हैं क्योंकि पुद्गल पर्याय रूप, रस, गंध, स्पर्श में परिणत हुई है । वह कितनी ही प्रकारों की है ।

पुद्गलद्रव्य के गुणों की पर्यायें—सिद्धान्त ग्रन्थों में बताया गया है कि स्पर्श ८ प्रकार के हैं—शीत, उष्ण, स्निग्ध, सूक्ष्म, कोमल, कठोर, भारी और हल्का । ये स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा जाने जाते हैं, स्पर्श किए जाते हैं, इस कारण ये स्पर्श हैं और ये सब स्पर्शन इन्द्रिय के विषयभूत हैं । रस ५ प्रकार के हैं—तीखा, कडुवा, कषायला, खट्टा, मीठा ये ५ प्रकार के रस रसनाइन्द्रिय के द्वारा निरखे जाते हैं । ये रसना इन्द्रिय के विषयभूत हैं । गंध दो प्रकार के हैं—सुगंध और दुर्गन्ध । ये घ्राणइन्द्रिय के विषयभूत हैं । वर्ण ५ तरह के हैं—सफेद, पीला, नीला, लाल और काला । ये वर्ण चक्षुइन्द्रिय के द्वारा निरखे जाते हैं, इस कारण चक्षुइन्द्रिय के विषयभूत हैं । जो शब्द है वें सब कर्णेन्द्रिय के विषयभूत हैं । ये सभी के सभी विषय पुद्गल द्रव्य कितने हैं? तो सर्व जीव राशि

से अनन्तानन्त गुने हैं । बताया गया है सिद्धान्त ग्रन्थों में कि जीव के द्वारा ग्रहण किए हुए पुद्गल अनन्त हैं और जीवत्यक्त भी पुद्गल अनन्त हैं, इस प्रकार ये अनन्तानन्त सभी पुद्गल द्रव्य जीव से पृथक् हैं । ये अचेतन हैं, जीव चेतन हैं, इनसे निराला जो अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव करता वह जव अन्तरात्मा होता है और इस अन्तरात्मत्व के उपाय से अपने उस परम स्वरूप की प्राप्ति कर लेता है।

गाथा — २०८

जीवस्स बहु-पयारं उवयारं कुणदि पुग्गलं दव्वं ।
देहं च इंदियाणि य वाणी उस्सास-णिस्सासं ।।२०८।।

जीव के पुद्गलद्रव्यकृत उपकार का वर्णन—लोक भावना में समस्त द्रव्यों का वर्णन किया गया है । जब पदार्थ का यथार्थस्वरूप चित्त में आता है तो उस समय मोह रागद्वेष न होने से अथवा रागादिक मंद हो जाने से आत्मा को एक अपूर्ण शान्ति मिलती है । यह लोक कितना बड़ा है, उसके सामने आज के परिचय का क्षेत्र कितना है? यहाँ राग मोह करके इस जीव को क्या लाभ मिलेगा? छोड़ने की चीज है यह । इसी प्रकार इस लोक में क्या-क्या रचनायें हैं, कहां-कहां कैसे-कैसे जीव रहते हैं? अज्ञान के वश होकर कैसे-कैसे शरीरों को ग्रहण करना पड़ता है, जन्म मरण है, ये सब बातें यथार्थ ध्यान में आने से जीव की अशान्ति समाप्त हो जाती है । इस प्रकरण में पुद्गल द्रव्य का वर्णन चल रहा है । जीवतत्त्व का वर्णन करने के बाद पुद्गलद्रव्य का वर्णन इस कारण किया जा रहा है, जीव का पुद्गल के साथ कुछ निकट सम्बन्ध है, और दिख भी रहा है जीव शरीर में बद्ध है । कर्मों का बन्धन होता है और यह जीव सम्बान व असम्बद्ध उस पुद्गल द्रव्य से कितना अपने में विकल्प से काम लेना चाहता है और पुद्गल इस प्रसंग में जीव का क्या-क्या उपकार करता है वह इस गाथा में बताया है । यहाँ उपकार का अर्थ भलाई से नहीं है किन्तु कुछ काम करने से है । चाहे जीव वहाँ सुख माने या दुःख । जोव के किसी भी प्रकार के परिणमन में ये पुद्गल, कर्म, अजीव कुछ भी निमित्त होते हों तो वह पुद्गल द्रव्य का उपकार कहा जाता है । यह पुद्गल द्रव्य जीव का बहुत प्रकार से उपकार करता है ।

शरीर, इन्द्रिय, वाणी श्वासोच्छ्वास, सुख और दुःख की पौद्गलिकता—शरीर इन्द्रियवाणी और श्वासोच्छ्वास इनके होने में निमित्त पुद्गल ही तो है अथवा यह पुद्गलस्वरूप ही तो है । और, इसका जीवों से सम्बंध है इस कारण इसे जीव के प्रति पुद्गल का उपकार कहा गया है । सुख होना, जन्ममरण होना यह पुद्गल द्रव्य का उपकार है, क्योंकि सुख दुःख पुद्गल द्रव्य के सम्बंध बिना, उनका आश्रय किए बिना, कर्म का उदय आये बिना नहीं होता । यद्यपि सुख और दुःख जीव का स्वरूप नहीं है । जीव एक प्रतिभासात्मक पदार्थ है, जो आँखों से दिखता नहीं, कानों से सुना जाता नहीं, किसी भी इन्द्रिय द्वारा ग्रहण में नहीं आता, अमूर्त पदार्थ है और चैतन्य को लिए हुए है, संसार के समस्त पदार्थों में एक विलक्षण पदार्थ है, जो सर्व कुछ जान लेता है । भला मैं सत्रूप तो हूँ, मेरी सत्ता है, मैं हूँ और जाननहार हूँ । मैं कैसा हूँ और किस तरह जार लेता हूँ इसका चाहे हम विश्लेषण न कर सकें, मगर अनुभव में तो आता है कि मैं हूँ कोई और जानने वाला हूँ । यदि ऐसा जानने का स्वभाव जिसका है उसके सम्यक्स्वरूप को सोचा जाये तो उस रागद्वेष मोह सुख दुःख तरंग ये भी स्वभावत: नहीं पाये जाते, किन्तु हैं जीव के ही परिणमन । इनमें निमित्त तो कर्मों का उदय है और आश्रयभूत पदार्थ हैं ये बाहरी विषयभूत पदार्थ । तो इस पुद्गलद्रव्य के आश्रय और निमित्त से ये सुख दुःख आदिक हुए है, इस कारण इन्हें पुद्गल द्रव्य का उपकार कहते हैं । उपकार के मायने हैं कार्य । पुद्गल द्रव्य के निमित्त से यह कार्य बना और चूंकि इसका जीव से सम्बंध है अतएव ये जीव के प्रति उपकार कहलाते हैं ।

जन्म और मरण की पुद्गलकृत उपकाररूपता—जीवन भी पुद्गल द्रव्य का उपकार है और मरण भो पुद्गल का उपकार है, अर्थात् पुदगल द्रव्य के काम हैं । आयु का उदय हुआ जीवन बन गया, आयु का क्षय हुआ मरण बन गया, यह कर्मों के निमित्त से हुआ, इस कारण से ये पुद्गल के उपकार कहलाते हैं, उपकार का अर्थ भलाई नहीं । और भलाई की बात सोचो तो यह जीव अपनी भलाई इसमें मानता है कि मैं पैदा हो गया और खुशी मानता है, और मरण में भी चाहे कोई भलाई न माने पर इस जीव की भलाई जीवन की अपेक्षा मरण से अधिक होती है । यद्यपि संसारी जीवों को मरण के बाद जन्म लेना ही पड़ेगा, मगर कोई मरण ऐसा भी होता है कि जिसके बाद जन्म नहीं होता । ऐसे मरण को कहते हैं पंडितपंडितमरण अथवा निर्वाण ।

अरहंत भगवान के आयु का क्षय होता है तो आयुक्षय का ही तो नाम मरण है । उनका आयुक्षय होने पर मरण नाम नहीं लेते क्योंकि ऐसी रूढ़ि है कि जिसके बाद जन्म हो उसको मरण कहा करते हैं । भगवान को कैसे कह दिया जाय कि लो अब अरहंत भगवान का मरण हो गया, पर है तो आयु का क्षय ही, उसका नाम मरण कहा जायगा । लेकिन इसके बाद जन्म नहीं है, और उनका निर्वाण है इस कारण मरण शब्द से नहीं कहा करते और कहेंगे तो पंडितपंडितमरण कहेंगे अथवा निर्वाण कहेंगे । जो कोई ज्ञानी पुरुष मरण के समय में समाधिभाव रखते हैं, समतापरिणाम रखते हैं उनका भी भला होता है, एक दृष्टि से देखा जाय तो मरण बहुत ही अच्छा उपकार है ।

पुद्गल द्वारा देहादि का निष्पादन और इनके विवेक में जीव का उपकार—देह बनता है, औदारिक आदिक शरीर बनते हैं, इन्द्रियाँ होती है, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र इन सबका जो निष्पादन है वह सब पुद्गल का उपकार है । वाणी होती है भाषात्मक, अभाषात्मक आदिक, अक्षररूप, अनक्षर रूप, वह सब पुद्गलद्रव्य का उपकार है । श्वासोच्छ्वास लेना यह भी जीव का उपकार है, पुद्गल द्रव्य के द्वारा किया गया है । यों जीव और पुद्गल का ऐसा परस्पर कार्य कारण भाव है, एक दूसरे से काम होता रहता है, किन्तु विवेकी पुरुष जिनको भेदविज्ञान प्रकट हुआ है वे सर्वत्र यह देख रहे हैं कि प्रत्येक सत् अपने आपके स्वरूप में रहते हुए ही परिणमन करते हैं । देखिये जीव अगर अपने एकत्वस्वरूप का चिन्तन करे तो उसे कहीं भी दुःख नहीं है । यह जीव तो व्यर्थ का मोह करके, अपनी ही इस मिथ्या करतूत से दुःखी हो जाता है । तब इस जीव का अपने आपके स्वरूप के सिवाय कुछ है ही नहीं, तत्त्वत: विचार कीजिए । वास्तविकता यह है कि जीव का जीव स्वरूप के सिवाय कुछ भी नहीं है । तब अत्यन्त भिन्न पदार्थों में राग होना, अपनायत होना यह सब व्यर्थ का मोह करना, अर्थात् कायदे में तो मोह न होना चाहिए क्योंकि मोह के विषयभूत ये भिन्न पदार्थ हैं, सभी अपने-अपने स्वरूप में रह रहे हैं । ये अचेतन पदार्थ किसी भी चेतन में कुछ अपना व्यापार नहीं करते, लेकिन यह जीव चूँकि उपयोगवान है, बाह्य पदार्थों में उपयोग लगाये रहता है, न लगाये पर में उपयोग और स्वरूप यथार्थ जाने तो इसको कहीं भी कष्ट

नहीं है । इस मोही जीव ने विकल्प करके अपने कष्ट बनाया है । लोक में मेरी इज्जत रहे, मेरी शान बनी रहे, ऐसी चाह इस जीव को पीड़ित करती है । जिनमें राग है, जिनसे प्रीति है उनसे प्रीति भरे वचन सुनना चाहते हैं । अपने आपका उत्पात पर में यदि होता है तो इस उत्पात का फल तो कष्ट ही है । यदि उत्पात न करे यह जीव, समता से शान्ति से जैसा है वैसा अपना विचार करे, पर का विचार करे, ज्ञाताद्रष्टा रहे तो इसको कहीं कष्ट नहीं है । ज्ञानी पुरुष को इसीलिए निराकुल कहा गया है । भले ही किसी स्थिति में कर्मप्रेरणा से इसको कुछ आपत्तियां आयें, लेकिन यह अन्त: तृप्त रहता है, भीतर में व्याकुल नहीं होता है । सो जीव का स्वरूप यद्यपि सुख दुःख का नहीं है लेकिन अनादि बन्धन होने के कारण कर्मोदय में यह जीव अपने को सुखी दुःखी अनुभव करता है । है यह सब पुद्गल के सम्बन्ध से, इस कारण जीव के इस तरह के परिणमन भी पुद्गल द्रव्य के उपकार कहे जाते हैं ।

गाथा— २०९

अण्णं पि एवमाई उवयारं कुणदि जाव संसारं ।
मोह-अणाण-मयं पि य परिणामं कुणदि जीवस्स ।।२०९।।

संसारपर्यन्त पुद्गलकृत उपकार—इसी प्रकार जब तक संसार है तब तक अन्य भी उपकार पुद्गल के द्वारा किए जाते हैं । उपकार के मायने यहाँ मौज की बात नहीं, नहीं तो यह अर्थ हो जायगा कि देखो संसार में जीव का उपकार करने के लिए पुद्गल भी तुले हो जाते हैं । उपकार किसका है? पुदगल के सम्बंध में जो कुछ जीव का हो रहा है वह तो अपकार है, लेकिन यहाँ उपकार का अर्थ काम मात्र है, कार्य हो रहा है । जैसे शरीर मिलना, वचन होना, मन होना, श्वासोच्छ्वास होना यह पुद्गल का उपकार है । सुख दुःख जीवन मरण होना यह पुद्गल का उपकार है, इन सबकी रचना के कारणभूत तो नियम से पुद्गल ही हैं । कर्म के उदय में ये सब रचनायें होती है ।

कर्मों की पौद्गलिकता की सिद्धि—यहां कोई शंका कर सकता है कि कर्म दिखते तो नहीं हैं । ये कहीं व्यवहार में, छूने में आते नहीं हैं, तो ये कर्म पौद्गलिक न होना चाहिए । इन कर्मों का कोई आकार ही नहीं है । जैसे शरीर का आकार है तो शरीर को पौद्गलिक कह लो और दिखने वाले जो ये जीव व्यक्तकाय हैं चौकी आदिक इनका भी आकार है, इन्हें भी पौद्गलिक कह लो, पर कर्म तो निराकार हैं, उन्हें पौद्गलिक क्यों कहा गया ? इसके समाधान में यह अनुमान प्रयोग कर लेना चाहिए कि कर्म भी पौद्गलिक हैं, क्योंकि मूर्तद्रव्य के सम्बंध से इनका विपाक होता है । एक हेतु दिया गया है कि जिसका विपाक, जिसका पकना पुद्गलद्रव्य के सम्बंध से हो वह पौद्गलिक कहलाता है । जैसे धान्य का विपाक । धान्य का पकना मट्टी पान आदिक पुदगल के सम्बंध से होता है, इस कारण धान्य को पौद्गलिक कहा गया है, यों देखा ही जाता है । तो इसी तरह इन कर्मों में भी यह इतना निर्णय रखना चाहिए कि कर्मों का विपाक सुख दुःख आदि जब स्वादिष्ट भोजन आदिक द्वारा होता है तो ये कर्म पौद्गलिक हैं ।

कर्मबन्धन का स्वरूप—ये कर्मपरिणमन कहलाते क्या हैं ? तो इसको दो दृष्टियों से निरखा जाता है—भावदृष्टि से और द्रव्यदृष्टि से याने भाव बंधन और द्रव्य बन्धन । भावबंधन के नाते तो बन्धन कहलाते हैं सुख दुःख रागद्वेषादिक सारे विकार । इनके भावों का उठाना यही कहलाता है भावबंध । जीव में विभावों से परतंत्रता आयी हुई है और जीव अपने किसी स्वभावरूप ही है, वहाँ विभावों का बन्धन बन गया है । केवल सुख दुःख के अनुभव का ही नाम बन्धन नहीं । वह भी बन्धन है और रागद्वेष आदिक किसी भी प्रकार के विकार उत्पन्न हों उसे भी बन्धन कहते हैं । तो भावदृष्टि से तो

रागद्वेष सुख दुख के बन्धन का नाम बन्धन है और द्रव्यदृष्टि से अथवा द्रव्यबन्धन की निगाह से जीव के प्रदेश में पौद्गलिक कर्म का बन्धन होने का नाम कर्मबन्धन है । दोनों ही इसके समाधान हैं । बंध दो प्रकार का बताया गया है—भावबंध और द्रव्यबंध, द्रव्यबंध है या नहीं, इसकी जानकारी के लिए यह समझना चाहिए कि कोई भी पदार्थ स्वयं अपने में अकेला होता है, तो वह न तो अशुद्ध होता है और न उसमें परतंत्रता आती है । एक यह नियम है । अकेले में परतंत्रता क्या और विकार क्या ? कोई भी पदार्थ केवल अकेला ही हो, उसमें किसी भी दूसरे पदार्थ का सम्बंध न हो तो वहाँ न विकार आयगा और न परतंत्रता आयगी । खूब भली प्रकार सर्वत्र निहार लो । एक मोटी बात समझ लो कि जैसे कोई एक पुरुष है, साधु मुनि है वह अपने को अकेला अनुभव करके अकेले का उपयोग रखता है तो उसको बहुत से बन्धन नहीं हैं और विकार भी नहीं हैं । यह एक स्थूल दृष्टान्त कह रहे हैं तो कोई भी पदार्थ खाली अकेला हो, उसके साथ किसी दूसरे का बन्धन न हो, सम्बंध न हो तो वहाँ विकार भी न बनेगा और परतंत्रता भी न बनेगी, लेकिन यहां हम अपने-आपमें तक रहे हैं कि परतंत्रता भी है और विकार भी जगते हैं तो इससे सिद्ध है कि हम में किसी दूसरे पदार्थ का सम्बंध है ।

कर्मों की विजातीयता व सूक्ष्मता—इस प्रसङ्ग तक इतना तो निश्चित हो ही गया है कि मुझमें दूसरे पदार्थ का सम्बंध है । अब इसके आगे बात और देखिये कि अपने से विजातीय, अपने से विपरीत स्वरूप वाला कोई पदार्थ सम्बंध में हो तो विकार जगता है । मैं हूँ चैतन्य ज्ञानस्वरूप और मुझमें जो विपरिणमन हो रहा है, विकार जग रहा है तो समझना चाहिए कि मुझसे विपरीत चीज कोई मेरे साथ लगी है । जैसे मैं चेतन हूँ ऐसे ही चैतन्यमात्र दूसरे सत् मुझसे चिपका हो तो वहाँ न बन्धन बनेगा, न विकार अर्थात् किसी भी चैतन्य पदार्थ के सम्बंध से विकार नहीं जगता, किन्तु कोई अचेतन पदार्थ ही बन्धन में है तब विकार जग रहा है । यहाँ तक दो बातें सिद्ध हो गईं । जीव के साथ किसी दूसरे पदार्थ का बन्धन है तभी इसमें विकार है और पारतंत्र्य है, और वह बन्धन भी है विजातीय पदार्थ का, तो मैं चेतन हूँ तो दूसरा जो कुछ-बँधा है वह अचेतन है । अब तीसरी बात सोचिये—जीव है एक अमूर्त पदार्थ । इस अमूर्त पदार्थ के साथ किसी मूर्तिक का बन्धन कहां? एक यह प्रश्न हो सकता है । उत्तर तो यह है कि अनुभव ही बता रहा है कि बन्धन है तब वहाँ इसका यों निर्णय करना होगा कि वह मूर्तिक पदार्थ भी अतीव सूक्ष्म पदार्थ है और इसी कारण कर्म से अधिक सूक्ष्म परमाणु को माना है और किसी को नहीं माना है । जहाँ पुद्गल स्कंध के ६ भेद किए गए हैं वहाँ सूक्ष्म-सूक्ष्म तो पुद्गल परमाणु कहे गए हैं और सूक्ष्म कर्म कहे गए हैं, तो इससे सूक्ष्म और कुछ नहीं होता । ऐसे सूक्ष्म पुद्गल स्कंधों का अजीव पदार्थों का उसके साथ बन्धन है । अब जिन कर्मों का बन्धन है वे कर्म जीव के साथ एकक्षेत्रावगाहरूप से पड़े हुए हैं ।

मरण के पश्चात् भी जन्म के लिये गये जीव के साथ कर्मों का गमन—जब यह जीव एक भव को छोड़कर दूसरे भव में जाता है तो यह स्थूल शरीर यहीं रह जाता है, जिसे लोग जला देते हैं, पर जीव के साथ वे कर्म पुद्गल बंध साथ नहीं छोड़ते । वे साथ ही जाते हैं और अगले भव के शरीर निष्पन्न होने के वे कारण बनते हैं, इसी कारण अनेक दार्शनिकों ने दो प्रकार के शरीर माने हैं—स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर । जैन सिद्धान्त के अनुसार ये जो औदारिक आदिक शरीर हैं ये हैं स्थूल शरीर और जो कर्म एवं तैजस शरीर है वह है सूक्ष्मशरीर । जैसे परमागम में बताया है कि तैजस और कार्माण शरीर अनादि काल से जीव के साथ सम्बन्ध लिए हुए हैं और वे प्रतिघातरहित हैं । जीव मरण करके जब दूसरे भव में जाता है तो रास्ते में पहाड़ भी होते हैं वज्र भी पड़े हों तो उनसे भी यह जीव छिड़ता नहीं है और जीव

के साथ बँधे हुए कर्म भी छिड़ते नहीं हैं । सो कर्म को अप्रतिघात बताया है, और अनादिकाल से इनका सम्बन्ध है । अनादिकाल से लेकर अब तक भी यह सम्बन्ध दूर नहीं हो सका । जिस समय कर्म का बन्ध थोड़ी देर को हट गया हो तो फिर सदा के लिए यह कर्मबन्ध दूर हो जायेगा । अर्थात् जिनका निर्वाण होता है उनको यह अवस्था प्राप्त होती है कि कर्म की बन्ध परम्परा वहाँ खतम होती है । तो इस जीव के साथ कोई दूसरी चीज लगी है वह दूसरी चीज जीव से विपरीत स्वभाव वाली है और वह है सूक्ष्म, और उसका है जीव में एकक्षेत्रावगाह बन्धन । जीव जब मरण करता है तब उसके साथ ये कर्म जाते हैं और ये कर्म औदारिक आदिक शरीर की निष्पत्ति में कारण पड़ते हैं । तो कर्मों के उदय का निमित्त पाकर ये सब कार्य होते हैं, इस कारण इन सबको पुद्गल का उपकार कहा गया है । इन कार्यों में जीव चाहे मौज माने या कष्ट माने, पर यह पुद्गल का विकार है । पुद्गल के सम्बन्ध बिना ये कार्य नहीं हो सकते, इस कारण इन्हें पुद्गल का उपकार कहा गया है । यहाँ जो विवेक करेगा वह आकुलता न पायेगा और जो इनमें अविवेक से लगेगा वह अशान्त होगा । इस कारण हमारा कर्तव्य है कि हम भेदविज्ञान करें और अपने अन्तःस्वरूप के अनुभव से तृप्त रहा करें ।

भाववचन व द्रव्यवचन की पौद्गलिकता—अब यहाँ बताया जा रहा है कि दुनिया में अपने को जितने व्यवहार के प्रसंग मिल रहे हैं वे सब इस पुद्गल के उपकार हैं अर्थात् पुद्गल के कार्य हैं । अज्ञानी जन यह समझते हैं कि मैं बोलता हूँ, मैं अमुक काम करता हूँ, श्वास लेता हूँ, ऐसी इन पुद्गल की बातों को अपनी करतूत मानते हैं लेकिन इनमें अपनी करतूत नहीं है । ये सब पुद्गल की करतूत हैं । पुद्गल मिल गए, उनकी जैसी योग्यता है उस प्रकार उनकी वृत्ति बन जाती है । हाँ इतनी बात अवश्य है कि जीव का सम्बन्ध है तब ये वचन बोले जाते हैं । श्वासोच्छ्वास चलती है, दैहि की क्रिया होती है । वचन एक भाषावर्गणा जाति के पुद्गल का परिणमन है, जैसे जीभ हिलाया तो इसके हिलने से यहीं भरे पड़े हुए जो भाषावर्गणा जाति के सूक्ष्म पुद्गल हैं वे उस वचनरूप परिणाम जाते हैं । इनको करने वाला मैं आत्मा नहीं हूँ । मैं आत्मा तो सिर्फ भाव बनाता हूँ और अपने आपमें उस तरह का योग किया करता हूँ, हिलता डुलता हूँ । यों योग उपयोग तो उसके परिणमन हैं, फिर इसके बाद वचन जो निकलते हैं सो निमित्तनैमित्तिक भावपूर्वक ये स्वयं निकलते हैं । तो ये वचन भी पुद्गलद्रव्य की क्रिया है । वचन दो प्रकार के हैं—द्रव्यवचन और भाववचन । द्रव्यवचन के मायने जो शब्द सुनाई देते हैं वे द्रव्यवचन कहलाते हैं और उन द्रव्य वचनों को सुनकर भीतर में जो गुनगुनाहट होती है या भीतर में जिन शब्दों के डोलते हुए में ज्ञान करते हैं वह भाववचन है । तो भाववचन कैसे होता है कि जब वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम हो, मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम हो और अङ्गोपाङ्ग नाम कर्म का उदय हो तो ये भाववचन हुआ करते हैं, इस कारण भीतर का जो अन्तर्जल्प है वह भाववचन भी पौद्गलिक है और उस सामर्थ्य करके सहित क्रियावान आत्मा के द्वारा प्रेरित होकर जो ये पुद्गल वचन रूप बन जाया करते हैं वे द्रव्यवचन हैं, ये दोनों पुद्गल के उपकार हैं, ये जीव के स्वयं के परिणमन नहीं हैं ।

मन की पौद्गलिकता—मन भी जिसको अज्ञानी भी बहुत अपनाते हैं, मन राजी होता है वह मन भी पौद्गलिक है, मेरा खुद का स्वरूप नहीं है, पर इस मन में इस आत्मा ने ऐसा लगाव बनाया है कि मन के सिवाय और कुछ अपने को मान ही नहीं पाता । वह मन दो प्रकार का है—भावमन और द्रव्यमन । कर्मों का क्षयोपशम होने पर जो ऐसी योग्यता बनी कि हम किसी वस्तु का विचार कर सकते हैं वह तो भावमन है, ऐसा भावमन गी पुद्गल के सहारे बनता है इस कारण पौद्गलिक है । द्रव्यमन साक्षात् पौद्गलिक है । ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर, अंतराय का क्षयोपशम होने पर और अंगोपाङ्ग का उदय होने पर, गुण और दोष के विचार करने का सामर्थ्य आता है या गुण दोष विचार करने में जो सावधान

हुआ है ऐसे पुरुष को यह मन विचार करने का आलम्बन बनता है । जैसे कहते हैं कि भीतर हृदय पर जो अष्टकमल के आकार एक पुद्गल रचना है वह द्रव्य मन कहलाता है । यह सब पौद्गलिक है ।

प्राणापानादि वायु, सुख, दुःख आदि की पौद्गलिकता—जो वायु निकलती है, प्राण, अपान, आदि यह वायु भी पौद्गलिक है, क्योंकि कर्म के उदय से और जैसा क्षयोपशम है उसके अनुसार यह वायु निकलती है । तो श्वास के बाहर फेंकने को तो उच्छ्वास कहते हैं और श्वास के लेने को निःश्वास कहते हैं । तो श्वास का लेना और बाहर निकालना यह जो जीवन का कारण है यह सब मूर्तिमान है । मूर्तिमान है इसका प्रमाण यह है कि जब कोई भय की बात आती है बज्र गिर गया, बिजली तड़की, किसीने अचानक चीख दिया तो मन दुःखता है । इससे सिद्ध है कि मन मूर्तिक है । किसी प्रकार अगर श्वास की नली में कफ अटक गया तो श्वास रुक जाती है अथवा घृणा वाली चीज देखकर कोई नाक दाबता है तो वायु रुक जाती है । इससे सिद्ध है कि यह श्वास मूर्तिमान है । यह अमूर्त होती तो नाक के दाबने पर रुक न सकती थी । इसी प्रकार सुख दुःख भी: पुद्गल के उपकार हैं । यहाँ उपकार के मायने भलाई न लेना किन्तु कार्य लेना । ये सब पुद्गल के काम हैं । साता असाता का उदय हो और बाह्यद्रव्य अनुकूल मिल जाय तो वहाँ प्रीति का परिणाम होता है, चित्त राजी होता है उसे सुख कहते हैं और असाता वेदनीय का उदय होने पर बाह्यद्रव्यों का प्रतिकूल परिणमन दिखता है जिससे भीतर में यह रंज मानता है और दु:खी होता है । ये भी पुद्गल के ही काम हैं ।

तत्त्वज्ञानियों की पावनता—कोई जीव यदि भीतर दृष्टि देकर एक यह निर्णय करले कि मैं तो केवल चैतन्यस्वरूप हूँ । विशुद्ध जो जानना है वह मेरा कार्य है और जो कुछ विकल्प तरंग आदिक काम होते रहते हैं ये सब पुद्गल के उपकार हैं । ये पुद्गल के कारण से बनते हैं । मैं स्वयं इनका करने वाला नहीं हूँ । मेरा स्वरूप तो शुद्ध जानना देखना है । वे भव्य जीव बहुत ही महाभाग हैं, बहुत ही पुण्यवान पुरुष है कि जिनको बाह्यपदार्थों में मोह नहीं रहता और अपने आपकी स्वरूपदृष्टि में प्रीति उत्पन्न होती है, यह बात कठिन नहीं है । जानकारी होने पर फिर उस जानकारी को कौन मेट सकता है? जान लिया ठीक है । अब कोई कितना ही कहे कि तुम ठीक नहीं जान रहे, क्या होता बहकाने से । जो कुछ जान लिया वह तो जानने में आ ही गया । जब कोई चीज ज्ञान में आ गयी तो उसके विपरीत कोई कैसे मान लेगा? इसी तरह जब भीतरी पुरुषार्थ के वल से अपने आपके स्वरूप का परिज्ञान हो गया, मैं ज्ञानमात्र हूँ ऐसा अनुभव हो गया तब उसे कोई नहीं बह का सकता है? उसकी प्रीति अपने स्वरूप में टिकेगी, बाह्यपदार्थों में मोह नहीं हो सकता । पर होना चाहिए ऐसे आत्मा का अनुभूतिपूर्वक परिचय । एक तो सामान्यतया ज्ञान हो जाना, शास्त्रों में लिखे अनुसार ज्ञान कर लेना और एक उसका साक्षात्कार होकर, अनुभव होकर उपयोग में वह ज्ञानस्वरूप आ जाय इस विधि से परिचय होवे तो वह अनुभूतिपूर्वक परिचय होना है । अनुभवपूर्वक जो परिचय है वह दृढ़ परिचय है । जैसे रूस, अमेरिका आदिक बहुत से देशों का ज्ञान नक्शों द्वारा कर लिया तो वहाँ की पूरी रचना का ज्ञान हो जाता है, उसे भली-भाँति दूसरों को समझा बता भी देते हैं । तो एक तो इस प्रकार का ज्ञान हुआ, और इस प्रकार का ज्ञान होना कि वहाँ जाकर सब कुछ देखकर ज्ञान कर लिया, यह परिचय है अनुभव वाला परिचय । तो अनुभव वाले परिचय में जो दृढ़ता है वह पढ़कर जानने में नहीं है, इसी प्रकार आत्मा का जो परिज्ञान किया जा रहा है वह ऊपरी परिज्ञान है, भीतर तैयारी करके वह परिचय नहीं किया जा रहा है ।

पर से असहयोग व सत्य का आग्रह करके आत्मपरिचय पाने की आवश्यकता—अपने परिचय की भीतरी तैयारी का अर्थ है कि असहयोग और सत्याग्रह करके करना है अपना परिचय । किसी भी प्रोग्राम में पूरी तैयारी के साथ कोई लगता

है तो उसकी दो स्थितियाँ हो जाती हैं—असहयोग और सत्याग्रह । असहयोग तो करना था हमें इन बाह्यपदार्थों का, जिनका सहयोग करने से, जिनका लगाव रखने से हमने दुःख पाया है । यहाँ के संयोग वियोग होना, धन वैभव का मिलना न मिलना आदि सभी स्थितियाँ दुःख के ही कारण बन रहे हैं । यहाँ कोई की ऐसी स्थिति नहीं दिखती जो वास्तविक शान्ति का कारण बन सके । ऐसा जानकर इन बाह्यपदार्थों का पूरा असहयोग ठान लिया जाये । जब कोई भी परपदार्थ मेरे लिए हितकारी नहीं है तो में व्यर्थ में क्यों किसी परपदार्थ को अपने चित्त में रखूं? एक बार अपने चित्त को ऐसा बनायें कि अब तो मुझे किसी भी परपदार्थ को अपने चित्त में नहीं बसाना है । सर्व बाह्यपदार्थ मेरे से अत्यन्त भिन्न हैं, सर्व पदार्थ दुःख के ही हेतुभूत हैं । यों सर्व बाह्यपदार्थों का असहयोग कर दें और भीतर में एक ऐसा सत्याग्रह कर लें कि मैं तो ज्ञानमात्र हूँ, अन्य रूप नहीं हूँ, मैं ज्ञान को ही करता हूँ, ज्ञान को ही भोगता हूँ, ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है, ज्ञान के सिवाय अन्य कुछ नहीं है, मैं ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा एक सत्य आग्रह कर लिया जाये तो जीव को अपने आत्मा का अनुभवपूर्वक परिचय हो सकेगा, ऐसा परिचय अगर उस जीव को हो जाय तो वही वास्तविक अमीर है, महान है । आज पुण्ययोग से यदि उत्तम साधन पाया है, आजीविका भी ठीक है, किसी भी प्रकार की असुविधा नहीं है, कोई शारीरिक आपत्तियाँ नहीं हैं, कुल भी श्रेष्ठ मिला है, जहाँ आचार विचार अच्छा चलता है, जैनशासन मिला है, तत्त्वज्ञान की योग्यता मिली है तो ऐसे सुन्दर अवसर को पाकर एक ऐसी तैयारी कर लेना चाहिए कि जिस किसी भी प्रकार हो, मुझे अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप का परिचय कर लेना है, इसके अतिरिक्त अन्य सब कार्य असार हैं, और अनुभव भी बताता होगा कि बहुत काल से बाह्यपदार्थों में लगे रहे, कितनी ही कमाई किया, कितने ही लोगों से परिचय किया, कितने ही दंदफंद किए फिर भी अंत में हाथ कुछ न लगा । तो ये सर्व

समागम असार हैं । तो सबको भूलकर एक ज्ञानस्वरूप के भावना की धुन बनाना चाहिए । ऐसा करने से ही आज का जो महान समागम पाया है वह सफल हो जायगा । बाकी ये सब पुद्गल के काम हैं, पुद्गल के उपकार हैं ।

पुद्गलकृत कार्यों में प्रीति न करने का निश्चय—इस प्रकरण को सुनकर हमें इस निर्णय में आना चाहिए कि जो-जो पुद्गल के उपकार हैं उनमें मेरे को प्रीति नहीं करना है । जीवन और मरण भी पुद्गल के उपकार बताये गए थे, उस ही से सम्बंधित यहाँ मरण की बात कह रहे हैं कि मरण नाम है किसका? प्राणापान जो क्रिया चल रही है, श्वास लेने और फेंकने की जो क्रिया चल रही है इस क्रिया विशेष का विच्छेद हो जाय, यह क्रिया समाप्त हो जाय तो इसी का नाम मरण है । जीव ने आयु के उदय से भव पाया था । अब उस आयु के क्षय से सम्बंधित यह प्राणापान क्रिया का विच्छेद हो जाना वही मरण है । तो ये सुखदुःख जीवन मरण आदिक सब पौद्गलिक हैं, क्योंकि मूर्तिमान कारण के प्राप्त होने पर ही ये चीजें उत्पन्न होती है ।

विविध पुद्गलों द्वारा जीव का सांसारिक उपकार—जीव के उपकारक पुद्गल केवल शरीरादिक की ही रचना के कारणभूत हों यही बात नहीं है किन्तु इस जीव का उपकार उनसे तो हुआ है लेकिन जो अन्य चीज है, जल है, भस्म है, अग्नि हैं, धातुवें हैं, इन सबसे उपकार देखा जा रहा है । यहाँ जीव के उपकार का अर्थ है कि संसार अवस्था में जीव जिन-जिन बातों में पड़ा हुआ है वे सब पुद्गल के सम्बंध से हो रहे हैं । अभी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति इन पांचों से किसी एक से काम न लें तो यहाँ का सब व्यवहार रुक जाय । पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इनके बिना किसी का गुजारा नहीं चलता । पंचमकाल का अन्त होने के बाद छठा काल आयगा, उस छठे काल में अग्नि का भी लोप हो जायगा, तब फिर भोजन बनाने के कुछ भी साधन न रहेंगे । तो फिर वहाँ मनुष्य सभी वनचर पशुओं की भाँति माँसभक्षी हो जायेंगे । और जब छठे काल का अन्त होता तो प्रलय होता है । इसके बाद फिर छठा काल शुरू होता है । छठे काल के बाद फिर छठा काल आया तो जो वृत्ति पहले छठे काल में थी वही वृत्ति दूसरे छठे काल में होगी; लेकिन फर्क इतना है कि पहिले छठे काल में खोटी वृत्तियाँ बढ़ती हुई चल रही थीं और दूसरे छठे काल में घटती हुई खोंटी वृत्तियाँ चलेंगी । फिर पंचम काल आयगा । बाद में चतुर्थ काल आयगा । वहाँ फिर तीर्थंकर जन्मेंगे, धर्म का प्रसार होगा । तो बात यहाँ यह बतला रहे थे कि अग्नि न होवे तो यह गड़बड़ी हो जायगी । यहाँ का जो उपकार है वह सब पुद्गल के सम्बंध से है । इस तरह ये सब शरीर मन आदि पुद्गल के द्वारा रचे गए हैं । अजीव के उपकार को बताकर अब यह बतलाते हैं कि जीव-जीव भी परस्पर एक दूसरे का कुछ उपकार (काम) करते हुए पाये जाते हैं ।

गाथा — २१०

जीवा वि दु जीवाणां उवयारं कुणदि सव्व-पच्चक्खं ।
तत्थ वि पहाण-हेऊ पुण्णं पावं च णियमेणं ।।२१०।।

जीवों का परस्पर उपकार व उस उपकार में पुण्य पाप की प्रधानहेतुता—जीव एक दूसरे का उपकार करता है इस बात को सभी लोग प्रत्यक्ष से जान रहे हैं, लेकिन वहाँ भी प्रधान कारण हैं पुण्य और पाप । यदि पिता पुत्र की पूछ करता है और पुत्र पिता की पूछ करता है तो वहाँ उनके पुण्योदय का फल है । शिष्य और गुरु का जो परस्पर का सम्बंध है, शिष्य गुरु का उपकार करता है और गुरु शिष्य का उपकार करता है, तो इन सबमें भी कारण पुण्य पाप है । सभी लोगों को प्रत्यक्ष हो रहा है कि जीव जीव का उपकार करता है । सूत्र जी में बताया है कि 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' यह जीव

एक दूसरे का उपकार करता है । यहाँ भी उपकार का अर्थ भलाई नहीं है किन्तु उन्हें किसी काम में लगाये रहना है, उनकी रुचि करना है अथवा उनके प्रतिकूल चलकर उन्हें विकल्प पैदा करना है । किसी भी प्रकार हो, जीव भी दूसरे जीव के भले बुरे होने में कारण हो जाया करते हैं । जैसे स्वामी सेवक को धन देकर उपकार करता है, सेवक स्वामी को कुछ हितोपदेश देकर उपकार करता है, सेवक स्वामी की कुछ सेवा करके स्वामी का उपकार करता है । आचार्य शिष्य को उपदेश देकर उपकार करता है तो शिष्य आचार्य के अनुकूल चलकर आचार्य को राजी रखता है तो इसी प्रकार पिता पुत्र का परस्पर उपकार, स्त्री पति का परस्पर उपकार, मित्र-मित्र का परस्पर उपकार पाया जाता है । उपकार भी होता है और इसके द्वारा एक दूसरे का अनुपकार भी होता है । कैसे-कैसे द्वेषभाव में आकर जीव दूसरों का बिगाड़ करता है, और दिखता भी हैकि इस राग और द्वेष के कारण एक जीव दूसरे जीव की परिणति कराता रहता है । कोई मित्र अपने मित्र का यदि विषय पदार्थों का सम्बंध बनाकर उपकार करता है तो कहा तो जाता है उपकार, मगर बनाया क्या गया? अपकार का समागम ।

पुण्य पापानुसार अन्य जीवों की सुख दुःख के साधनों में निमित्तता होने का वृत्त जानकर अपने भावों के सुधार की आवश्यकता—किसी कवि की दृष्टि में यह कथन युक्त ही है कि किसी का यदि विरोध करना है, किसी से बदला लेना है तो बजाय लड़ाई करने के तृष्णा का कोई ऐसा संयोग मिला दिया जाय तो यह उसका बहुत बड़ा बदला होगा । जैसे एक कहानी है कि किसी सेठ के पड़ोस में कोई एक बढ़ई रहता था । बढ़ई गरीब था, लेकिन जो भी दो तीन रुपये रोज कमाता उनसे खूब अच्छा-अच्छा खाता पीता था, और सेठ के यहाँ सीधासादा भोजन प्रतिदिन बनता था । सेठानी रोज-रोज कहा करती थी कि देखो अपना पड़ोसी बढ़ई गरीब होने पर भी कितना अच्छा-अच्छा खाता पीता और मौज में रहता है, पर आप सेठ होकर भी सीधा सादा खानपान रखते हैं । तो सेठ ने अपनी इस रोज-रोज की परेशानी को मिटाने के लिए क्या किया कि एक दिन शाम को बढ़ई के घर की आंगन में एक ९९ रुपये की थैली फेंक दी । सुबह जब बढ़ई ने पाया तो बड़ा खुश हुआ । उस दिन बढ़ई ने १) बचाकर थैली के १००) पूरे कर दिए, अब उसे तृष्णा बड़ी । शतपति से हजारपति बनने की इच्छा हुई । सो प्रतिदिन रूखा सूखा खाकर धन कमाने और जोड़ने के चक्कर में पड़ गया । तो देखिये—सेठ ने कैसा तृष्णा का संयोग मिलाकर बढ़ई को हैरानी में डाल दिया । लोक में बान्धव मित्र लोग विषयकषायों के साधन जुटाकर कितना परेशानी में डाल रहे हैं । लेकिन उन्हें परेशानी में डालने वाले लोगों को ही ये मोही प्राणी अपना हितू समझते हैं । यहाँ बाह्यपदार्थों के विषयों में किसी को लगा देना, वही उसके लिए दुख का कारण है । ये ज्ञानी-संतजन इन कुटुम्बीजनों से बढ़कर कुटुम्बी है । ये रागद्वेष अज्ञान मोह को त्यागने का उपदेश करते हैं, शान्ति की विधि बताते हैं, जिससे रागद्वेष हटते हैं, ज्ञानप्रकाश मिलता है, और यह जीव अपने में शान्ति का अनुभव करता है । तो उपकार का अर्थ इस प्रकरण में भलाई न लेना किन्तु कुछ भी काम

कर देना, किसी भी काम में लगा देना इतना ही परस्पर में जीवों का उपकार है । सो होता है यह सब, लेकिन इसमें प्रधान कारण अपने-अपने ही पुण्य पापकर्म हैं । पुण्योदय होगा तो कुटुम्ब के लोग भी पूछ करेंगे और यदि पुण्योदय नहीं है, पापकर्म का उदय है तो कुटुम्ब के लोग भी किनारा कर जायेंगे । इससे पुण्य पाप को अपने आधार पर जानकर अपने परिणाम अच्छे रखें ताकि पाप का बंध न हो और कभी इस परम्परा में ऐसा अवसर पायें कि धर्मध्यान बने, आत्मध्यान बने और कर्मबन्धन से व सांसारिक दुःखों से सदा के लिए छुटकारा प्राप्त हो ।

गाथा — २११

का वि अउव्वा दीसदि पुग्गल-दव्वस्स एरिसी सत्ती ।
केवल-णाण-सहावो विणासिदो जाइ जीवस्स ।।२११।।

पुद्गल के स्वरूप और सामर्थ्य का वर्णन—यहां पुद्गल का वर्णन चल रहा है कि पुद्गल द्रव्य कैसे होते हैं, कितने भेद वाले हैं? जगत में जो कुछ दिख रहा है ये सब पुद्गल है, और ऐसे भी पुद्गल हैं जो आंखों दिखते नहीं । जिन में रूप, रस, गंध स्पर्श पाया जाय उसे पुद्गल कहते हैं । उनमें कोई पुद्गल दिखते हैं कोई पुद्गल आँखों नहीं दिखते । जैसे कर्म ये भी पुद्गल हैं । कर्मों की बात सभी लोग कहते हैं, कर्म, तकदीर, भाग्य, देव आदि किन्तु कर्म का क्या स्वरूप होता है, इस बात का वर्णन अन्यत्र नहीं मिलता । कर्म पौद्गलिक हैं, उनमें रूप, रस, गंध, स्पर्श पाया जाता है, ऐसे कर्म कैसी शक्ति रखते हैं और ये दिखने वाले पदार्थ कैसी शक्ति रखते हैं उस बात का इस गाथा में वर्णन है । कहते हैं कि पुद्गल द्रव्य की कोई अपूर्व ऐसी शक्ति मालूम होती है कि जिसके कारण जीव का केवल ज्ञानस्वभाव नष्ट हो गया है । जीव में ज्ञान का स्वभाव और स्वभाव के कारण ज्ञान में इतना विशाल स्वभाव पड़ा है कि जगत में जो कुछ भी था, है, और होगा वह सब कुछ ज्ञान जान लेता है । तो इतने समस्त पदार्थों को जानने का स्वभाव होने पर भी आज जीव में यह ज्ञानस्वभाव प्रकट नहीं देखा जा रहा है । केवलज्ञान यदि होता तो कोई झगड़ा न था । यह मोह इस कम ज्ञान में ही तो बनता है । कम ज्ञान है, समझ में नहीं आता, स्वरूप का बोध नहीं, कुछ आगे पीछे की मालूम नहीं, तो विकल्प करते हैं, पर से लगाव रखते हैं, केवलज्ञान होता है तब जब रागद्वेष मिट जायें, और केवल ज्ञान होने पर तीनों काल, तीनों लोक के सर्व पदार्थ स्पष्ट ज्ञान में आते हैं, उनके अज्ञान ही नहीं है, विकल्पों का वहाँ किसी भी प्रकार मौका नहीं है, ऐसा ज्ञान हम आपके आज तो नहीं है ।

आत्मस्वभाव को विपरिणत कर देने में पुद्गलद्रव्य की विलक्षण शक्ति का विवरण—सकलज्ञान हम आपके क्यों नहीं है? कोई दूसरी चीज हम आपमें साथ ऐसी लगी है कि जिसका निमित्त पाकर हम आप शुद्ध ज्ञान, नहीं हैं । तो ऐसा अन्तरङ्ग निमित्त है कर्म । कर्म का उदय होने से, ज्ञानावरण कर्म के उदय का निमित्त पाकर जीव का ज्ञानस्वभाव ढक गया है, और दिखने वाले जो ये पदार्थ हैं, सोना, रत्न, हीरा माणिक, धन, धान्य, शरीर स्त्रीपुरुष, चेतन, अचेतन पदार्थ, इनमें भी ऐसी अपूर्व शक्ति है कि जिसका आश्रय लेने से ज्ञानस्वभाव हमारा ढक गया है । जीव जब रागद्वेष करता है तो इसे जो वस्तु अच्छी लगती है उसमें राग करता है, क्यों अच्छी लगती है कि इसको अपने ज्ञानस्वभाव का पता नहीं है और न आत्मा का शुद्ध स्वभाव क्या है, इसकी वास्तविक करनी क्या है, न इसका भान है, तो बाहरी पदार्थों में लग रहा है, कहीं तो रमेगा यह जीव । जब खुद का धाम इसको रमने के लिए न मिले तो यह बाह्य पदार्थों में रमता है । इष्ट वस्तु में राग और अनिष्ट वस्तु में द्वेष करने से कर्म का बंध होता है और उस कर्मबन्ध के कारण उनका उदय आने पर नये-नये कर्म

बाँधता रहता है, नये-नये जन्म और मरण करता रहता है । मरण में शरीर मिलता है शरीर में इन्द्रियाँ होती हैं । इन्द्रियों के द्वारा फिर इन विषयों का उपभोग करता, उससे फिर इसे इष्ट वस्तु में राग और अनिष्ट वस्तु में द्वेष होता है, बस रागद्वेष से कर्मबन्ध, कर्मोदय से रागद्वेष यह परम्परा अनादिकाल से चली आयी है । इससे इस जीव का जो वैभव है वह सब विकृत हो गया है ।

विकल्प करके स्वयं के द्वारा शान्ति का विघात—आज यह स्थिति है कि शान्ति नहीं है, इस जीव को शान्ति नहीं है सो अशान्ति कोई दूसरी चीज नहीं पैदा कर रही, यह खुद ही कल्पनायें बनाता है और अशान्त हो जाता है । पड़ोस के लोग, बिरादरी के लोग, देश के लोग हमें कुछ समझें, हमारी इज्जत करें, इनमें मेरी पोजीशन रहे आदि ये सब व्यर्थ के ख्याल बनाये जाते हैं । अरे इस जीवतत्त्व को समझने वाला यहाँ है कौन? मुझ को समझने वाला यहाँ कोई नहीं है । और मान लो आज मनुष्य न होते, अन्य किसी भव में होते, जैसे कि ये कीड़ा, मकौड़ा, वृक्ष, पृथ्वी आदिक, तो फिर ये कौन मनुष्य मुझे समझता? तो आज मनुष्य होनेपर भी जो मेरा अन्त:स्वरूप है उसको समझने वाला यहाँ कोई नहीं है, बाहरी नाक, आँख, कान आदिक को देखकर ही लोग नाम रखते हैं । तो यहाँ कोई हमारा जानने समझने वाला नहीं है । किसको क्या पोजीशन दिखाना, किसको क्या करना? परिग्रह परिमाण व्रत में बताया है कि दूसरे विशेष पुण्यवानों का वैभव देखकर अपने में पोजीशन बढ़ाने की भावना करना और ऐश आराम के साधन जुटाने की अभिलाषा करना इसको पाप बताया है । इससे अशान्ति मिली है । यह अधर्म है ।

पर का व्यामोह छोड़कर अपनी सम्हाल करने का अनुरोध—जैनशासन का उपदेश है कि गृहस्थजन न्यायवृत्ति से काम करें और पुण्यानुसार जो उन्हें लाभ होता है उसके ही अन्दर अपनी व्यवस्था बनायें, लोकलाज को छोड़ दें कि लोग क्या कहेंगे ये बड़े गरीब हैं, इनकी पोजीशन साधारण है । अरे कहने वाले हैं, उनका मुख है, उनका भाव है, उनसे मेरे में क्या बिगड़ होता है? यदि अपने धर्म से हम डिग गए, स्वभाव से हम चिग गए तो इसका फल यहाँ कोई दूसरा भोगेगा क्या? पाप करने का बुरा फल होगा, जिनके लिए पाप किया जा रहा है अथवा जिनका लक्ष्य करके पाप किया जा रहा है वे कोई मददगार नहीं हो सकते । अपनी बात अपने को सम्हालनी है । अगर सत्य बोध हो तो अशान्ति का कोई कारण नहीं । अशान्त होता है यह जीव परिग्रह के सम्बंध से । और, परिग्रह का सम्बंध जुटाया है इस जीव ने पर्यायबुद्धि से । पर्याय से भिन्न अपने आत्मा के स्वरूप को निरख लिया जाय तो वहाँ अशान्ति नहीं है । दुनिया में कहीं कुछ भी हो, कैसे ही परिणमन हों, वैभव आये अथवा जाये, कुछ भी बाह्य बात हो, उस परिणमन से मेरा क्या सुधार बिगाड़ है, क्या सम्बंध है? ऐसा अपने आपके स्वरूप की ओर दृढ़ तो रहे, उसे अशान्ति नहीं हो सकती । तो यह ज्ञान नहीं है, रागद्वेष की बुद्धि है उससे ये सब विडम्बनायें लग गई हैं, जो कठिन बन गई हैं, शरीर में बँधे हैं, राग होता है, मरण होता

है, जन्म लेना पड़ता है, नई-नई विपत्तियाँ आती रहती हैं, ये सब विडम्बनायें अज्ञान के कारण ही तो हमने बनायी । उस अज्ञान को नहीं मिटाना चाहते । उपादान दृष्टि से तो जीव स्वयं अपने अपराध से अज्ञानी बना है, लेकिन निमित्त दृष्टि से यही बात निर्णीत है कि कर्मोदय से यह जीव ज्ञानस्वभाव को प्रकट नहीं कर पा रहा । तो पुद्गल द्रव्य में ऐसी कैसी अपूर्व शक्ति है कि जिसके कारण जीव का ज्ञानस्वभाव नष्ट किया गया है । अर्थात् केवल ज्ञानावरण कर्म के उदय से जीव अज्ञानी बना है । तो इस पुद्गल में कैसी अपूर्व शक्ति है । यहाँ तक पुद्गल द्रव्य का वर्णन किया । द्रव्य की ६ जातियाँ बतायी गई हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । तो पूर्व के दो द्रव्यों का वर्णन करके अब धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य का वर्णन करते हैं ।

गाथा — २१२

धम्ममधम्मं दव्वं गमण-ट्ठाणाण कारणं कमसो ।
जीवाण पुग्गलाणं विण्णि वि लोग-प्पमाणाणि ।।२१२।।

धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्य का स्वरूप—धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य ये पदार्थ हैं—पुण्य पाप का यहाँ नाम नहीं है । जैसे पुद्गल कोई पदार्थ है ऐसे ही एक धर्मद्रव्य नाम का भी पदार्थ है और अधर्मद्रव्य नाम का भी पदार्थ है । ये पदार्थ बहुत सूक्ष्म हैं, इनका वर्णन करना बहुत कठिन है । यह स्वयं मैं नहीं हूँ इस कारण अनुभव से भी इसे नहीं जान सकते । और यह अमूर्त है इस कारण इसे नहीं जान सकते । तब उपकार और कार्य निमित्त की बात कहकर धर्मद्रव्य अर अधर्मद्रव्य का स्वरूप बताया जाता है । धर्मद्रव्य उसे कहते हैं जो जीव पुद्गल के गमन में सहकारी हो । अधर्मद्रव्य उसे कहते हैं जो जीव पुद्गल के ठहरने में सहकारी हो अर्थात् धर्मद्रव्य का उपकार है कि यह गमन और स्थिति में कारण होता है । धर्मद्रव्य एक है और उतना बड़ा है, जितना कि लोकाकाश है, लोकाकाश में सर्व प्रदेशों में एक-एक प्रदेश व्यापकर धर्मद्रव्य फैला हुआ है । इसी प्रकार अधर्मद्रव्य भी उतना बड़ा है बस यह उदासीन रूप से अपना सत्त्व रखता है और अपनी सत्ता से है, अपने में उत्पादव्ययध्रौव्य करता रहता है । अब उनका निमित्त पाकर जीव पुदगल चलते हैं और ठहरते हैं । तो इस जीवपुद्गल के चलने और ठहरने के निमित्त से उत्पादव्यय का ज्ञान कराया जाता और वस्तुत: उनमें द्रव्य होने के नाते स्वयं ही उत्पादव्यय है । प्रत्येक पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूप है, जैसे जीव है, मनुष्य है, आज तो मनुष्य रूप में है और मरण करके देव हो गए तो मनुष्यरूप का तो विनाश हो गया और देवरूप का उत्पाद हो गया, फिर भी जीव वही रहा । तो ऐसे ही जो भी पदार्थ हैं, सबका स्वरूप है; वह अपने में नई अवस्था बनाता है पुरानी अवस्था विलीन करता है और दोनों अवस्थाओं में भी ध्रुव रहता है । ऐसे ही धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य हैं ।

धर्मद्रव्य की गतिहेतुता—धर्मद्रव्य जीव और पुद्गल के गमन में सहकारी कारण होता है । जैसे—मछलियों के चलने में जल सहकारी कारण है लेकिन जल मछली को जबरदस्ती नहीं चलाता । मछली अगर ठहरे तो जल जबरदस्ती ढकेलता नहीं है कि तू ठहरी क्यों है? मैं तो तेरे चलने में कारण यहाँ मौजूद हूँ । इससे मालूम होता है कि जल उदासीन कारण है, प्रेरक नहीं, मगर जल के बिना मछली चल नहीं सकती । इस कारण उसे कारण कहा है । तो ऐसे ही धर्मद्रव्य जीव पुदगल को जबरदस्ती चलाता नहीं है कि तेरे गमन का कारणभूत मैं यहाँ मौजूद हूँ, तू चलती क्यों नहीं है? लेकिन धर्मद्रव्य के अभाव में जीव पुद्गल चल नहीं सकता । अलोकाकाश में धर्मद्रव्य नहीं है तो वहाँ जीव पुद्गल नहीं जा पाया है । इसी प्रकार एक अलौकिक दृष्टान्त भी सुनो कि जैसे भव्य जीवों को सिद्धगति प्राप्त करने के लिए भगवान का स्मरण कारण है, सिद्धगति कोई गति, भेद नहीं है, किन्तु चारों गतियों से रहित, जो अवस्था है उसको सिद्धगति कह लीजिए ।

निश्चयनय से तो जो निर्विकल्प समाधि में परिणत हुये जीव है, अर्थात् अपने उपादान कारण में आये हुए जो जीव हैं उनको सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है, फिर भी व्यवहार से देखा जाय तो जब वे सिद्धभक्ति कर रहे हैं, सिद्ध प्रभु का स्मरण कर रहे हैं उस सिद्ध के समान अनंत ज्ञानादिक गुणस्वरूप हूँ यह भावना भी तो निरर्थक नहीं जाती, परम्परा से यही भावना शुद्ध अवस्था का कारण बनती है, तो जैसे सिद्ध भगवान अमूर्त हैं, वे मुझ से क्रिया नहीं कराते, मेरे को प्रेरणा नहीं देते, पर मैं सिद्धगति के योग्य परिणति करूँ तो मेरी उस सिद्ध अवस्था की प्राप्ति में, सिद्ध गति में वह सहकारी कारण बनता है, इसी प्रकार यह धर्मद्रव्य निष्क्रिय है, अमूर्त है, प्रेरणा नहीं करता, फिर यह जीव पुद्गल अपने ही उपादान कारण से चले तो उनकी गति में सहकारी कारण होता है ।

अधर्मद्रव्य की स्थितिहेतुता—धर्मद्रव्य की तरह अधर्मद्रव्य भी लोकाकाश में व्याप्त है और वह जीव पुद्गल के ठहरने में सहकारी कारण है । जैसे मुसाफिर के ठहरने में वृक्ष की छाया सहकारी कारण है । गर्मी के दिन हैं तेज धूप है, गर्मी खूब सता रही है, मुसाफिर चलते हुए में यह इच्छा करता है कि कहीं मुझे छायादार पेड़ दिखे तो मैं उसके नीचे पहुंचकर आराम करूँ । कोई छायादार वृक्ष मिलता है, तो उसके नीचे वह ठहर जाता है । अब उस मुसाफिर को वृक्ष ने जबरदस्ती नहीं ठहराया कि मैं तेरे ठहरने का कारण यहाँ मौजूद हूँ, तुझे ठहरना पड़ेगा, किन्तु उस मुसाफिर को स्वयं ही ठहरने की इच्छा थी तो उस मुसाफिर के ठहरने में वह वृक्ष कारण बन गया । ऐसे ही अधर्मद्रव्य जीव पुद्गल को जबरदस्ती ठहराता नहीं हैं कि तू चल क्यों रहा है, तेरे ठहरने का कारण मैं यहाँ मौजूद हूँ, तुझे ठहरना पड़ेगा, किन्तु जो जी पुद्गल चलते हुए ठहरना चाहते हैं, ठहर रहे हैं उनके ठहरने में सहकारी कारण अधर्मद्रव्य है । अथवा एक अलौकिक दृष्टान्त सुनो—वास्तविक स्वास्थ्य, वास्तविक कल्याण तो अपने स्वरूप में ठहरने में है । यह जीव यदि अपने स्वरूप में ठहर जाय तो इसके सारे संकट समाप्त हो जायें । कोई विकार न रहे कोई इच्छा न रहे, फिर कोई अशांति नहीं, घबड़ाहट नहीं । किसी भी परद्रव्य को अपने चित्त में बसाना योग्य नहीं, अपने ही स्वरूप में ठहरना चाहिए । तो यह जीव अपने स्वरूप में ठहरे उसका कारण है स्वसम्वेदन ज्ञान से उत्पन्न हुए आनन्द का अनुभव । मैं सिद्ध समान शक्ति से शुद्ध हूँ, सिद्ध हूँ, अनन्तज्ञान आदिक से समृद्ध हूँ, इस तरह का जो सिद्ध प्रभु का ध्यान है वह भव्यजीवों को अपने स्वरूप में ठहरने का कारण बनता है । तो वे सिद्ध प्रभु प्रेरक नहीं हैं । जबरदस्ती नहीं करते, वे स्वयं चलकर ठहरने वाले नहीं हैं लेकिन भव्य जीवों को अपने स्वरूप में ठहरने के लिए सिद्धस्मरण सहकारी कारण है, ऐसे ही समझिये—अधर्मद्रव्य ठहरते हुए जीव पुद्गल के ठहराने में सहकारी कारण है । ठहर तो रहे हैं अपने ही उपादान कारण से, अगर अधर्मद्रव्य न हो तो ये ठहर नहीं सकते । जैसे कि अलोकाकाश में अधर्मद्रव्य नहीं है तो वहाँ यह जीव पुद्गल की स्थिति भी नहीं पायी जाती ।

धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्य का ऋषि संतों की वाणी में प्रामाणिक वर्णन—दोनों द्रव्य (धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य) अमूर्त

हैं । लोकाकाश के प्रदेश के बराबर हैं, असंख्यातप्रदेशी हैं । ऐसे धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य का लोगों ने ज्ञान तो नहीं किया, वैज्ञानिक भी स्पष्ट नहीं बता पा रहे हैं, हाँ गतिक्रिया में हेतुभूत किसी ईथर मेटर का अनुमान करते हैं, किन्तु वीतराग सर्वज्ञदेव के ज्ञान से कुछ भी चीज बाहर नहीं । उनके उपदेश परम्परा से आचार्यसंतों ने बताया है कि धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य इस लोक में है और वे जीव पुद्गल के गमन कराने में और ठहराने में सहकारी कारण होते हैं । यहाँ तक जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म से इन चार द्रव्यों का स्वरूप कहा । अब आकाशद्रव्य का स्वरूप कहते हैं ।

गाथा — २१३

सहलाणं दव्वाणं जं दादुं सक्कदे हि अवगासं ।
तं आयासं दुविहं लोयालोयाण भेएण ।।२१३।।

आकाशद्रव्य का स्वरूप—आकाशद्रव्य उसे कहते हैं जो समस्त द्रव्यों को अवगाह दे, स्थान दे । सभी चीजें कहां भरी रहती हैं ? आकाश में । आकाश में यह सामर्थ्य है कि यहाँ पदार्थ आते जायें । कहीं-कहीं तो पदार्थ में पदार्थ भी समा जाते हैं । तो इसमें मूल कारण तो आकाश है ही । पर उन पदार्थों में ऐसी विशेषता है कि वे पदार्थ दूसरे पदार्थ का प्रतिघात नहीं करते । जो सर्वद्रव्यों को अवगाह देने में समर्थ है उसे आकाश कहते हैं । वह आकाश दो प्रकार का है लोकाकाश और अलोकाकाश । आकाश के स्वयं दो भेद नहीं हैं, आकाश तो अखण्ड एक द्रव्य हैं। कोई आकाश के टुकड़े कर सकता है क्या? वह अखण्ड चीज है, पर उसमें यह विभाग बनाया है कि जितनी जगह में छहों द्रव्य हैं उतने को लोकाकाश कहते हैं, और जहाँ केवल आकाश ही है, अन्य कोई द्रव्य नहीं है उसको अलोकाकाश कहते हैं ।

सर्वद्रव्यों में अवगाहनशक्ति होने व न होने की एक जिज्ञासा—अब यहाँ एक शंका की जा सकती है कि बतलाओ सर्वद्रव्यों में अवगाहना शक्ति है या नहीं? जैसे राख में पानी समा जाता है और उसमें सूई समा जाती है, तो एक पदार्थ में दूसरा पदार्थ समा जाता है यह दिखने में आ रहा है तो उस ही का लक्ष्य करके या आकाश के स्वरूप के वर्णन के विरोध में शंका की जा रही है कि इन पदार्थों में खुद में अवगाहन शक्ति है या नहीं । अगर कहो कि अवगाहन शक्ति नहीं है तो कौन किसको अवगाह देता है सो बताओ? और यदि है तो उसकी उपपत्ति बताना चाहिए । देखिये—छहों द्रव्य अपना-अपना स्वरूप लिए हुए है और उनमें यह देखा जा रहा है कि जहाँ जीव है वहाँ पुद्गल भी समाये हैं, वहीं धर्मद्रव्य भी है । प्रत्येक प्रदेश पर छहों द्रव्य हैं, उनका अवगाह तो सिद्ध हो रहा है, तो यह अवगाह हो रहा है उसका कारण क्या है? बताया गया है कि केवलज्ञान में सारा लोकालोक समाया हुआ है । आकाश द्रव्य तो अनन्तप्रदेशी है, वह केवलज्ञान में समा गया है । आकाश के ठीक मध्य में असंख्यातप्रदेशी लोक है और असंख्यातप्रदेशी लोक में अनन्त जीव समाये हैं । तो देखिये—एक द्रव्य में अनेक द्रव्य समाये हुए हैं ना । जीव में जीव समाये हैं, जीव में पुद्गल समाये हैं, और उन जीवों से अनन्त गुने पुद्गल है । एक द्रव्य में कितने ही दूसरे द्रव्यों का अवगाह सिद्ध होता है । तो ऐसा अवगाह होने में कारण क्या है? उस अवगाह की उपपत्ति बताने के लिए अब आकाश द्रव्य की विशेषतया स्वरूप विश्लेषणा की

जायेगी और बताया जायेगा कि किस तरह से पदार्थ का परस्पर में अवगाह है और परस्पर में अवगाह होकर भी सर्व वस्तु का एक आकाश में ही अवगाह है । तो जो सर्व पदार्थों को अवगाहित करे, ठहराये उसे आकाश कहते हैं ।

गाथा — २१४

सव्वाणं दव्वाणं अवगाहण-सत्ति अत्थि परमत्थं ।
जह भसम पाणियाणं जीव-पएसाण बहुयाणं ।।२१४।।

वस्तुत: आकाश में व अप्रतीघातरूप से सर्व द्रव्यों में अवगाहनशक्ति का वर्णन—यहां आकाशद्रव्य का लक्षण बता रहे हैं । आकाश उसे कहते हैं जहाँ सब द्रव्य समा सकें, जो दूसरों को अवगाह देवे उसे आकाशद्रव्य कहते हैं । यहाँ यह बात विचारना है कि अन्य द्रव्यों में अवगाहन शक्ति है या नहीं, तो इसके समाधान में कहते हैं कि सर्वद्रव्यों में अवगाहन शक्ति है । एक द्रव्य में दूसरा द्रव्य समा जाय ऐसी अवगाहन शक्ति है वास्तव में । जैसे कि राख और पानी में जहाँ पानी है वहाँ ही राख डालने पर पानी में राख समा जाती है अथवा जहाँ राख है उसमें पानी डालने पर पानी समा जाता है तो इसी प्रकार एक द्रव्य में दूसरे द्रव्यों के अवगाहने की शक्ति है । निश्चय से सभी द्रव्यों में अवगाह शक्ति है । जैसे जल और भस्म में, इसी प्रकार बहुत से जीवों का आकाश में अवगाह जानें । जहाँ एक जीव है वहाँ अनेक जीव भी समाए हैं, और सिद्ध स्थान में तो जहाँ एक सिद्ध भगवान विराजमान हैं उस ही जगह अनेक सिद्ध विराजमान हैं । इस ढाई द्वीप के अन्दर ऐसी कोई जगह नहीं बची जहाँ से कोई मोक्ष न गया हो । प्रत्येक प्रदेश से अनेक जीव मोक्ष गए । जिस स्थान से एक जीवमोक्ष गया उसी जगह से अनेक जीव मोक्ष गए । और, सिद्ध होने पर उनकी गति सीधी होती है । तो जहाँ एक भगवान ऊपर विराजे हैं वहाँ ही अनेक भगवान विराजे हैं । तभी तो कहते हैं कि एक माँहि एक राजे एक मांहि अनेकनो । स्वरूप दृष्टि से देखो तो एक भगवान में एक ही रह रहा है दूसरा नहीं । जो भगवान केवलज्ञान के द्वारा लोकालोक को जानते हैं वे अपने ज्ञात से ही जानते हैं, एक भगवान दूसरे भगवान के ज्ञान से नहीं जानते । आनन्द भी सबका अपने आपमें है । तो एक में एक ही है, पर व्यवहार दृष्टि से, प्रदेश दृष्टि से देखा जाय तो जहाँ एक भगवा हैं वहाँ ही अनेक भगवान हैं, तो वहाँ तो यह बात स्पष्ट है । यहाँ भी संसार अवस्था में जहाँ एक जीव है वहाँ अनेक जीव भी समाये हुए रहते हैं । एक निगोद शरीर में अनन्त जीव रहते हैं । तो प्रदेश वही है और वहाँ अनेक जीव रह रहे हैं तो एक स्थान में अनेक का रहना सम्भव है । क्योंकि उनमें अवगाह की शक्ति है । जैसे आकाश में घट है, घट में भस्म है, भस्म में जल समा गया और उसही में सूई डाला तो वह भी समा जाती है । तो ऐसे ही समझिये कि सभी द्रव्य लोकाकाश में परस्पर अवगाह रूप से समा जाते हैं । जहाँ एक दीप का प्रकाश है वहाँ १०-५० दीप रख दिए जायें तो उनका भी प्रकाश समा जाता है तो इसी तरह समझिये कि सभी द्रव्यों में परस्पर अवगाहन की शक्ति हैं, लोकाकाश में जितने प्रदेश हैं सभी प्रदेशों पर छहों जाति के द्रव्य हैं । ये सब द्रव्य हैं तो वे प्रतिघात नहीं करते, इस कारण से उनमें समाने की बात कही है । वस्तुत: तो यह गुण आकाश का है । आकाश में सभी पदार्थ समा जाते हैं ।

गाथा — २१५

जदि णं हवदि सा सत्ती सहाव-भूदा हि सव्व-दव्वाणं ।
एक्केक्कास-पएसे कह ता सव्वाणि बट्टंति ।।२१५।।

असंख्यातप्रदेश वाले लोक में अनन्तानन्त पदार्थों के समा जाने का कारण—यदि सभी पदार्थों में परस्पर समा जाने की शक्ति न हो तो एक आकाश प्रदेश पर इतने द्रव्य कैसे समा जायेंगे? मूल प्रश्न यह था कि लोकाकाश के प्रदेश तो असंख्यात हैं, अनन्त नहीं हैं और इस लोकाकाश में अनन्त तो जीव समाये हुए हैं । प्रदेश हैं अनगिनते, मायने जिनकी हद है और जीव इतने हैं जिनकी हद नहीं है और एक-एक जीव के साथ अनन्त कार्माणवर्गणायें लगी हैं, अनन्त शरीरवर्गणायें लगी हैं और वे सब अनन्तगुणी है, तो इतने प्रदेश थोड़े से प्रदेश में समा कैसे गए? सो उसका उत्तर यह है कि उन सब पदार्थों में एक दूसरे में समा जाने की शक्ति है । प्रदेश का लक्षण बताया है कि एक परमाणु जितनी जगह को घेरे उसे एक प्रदेश कहते हैं । एक क्षेत्र का छोटा से छोटा माप है प्रदेश । जैसे एक हाथ में २४ अंगुल होते हैं, एक अंगुल में कई सूत होते हैं, तो ऐसे ही कम से कम का माप है प्रदेश । एक परमाणु जितनी जगह घेर सकता है उसे एक प्रदेश कहते हैं । एक प्रदेश में कई परमाणु रह सकते, पर एक परमाणु दो प्रदेशों पर नहीं रह सकता । तो इतने छोटे स्थान का नाम है प्रदेश । अब अंदाज कीजिए कि सूई की नोक यदि कागज पर गड़ा दी जाय तो कितना छोटा गढ़ा होता है, उस गढ़े में भी असंख्यात प्रदेश होते हैं । तब समझिये कि एक प्रदेश कितना छोटा होता है, और उससे अंदाज लगाइये कि एक परमाणु कितना छोटा कहलाया । परमाणु को सूक्ष्म-सूक्ष्म कहा है ।

परमार्थस्वरूप की सुध न होने से अज्ञानीजनों का मायाजाल में व्यामोह—ये जो आंखों दिखते हैं ये सब स्कंध हैं इन्हें माया कहते हैं । माया नाम उसका है जो सदा नहीं रहता । जो विकार है, विभाव है, नष्ट हो जायगा, सकल बदल जायगी वह सब माया कहलाती है । तो अज्ञानी जनों की प्रीति माया में हो रही है वास्तविक वस्तु में नहीं । वास्तविक पदार्थ तो इस पुद्गल का है परमाणु । एक परमाणु से किसको मोह है? एक परमाणु का तो लोगों को पता भी नहीं है । लोगों को जो कुछ यहाँ दिख रहे हैं सो मायारूप स्कंध दिख रहे हैं । वास्तविक वस्तु में कोई मोह राग नहीं कर रहा । इस मायाजाल से ही जीव को मोह राग उत्पन्न हो रहा है । यदि इन पदार्थों में परमार्थ परमाणु को कोई तकने लगे तो उसकी दृष्टि में यह माया हट जायगी, उसे फिर मोह न रहेगा । तो समझिये कि परमाणु कितना छोटा होता है? इसी तरह आगे आयगा कालद्रव्य का वर्णन तो उसमें एक समय कितना छोटा कहलाता है यह बताया जायगा । आख के पलक जितना जल्दी जितने क्षण में उठते गिरते हैं, एक पलक के गिरने में जितना समय लगता है उसमें अनगिनते समय हुआ करते हैं, तो ऐसे जो सूक्ष्म पदार्थ हैं उन पदार्थों की इन अज्ञानियों को सुध नहीं है ।

अब जीव में भी देखो कि वास्तविक जीव क्या है? जिसका परिचय है, यह मनुष्य है, गाय है, घोड़ा है आदि जितने व्यवहार करते हैं, जितने परिचय रखते हैं वे सब जीव के सत्य स्वरूप नहीं हैं । जीव वास्तव में क्या है, कितना है? तो जीव को समझने का आधार है ज्ञान, याने ज्ञानरूप में यदि जीव को सोचा जाय तो

जीव का परिचय मिलता है । अन्य उपायों से जीव का परिचय नहीं मिलता है । इन देहों को देखने से जीव का परिचय नहीं मिलता और क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह रागादिक भावों पर ध्यान देने से भी जीव का परिचय नहीं मिलता । जीव उतना बड़ा है जितना कि शरीर । उस शरीर के माफिक जीव का विस्तार निरखा जाय उससे भी जीव का अच्छा परिचय नहीं मिलता, जिस परिचय के बाद अनुभव हो जायेगा ऐसा परिचय अन्य उपायों से नहीं मिलता । एक इस अपने को, जीव को ज्ञानमात्ररूप से सोचिये—केवल मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, जाननहार हूँ, चैतन्य हूँ, बस इतना ही मेरा काम है, यही मेरा अनुभवन है । यदि ज्ञानमात्र अपने आपको विचारा जाय तो उसमें जीव का परिचय मिलता है । तब जानें कि जीव के नाते हमने पहिले कुछ समझा कि यह जीव है पर उन सबमें वह जीवत्व नहीं दिखा । जीव इतना सूक्ष्म है कि वह केवल प्रतिभासमात्र, चैतन्यमात्र है । तो बतला यह रहे कि इन मोहियों को जिसमें प्रीति उत्पन्न होती है वह सब मायाजाल है । यह शरीर, ये मनुष्य, ये पशुपक्षी आदि सब मायारूप हैं, शाश्वत रूप नहीं हैं । तो क्षेत्र की बात यहां कह रहे हैं कि आकाश में सबसे छोटा माप है प्रदेश । प्रदेश है उतनी जगह का नाम जितनी जगह को एक परमाणु रोके, उसको प्रदेश कहते हैं । ऐसे-ऐसे अनन्त प्रदेशात्मक यह आकाश है । यहाँ तक इस लोक भावना में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश का वर्णन किया । अब कालद्रव्य का वर्णन करते हैं।

गाथा — २१६

सव्वाणं दव्वाणं परिणामं जो करेदि सो कालो ।
एक्केक्कास-पएसे सो बट्टदि एक्कको चेव ।।२१६।।

कालद्रव्य का स्वरूप—समस्त द्रव्यों के परिणमन को जो करे उसे काल कहते हैं । वह काल लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालद्रव्य ठहरा हुआ है । सभी लोग ऐसा अनुभव करते हैं कि समय व्यतीत होता है तो पदार्थ की अवस्था में भी परिणमन होता है । कोई पुरूष जन्मा, अभी वह शिशु है, समय बीता बालक बन गया, समय बीता जवान बन गया, समय बीता वृद्ध बन गया, समय बीता उसका क्षय हो गया । जैसे-जैसे समय गुजरता है वैसे ही वैसे वस्तु का परिणमन होता रहता है । वस्तु ने परिणमन का निमित्त है काल । समय न गुजरे तो ये अवस्थायें नहीं बदल सकती हैं । सभी द्रव्यों में परिणमन है । कोई द्रव्य परिणमनरहित नहीं है । होता ही वही सत् है जो प्रतिसमय परिणमन करे । जैनशासन में वस्तुस्वरूप के ज्ञान पर बहुत जोर दिया गया है कि यदि अपना कल्याण करना है तो पदार्थों का सही स्वरूप जानें । पदार्थ का सही स्वरूप जानने से प्रभाव यह होता कि मोह अंधकार नहीं रहता । जीव को जितना भी क्लेश है वह सब मोह का है, अन्य कुछ क्लेश नहीं । सब पदार्थ हैं, परिणमनशील हैं, अपने परिणमन से परिणमते हैं । तो दूसरों से मुझमें क्या आपत्ति आयी? मैं स्वयं में अज्ञान बसाये हूँ, विकल्प किए हूँ, वही मुझ पर आपत्ति है । अब यह एक सिद्धान्त की बात है कि मुझमें मोह हुआ कैसे? उसमें कर्मोदय निमित्त है, कर्म और विभाव का निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है, परवस्तु के स्वरूप पर दृष्टि दें तो यह विदित होगा कि पदार्थ प्रतिसमय परिणमनशील है और अपने इस स्वभाव के कारण परिणमता रहता है । तो प्रत्येक द्रव्य में परिणमन निरन्तर है, उसका कारण

है कालद्रव्य । जीव और पुद्गल आदिक की जो पर्यायें होती हैं, नई हों, जीर्ण हों, विलीन हों या जो उनमें उत्पादव्ययध्रौव्य स्वरूप है सो उन अवस्थाओं का कारण है कालद्रव्य । जीव में स्वभावपर्याय है, विभावपर्याय है, नारकी होता, कभी तिर्यञ्च होता, कभी मनुष्य होता, कभी देव होता, कभी क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक विभाव पर्यायोंरूप बना, कभी छोटे बड़े स्कंधोंरूप बना, आदि, निमित्तदृष्टि से इन सबको करने वाला कालद्रव्य कहा है । कालद्रव्य का ही अपरनाम कालाणु है एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु है और वह भी परिणमनशील है, उसमें प्रति समय नवीन-नवीन पर्यायें बनती रहती हैं और उन समयों का जो समूह है वह व्यवहारकाल है । जिसे कहते हैं मिनट, घंटा, दिन, वर्ष आदि यह व्यवहारकाल है । वास्तवमें तो एक पर्याय समय है और अनेक समयों को जोड़ करके उसे व्यवहारकाल कहा है । यों कालद्रव्य के निमित्त से सर्वद्रव्यों का परिणमन होता है ।

धर्मादिक द्रव्यों में परिणमन व उन परिणमनों में भी कालद्रव्य की हेतुता—अब यहाँ विचार यह करना है कि जीव और पुद्गल का परिणमन तो समझ में आता है । जीव का परिणमन इस समय समझ में आ जाता कि हम जीव हैं, हम पर परिणमन गुजरते हैं । उसका अनुभव होता है तो बुद्धि ठिकाने होती है, समझते हैं कि हम में बड़े विचित्र परिणमन हैं, क्योंकि सुखी दुःखी हो रहे हैं और समझ रहे हैं कि हम विकल्प करते हैं, विषयकषाय के भाव करते हैं, उससे हम सुखी हैं, तो अपने पर गुजर रही हैं ये बातें इस कारण अपना परिणमन समझ में आ जाता है । पुद्गल का परिणमन यों समझ में आता है कि ये स्थूल हैं, इनका परिणमन आँखों द्वारा देख रहे हैं, इन्द्रियों से हम जान रहे हैं, तो यहाँ कोई यह आशंका कर सकता है कि हमें तो केवल जीव और पुद्गल का परिणमन समझ में आ रहा है, उनमें ही कालद्रव्य का उपकार बतायें, पर धर्म अधर्म आदिक जो अमूर्तद्रव्य हैं उनमें परिणमन कैसे होगा? सो इसके समाधान में सुनो कि यद्यपि ये सब अमूर्तद्रव्य हैं किन्तु यह नियम है कि जो है वह नियम से प्रति समय परिणमन करता रहेगा । तो धर्मादिक द्रव्य भी सत् हैं, उनमें स्वभाव से षड्गुण हानि वृद्धि होती है और जैसा अरहंत भगवान ने बताया है कि प्रति समय वह अगुरुलघुत्व गुण के कारण परिणमता रहता है । तो उन सब परिणमनों का कारण है समय और समय पर्याय है कालद्रव्य की, ऐसा यह कालद्रव्य लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक ठहरा है, तो यह एक प्रदेशी है, असंख्याते काल हैं । कालद्रव्य की वजह से ये सब परिणमन होते हैं । इस गाथा में यह ध्वनित समझिये कि कालद्रव्य में भी स्वयं परिणमने की शक्ति है और सर्वद्रव्यों के परिणमन का वह कारण बनता है । लेकिन यहाँ यह जानना होगा कि प्रत्येक पदार्थ में परिणमने की स्वयं की शक्ति है । प्रत्येक पदार्थ अपने ही स्वरूप से परिणमता है, उस परिणममान पदार्थ में सहकारी निमित्त कारण कालद्रव्य है ।

गाथा — २१७

णिय-णिय-परिणामाणं णिय-णिय-दव्वं पि कारणं होदि ।
अण्णं बाहिर-दव्वं णिमित्त-मित्तं वियाणेह ।।२१७।।

अपने-अपने परिणमन में अपनी-अपनी अन्तःकारणता व अन्य बाह्यद्रव्यों की निमित्तरूपता—प्रत्येक पदार्थों के अपने-अपने परिणमन का कारण खुद-खुद द्रव्य है, अन्य पदार्थ तो केवल बाह्य निमित्त हैं । जैसे हम दुःखी होते हैं तो अपने अज्ञान मोह से दुःखी होते हैं । हमारे दुःख परिणमन में हम ही कारण हैं । अब इस दुःख परिणमन में जो बाह्यद्रव्यों का प्रसंग बना, जिस आश्रय से यह दुःख पर्याय उत्पन्न हुई है, ऐसे कुटुम्बीजन अथवा अन्य पुरुष या वैभव आदिक या शत्रु

आदिक ये सब बाह्यद्रव्य निमित्तमात्र हैं । वही पुरुष जो इन बाह्य पदार्थों की कल्पना करता है, दुःखी हो रहा है । वह कल्पना को त्याग दे तो उसका दुःख वहीं शान्त हो सकता है । जैसे एक कथानक है कि कोई राजा किसी दूसरे राजा पर चढ़ाई करने जा रहा था तो रास्ते में उसे एक जंगल में कोई साधु महाराज दिखे । वह साधु महाराज के पास बैठ गया । साधु कुछ उपदेश देने लगे । कुछ देर में शत्रु की सेना के शब्द सुनाई पड़े तो राजा कुछ सावधानसा हो गया, कुछ देर में और भी शत्रु के शब्द सुनाई दिए तो राजा ने अपनी तलवार पर हाथ रखा, कुछ और शत्रु के शब्द सुनाई दिए तो राजा को और भी अधिक रोष उत्पन्न हुआ, वीरता की मुद्रा उत्पन्न हुई, तो साधु ने पूछा—राजन् ! यह क्या कर रहे हो? तो राजा बोला—महाराज, मेरे निकट ज्यों-ज्यों शत्रु बढ़ता आ रहा है त्यों-त्यों मेरा रोष और भी बढ़ता जा रहा है । तो साधु बोले—राजन् ठीक ही कर रहे हो । शत्रु का नाश करना ही चाहिए, पर सबसे पहिले अपने अति निकट बैठे हुए उस शत्रु का नाश करो जो आपके अन्दर किसी को शत्रु मानने का भाव बना रहा है । राजा ने कुछ विचार किया और आत्मचिंतन करके वहीं विरक्त हो गया । अब तो शत्रु सेना उसके पास आती है तो उस विरक्त संत को नमस्कार करके वापिस लौट जाती है । तो ये बाह्यपदार्थ हमारे सुख दुःख के कारण होते हैं, सो मात्र वे निमित्त है, पर हमारी परिणति में वास्तविक उपादान कारण हम ही हैं । क्रोध, मान, माया, लोभादिक पर्यायें होना, या नर नारकादिक पर्यायें होना, उनका कारण मैं हूँ । और पुद्गल में शरीर की रचना बने या स्कंधों की रचना बने उनका कारण उनका निज-निज द्रव्य है । कालद्रव्य तो एक बहिरङ्ग निमित्त कारण है । उपादान कारण तो प्रत्येक पदार्थ के परिणमन में उनका ही स्वयं-स्वयं का द्रव्य है, सो वह काल अपने गुणों के द्वारा अन्य द्रव्य को नहीं परिणमाता, परद्रव्य के गुणों को अपने में नहीं परिणमाता, किन्तु उनमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है । हाँ कालद्रव्य में यह गुण हैं कि पदार्थों के परिणमन में वह कारण होता है ।

अनेक, कारणों के प्रसङ्ग मे विभाव क्लेश होने पर भी अपने क्लेश में अपने अपराध के अन्वेषण का विवेक—देखिये परिणमनमात्र में कारण है कालद्रव्य, पर परिणमन विशेष होने में अन्य पदार्थ भी निमित्त होते हैं । जैसे हम आप रागद्वेष में चलते हैं तो उसमें साधारण कारण तो कालद्रव्य है, लेकिन चेतन अचेतन पदार्थ, ये परिग्रह उसमें बहिरङ्ग आश्रयभूत है, और कर्मों का उदय अन्तरङ्ग निमित्त कारण है । तो यों अनेक कारणों के प्रसंग में उस प्रकार के परिणमने की शक्ति रखने वाला पदार्थ स्वयं उस रूप परिणम जाता है । इस सम्बन्ध में हमें यह शिक्षा बना है कि हम समझें जब कभी भी हम दुःखी होते हैं तो उस दुःख में हमारा ही अपराध कारण है । हम दूसरे के अपराध से दुःखी नहीं होते, जैसे कि लोग सोचने लगते कि, अमुक ने इस तरह का काम नहीं किया, मुझे बड़ा दुःखी कर दिया, यो जितने व्यवहार चलते हैं, मुझे ये बड़ा हैरान करते हैं, । अरे कोई दूसरा पदार्थ मेरी हैरानी में कारण नहीं है, हमारा ही अपराध हमारी हैरानी में कारण है । हमारा अपराध क्या है? हम रागद्वेष मोह करते हैं, यही हमारा अपराध है । अपराध का अर्थ ही यह है कि जहाँ बहुमत का न हो । हम राग करते हैं इससे दुःखी होते हैं । राग अपराध को छोड़ दें तो हमारा दुःख दूर हो जाय । दूसरी बात यहां कि ऐसा कर्मोदय आया क्यों हम पर कि जिससे हमको दुःखी होना पड़ रहा? तो पूर्वकाल में हमने ऐसा ही रागद्वेष किया था जिसका निमित्त पाकर ऐसा कर्मबंध हुआ था कि जिससे आज दुःखी होना पड़ रहा । तो मेरे दुःख में अपराध कारण है, अन्य पदार्थ मेरा ही मेरे दुःखी होने में कारण नहीं हैं ।

सत्त्वविनिश्चय—हम क्या हैं और जगत के ये दिखने वाले पदार्थ क्या हैं तथा इनका बर्ताव किस प्रकार से है याने ये किस तरह परिणमन किया करते हैं, इन सब विधियों का यथार्थ ज्ञान हो, जाय तो उससे जो ज्ञानप्रकाश होता है उससे आत्मा की उन्नति होती है, इसीलिए, लोकानुप्रेक्षा में सब द्रव्यों का वर्णन किया गया है, और इस समय कालद्रव्य के

प्रकरण में परिणमन विधि बतायी जा रही-है । सबसे पहिले तो यह मानना ही होगा कि यह सब पदार्थ है, इनका सत्त्व है । कोई दार्शनिक तो ऐसे हैं कि जो यह कहते हैं कि पदार्थ कुछ हैं ही नहीं सब शून्य है, जो कुछ दिखता है यह मिथ्या है । कल्पनावश सोच लिया है, जगत में कहीं कुछ नहीं है । उनका सिद्धान्त इस बात पर आधारित हो सकता ह जैसे जो दिखता है यह सब माया स्वरूप है, इसमें, परमार्थतत्त्व नहीं है, जो आकार है, जो आंखों दिखते हैं मनुष्य पशुपक्षी आदिक रूप ये सब मायारूप हैं परमार्थ वस्तु नहीं हैं, इसी सकल में रहने वाले नहीं हैं । इस पर जब विचार करते हैं कि इसमें परमार्थवस्तु है क्या? जो दिखता है उसमें परमार्थ तो है एक-एक परमाणु जो द्रव्य है, जिसका विनाश नहीं होता, इन सकलों का विनाश हो जाता है । तो जब सकल आकार यों नहीं रहते तो अवकाश मिला कहने का कि यह सब झूठ है? जब और भीतर चले तो परमाणु के निरंश स्वरूप का या जीव के चैतन्यस्वरूप का जब वर्णन किया जाता है तो वह इतना सूक्ष्म वर्णन है कि जिसको सुनकर सहसा यह लग सकती है कि बात है केवल, कुछ चीज नहीं है, जो विकल्प में आये, व्यवहार में आये, तो ऐसे धीरे-धीरे चलकर एक इस दार्शनिक को ऐसा लगा कि कुछ नहीं है, शून्य है, लेकिन शून्य नहीं है । कुछ भी न हो तो उसका माया रूप भी नहीं बन सकता । जो पर्याय है, विनश्वर है । जो बात भी हो, यदि मूल में कुछ सत नहीं है तो उसका यह मायारूप भी नहीं बनता ।

पदार्थों के विपरिणमन की विधि—सब हैं, हम हैं, शरीर है, अन्य चीज हैं । अब इसकी विधि क्या है और परिणमते किस तरह हैं सो यह मानना हो होगा कि प्रत्येकपदार्थ में परिणमने की शक्ति है क्योंकि परिणमते तो वे ही पदार्थ हैं । जैसे जीव क्रोध करता, मान करता तो भले ही कर्म के उदय में करता है लेकिन करता तो जीव ही है ना । परिणमना तो जीव को ही पड़ रहा है ना? तो जीव में उस प्रकार के परिणमने की शक्ति है, न हो तो परिणमन न होगा । तो सभी पदार्थों में यह मानना चाहिए कि उनमें परिणमने की शक्ति है । नई अवस्था उसके स्वयं में बनती है, पुरानी अवस्था उनमें विलीन हो जाती है और वे परिणमने वाले पदार्थ सदा बने रहते हैं। चाहे किसी पर्यायरूप में चलें, पर रहेंगे शाश्वत, क्योंकि सत् हैं । जो सत् है वह कभी मूल से नष्ट नहीं होता । उसकी अवस्थायें बदलती है । तो मैं भी सत् हूँ और मैं कभी नष्ट होने वाला नहीं हूँ, अपनी अवस्थायें बदलता रहता हूँ । पदार्थ में यह स्वभाव ही पड़ा है कि उत्पाद व्यय, ध्रौव्य हुआ करे । अब विशेष रूप का जो उत्पाद है, जैसे रागद्वेष हुआ तो इस विशेषता में कारण अन्य कुछ भी है, अन्य निमित्त के बिना ये समस्यायें न हीं आ सकतीं । तो प्रत्येक पदार्थ स्वयं परिणमन की शक्ति रखता है और उन सब पदार्थों में जीव और पुदगल ये दो जाति के पदार्थ ऐसे हैं जो विकाररूप परिणमने की शक्ति रखते हैं । इनमें विभाव शक्ति है । जैसे आकाशद्रव्य है वह क्या विकार करेगा अपने में ? आकाश में क्या बिगाड़ होगा? कालद्रव्य है । काल में स्वयं में क्या बिगाड़ होगा? यह तो उपचार से कहते हैं कि समय खराब हो गया, पर समय अच्छा व खराब नहीं हुआ करता । जिस समय में पदार्थ बुरे परिणमते हैं, अवनति होती है, अधर्म छा जाता है उसको कहते हैं कि काल खराब आ गया । आजकल बड़ी गड़बड़ियां चल रही हैं तो ये गड़बड़ियां समय में नहीं हैं, किन्तु चीजों में है। प्रत्येक पदार्थ अपने परिणमन की शक्ति रखता है, जब वह विकार रूप बनता है तो इसके विकार परिणमन में बाह्य चीजें कारण बन जाती हैं । जैसे जीव का रागद्वेष बनता है तो रागद्वेष प्रकृति का उदय तो है । निमित्त कारण और बाहरी पदार्थों का संग है आश्रयभूत कारण और परिणमने की शक्ति इस जीव में स्वयं है, यह है उपादान कारण । तो जब उपादान कारण योग्य है, काललब्धि प्राप्त है, बहिरङ्ग कारण मौजूद है तब सब बातें समर्थ हैं, और इसे कहते हैं समर्थ कारण । इस स्थिति में उस पदार्थ को उस प्रकार परिणमना पड़ता है । उसके परिणमन को रोकने में कोई समर्थ नहीं । जब इस तरह हम प्रत्येक पदार्थ का

स्वरूप जानते हैं, परिणमन समझते हैं तो बतलाओ कि कौनसी गुञ्जाइश है ऐसी जिससे यह कहा जाय कि इसका यह पदार्थ है ।

मोहवश क्लेश का लगाव—मनुष्य मोह से ही तो दुःखी हैं । हैं बिल्कुल भिन्न सब पदार्थ । मेरे आत्मा का तो केवल मैं ही आत्मा हूं, अन्य कुछ नहीं है मुझमें, लेकिन मान यह रहे कि यह मेरा घर है, यह मेरा परिवार है, यह मेरी इतने लोगों में इज्जत है । तो ऐसा जो बाह्य पदार्थों में ममत्व है, राग है, यह है अपनी कल्पना । तो अपनी कल्पना से हम दुःखी हो रहे हैं, बाहरी चीजों से दुःखी नहीं हुआ करते । इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग ये बड़े बेढंगे दुःख हैं और प्रायः करके इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग का क्लेश पुण्यवान पुरुषों को ज्यादह हुआ करता है, क्योंकि ठाठ उनको ही मिलते हैं, समागम उनको ही मिलते हैं, अब समागम मिले तो हर्ष किया। अब यह न्याय की बात है कि उन समागमों का वियोग होने पर दुःखी होना पड़ेगा । जिन्हें वियोग का दुःख इष्ट न हो उन्हें चाहिए कि प्राप्त समागमों में हर्ष न मानें, बल्कि अपना ज्ञान, बनायें । यदि समागमों में हर्ष मानते हैं तो यह नियम है कि वियोग में उसको उस ही ढंग का उतने ही गुना दुःख होगा । तो ये बाह्य पदार्थ जब मेरे कुछ हैं नहीं तो उनको अपनाना यह तो अंधकार है, अज्ञान है और इस अज्ञात से हम आप दुःखी हैं । हम आपको दुःखी करने वाला यहाँ कोई दूसरा पदार्थ नहीं है ।

अपने स्वहित की कामना—अब कुछ अपने आप पर अपनी बात घटित करिये । सभी लोग अपनी-अपनी ऐसी स्थितियाँ समझ रहे हैं कि कैसे राग से छूटा जाय? इतना वैभव है, ऐसा घर है, लोगों में इज्जत है, रिश्तेदार, मित्रजन, समाज के लोग साधर्मीजन सभी लोग हमारा परिचय पाये हुए हैं । ऐसी स्थिति में इन सबसे कैसे विरक्त हुआ जाय? तो भाई ज्ञानप्रकाश जिनके जगता है उनके लिए सारा परिचय अपरिचय बन जाता है । जिसे समझा कि लोग मुझे जानते हैं, यहाँ मेरी बड़ी इज्जत है, हमारे ऐसा वैभव है, हमारे ऐसे साधन हैं आदि, वे सब ज्ञानप्रकाश के होने पर मिथ्या बातें प्रतीत होती हैं । मेरा यहाँ अन्य कुछ नहीं है, यह मैं आनन्द को लिये हुए हूँ और अनन्तकाल तक यही बात रहेगी, जब ऐसा बोध करता है जीव तो उसके लिए ये सब परिचय अपरिचय हो जाते हैं । वे सब परिचय स्वप्नवत् प्रतीत होने लगते हैं । तो किसी दूसरे पर हमारा भविष्य निर्भर नहीं है, हमारे ही परिणाम पर हमारा भविष्य निर्भर है ।

सतसङ्गता में शान्ति की असंभवता—आज पुण्य का उदय है, उस स्थिति में धर्म की कोई सुध न रखकर, आत्मज्ञान की कोई बात न रखकर मनमाना विषयों में प्रवृत्ति रखकर, मनमाना मोह बनाकर रहा जाये तो ऐसा कब तक चलेगा? पुण्योदय के मायने क्या हैं? उदय का अर्थ है निकलना । जैसे कहा कि सूर्य का उदय हुआ तो इसका अर्थ है कि सूर्य निकल रहा है । पुण्यकर्म का उदय हुआ मायने पुण्यकर्म बंधा था पहिले शुभभाव से वह पुण्य निकल रहा है, अब वह पुण्य रहित बन रहा है । पुण्य के निकलने का नाम, बाहर होने का नाम है पुण्य का उदय । तब इस दृष्टि से यह समझिये कि जो ठाठ मिलते हैं, वे पुण्य के निकलने से पुण्य के दूर होने से मिलते हैं, अगर पहिले से ही पुण्य दूर रहे उससे नहीं, किन्तु पुण्य बंधा हो और फिर वह पुण्य निकल रहा हो तो वहाँ इष्ट समागम मिलते हैं । इस स्थिति से हमको क्या शिक्षा मिली? पुण्य वैभव पुण्य के विनाश से मिल रहा है । यदि पुण्य संचय न किया जाय तो पुण्य का निकलना तो जारी है, निकल रहा है और वह एक ही तो पुण्य नहीं है, अनेक वर्गणायें बराबर निकल रही हैं । तो पुण्य के निकलने में सब वैभव मिले, पर यह निकलता ही रहे, कुछ नया संचय न आये तो क्या उसका भविष्य होगा कि निकट समय में ही इन सबसे हाथ धोना होगा और दुर्गति सामने आयगी । तो भले ही कितना ही वैभव मिला हो, कैसे ही परिजन हों, प्रथम तो लोग इसमें सुखी नहीं हैं, कुटुम्ब मिला है उसमें भी लोग शान्त नहीं हैं, विकल्प हैं, करने का भाव बनाया है, कोई

विपरीत चल रहा है उसका दुःख हो रहा है, कोई अनुकूल चल रहा है तो उसके प्रति यह ध्यान बना रहता है कि मैं इसके लिए ऐसा उपाय बना दूँ कि यह सदा सुखी रहा करे, उसके लिए फिर परिश्रम करना पड़ रहा है । तो इष्ट समागमों में शान्ति नहीं है, सुख नहीं है । और मान लो कल्पना से सुख मान लिया तो जितना मौज माना जायगा उससे कई गुना दुःख उत्पन्न होगा, क्योंकि इस संयोग का ऐसा ही स्वभाव है कि जो पदार्थ मिले हैं उनका वियोग अवश्य होगा । वियोग हो जाने पर चीज मिले या ने मिले, वहाँ तो नियम नहीं है, पर संयोग होने पर वियोग नियम से होगा । तब बुद्धिमानी इसमें है कि ऐसा ज्ञान बनायें, ऐसा उपाय बनाये, ऐसी धुन बनाये कि हम अपने आपके सही स्वरूप को जान जायें । उसमें हमारी रुचि बन जाय । इसमें जो अद्भूत आनन्द प्राप्त होगा उसकी तुलना लोक में अन्य किसी घटना से नहीं है ।

असहयोग उपाय से आत्मसाम्राज्य के अधिकारित्व का निर्णय—आत्मानुभूति कैसे हो, आत्मा का अनुभव कैसे प्राप्त हो? इसके बड़े सरल उपाय दो हैं । हमें अपने आत्मा में बसे हुए परमात्मस्वरूप का दर्शन, हो, इसके सरल उपाय दो है—जिन विधियों को करके हम आप इस जीवन में उस परमात्मतत्त्व के दर्शन कर सकते हैं । दर्शन आँखों से न होगा । दर्शन के मायने अनुभव । वे उपाय क्या हैं? उन उपायों के करने से पहिले इतना ज्ञान तो कर लेना जरूरी होगा कि इस मेरे आत्मा का दुनिया में कोई साथी नहीं है । यदि रुचिपूर्वक इसका ज्ञान किया जा रहा है तो विदित होग कि कोई भी मेरा साथी नहीं है । जितने यहाँ परिचित दिखते हैं वे सब स्वार्थ के साथी हैं । मित्र हों, रिश्तेदार हों, परिजन हों, जहाँ जिसका स्वार्थ है वहाँ वे कुटुम्बी या रिश्तेदार उसे मानते हैं और जहाँ स्वार्थ में विघात होता है उसी समय वह इस दृष्टि से देखने लगता कि जैसी दृष्टि से गैरों को भी नहीं देखता । हर एक घटना में यही बात जान लें कि आत्मा का साथी कोई दूसरा नहीं है । जब कोई यहाँ मेरा साथी नहीं और मुझ आत्मा को सब कुछ अकेले ही भोगना पड़ता है तो ऐसा साहस जगायें, अपने दिल को ऐसा आराम में ले जायें कि ऐसा अन्तः यत्न करें कि कोई भी पदार्थ दिल में न आ पाये । इस पर तो अपना कुछ वश चल सकता है । अगर किसी का ख्याल आता है तो झट यह ध्यान में आये कि यह सब तो व्यर्थ क विकल्प है, ये कोई भी मेरे साथी नहीं है । यों आने वाले उस ख्याल को चित्त से हटा देना होगा । उस समय यह ध्यान में लाये कि ये व्यर्थ के विकल्प तो मेरी बरबादी के ही कारण हैं, संसार में जन्म मरण की परम्परा बढ़ाने में कारण हैं, किसी भी परपदार्थ को मैं अपने चित्त में न बसाऊँ, ऐसा अन्तः प्रयत्न करना होगा । यद्यपि इस प्रयत्न के करने में कुछ कठिनाईसी लग रही होगी, लेकिन इसे कोई करने पर उतारू हो जाय तो इस उपाय को वह कर सकता है । लोग अपने चित्त में बसाये रहते हैं, अरे कभी किसी क्षण ऐसा ध्यान तो बनायें कि अब तो किसी भी परपदार्थ को मुझे अपने चित्त में नही बसाना है । यदि किसी ने ऐसा अन्तः पुरुषार्थ करके सर्व प्रकार के बाह्य विकल्पों को कुछ क्षण के लिए अपने चित्त से हटा दिया तो वह एक बहुत बड़ी बात है ।

सत्य के आग्रह के उपाय से आत्मसाम्राज्य के अधिकारित्व का निर्णय—एक तो भैया ! पर से असहयोग का अन्तः प्रयत्न होना चाहिए, और दूसरा प्रयत्न जो बतावेंगे वह भी इसी का सहयोगी है, वे एक दूसरे के परस्पर सहयोगी हैं । दूसरी बात यह है कि अपने ज्ञान को अपने भीतर निरखने के लिए पहुंचाइये । जिस ज्ञान के द्वारा हम बाहर की चीजें जानने का यत्न करते हैं । क्या है, पदार्थ किसी ढंग का है, जिसे बाहर में हम जानने का प्रयत्न करते हैं, अब वह यत्न न करके कुछ भीतर जानने का यत्न करें कि मैं हूँ क्या? अब उसे सोचिए केवलज्ञान ज्ञान, केवलजानन, ज्ञानज्योति और जानन मात्र है, बस वही मैं हूँ । वह जानन क्या? प्रतिभास । केवल जाननमात्र । अभ्यास की आवश्यकता है, यह सब

बात एक दिन में नहीं होती । रोज-रोज इसका अभ्यास हो तो कोई समय ऐसा आयगा कि हम अपने उस जाननस्वरूप को अपने ज्ञान में ले सकेंगे । मैं ज्ञानमय पदार्थ हूँ, केवल जाननमात्र हूँ, अन्यरूप मैं नहीं हूँ, बस एक यही धुन बने । अग्रवाल, जायसवाल, खण्डेलवाल, मनुष्य, स्त्री, पुरुष आदिक ये मैं नहीं । मैं तो एक वह सत् हूँ जो चैतन्यस्वरूप है, केवल चैतन्यप्रकाशमात्र है । देखिये उस परमार्थ की बात कही जा रही है, अन्य सब बातों का वहाँ निषेध करना है । मैं सिर्फ ज्ञानमात्र हूं, जानन रूप हूँ, बस यही धुन बनायें और अपने की जानन रुप में निरखने का भीतर में यत्न बनायें, ये दो उपाय ऐसे सरल हैं कि आप मन में ठान लें तो अभी से करना शुरू कर सकते हैं । लोक में कितने द्रव्य हैं, कैसी रचना है, ये बातें नहीं बतायी जा रही हैं, उनके अध्ययन में तो बड़ा समय लगता है । अगर थोड़ा सा ही विवेक हो और इन दोनों उपायों को कर लें तो अपने में अपनी अनुभूति के पा सकते हैं ।

उपाय द्वारा स्वानुभूति की साध्यता—पशुवों में हाथी, शेर, नेवला, बंदर आदि भी जब सम्यक को प्राप्त कर लेते हैं, स्वानुभूति कर लेते हैं, तो हम आप वि शिष्ट मन वाले स्वानुभूति न कर सकेंगे क्या? स्वानुभूति हुए बिना सम्यक्त्व नहीं होता । जब भी सम्यक्त्व होता है स्वानुभूति पूर्वक होता है । सम्यक्त्व की उत्पत्ति का समय स्वानुभव के लिए हुए रहता है, इसके बाद में फिर स्व की अनुभूति रहे या न रहे, सम्यक्त्व रहेगा, प्रतीति रहेगी । तो जब इन पशु पक्षियों को भी स्वानुभूति हो जाती है, जिन्होंने न कोई अक्षर ज्ञान किया, न कोई पदवाक्य

जानते हैं, कोई भाषा इनकी नहीं है, न कभी ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं, वे बेचारे कुछ बोल भी नहीं सकते, जिह्वा भी उनकी ऐसी नहीं है कि जिससे अक्षरात्मक भाषा बन सके, फिर भी मन है, भीतर ही भीतर ज्ञान है, वे पशुपक्षी विवेक कर सकते और स्वानुभूति कर सकते हैं, तब मनुष्यजन स्व की अनुभूति न कर सकें यह बात क्यों सोची जाय? हम आपके स्वानुभव हो सकता है, उसके उपाय में लगे । अन्य उपायों में तो जीव की बरबादी ही है? क्योंकि इष्ट समागम मिल गया जो चाहता है वे पदार्थ मिले गए उनमें फिर तृष्णा बढ़ेगी, उन प्राप्त समागमों का फिर बिछोह होगा, बिलगाव होगा तो उसमें दु:ख माना जायगा । तो यहाँ का संयोग भी दु:ख का कारण है और वियोग भी, दु:ख का कारण है। इन बाह्य पदार्थों का ख्याल ही अपने को दु:ख का कारण है । इन बाह्य पदार्थों में अपने को रमाना प्रकट क्लेश है । अत: इनमें रमना योग्य नहीं । इन दोनो उपायों को अगर सुसंस्कृत भाषा में कहा जाये तो यों कहा जायगा—असहयोग और सत्य ग्रह, समस्त बाह्य पदार्थों का तो असहयोग हो और अपने आपका जो चैतन्यस्वरूप है, अपनी ही सत्ता के कारण जो अपने में स्वरूप है उसका किया आग्रह मैं ज्ञानरूप ही हूँ । तो इन दो उपायों से आत्मा की अनुभूति प्राप्त होगी और ऐसा उपाय प्राप्त होगा कि जिस आनन्द में वह सामर्थ है कि भव-भव के बांधे हुए कर्मों को दूर किया जा सकता है ।

पुण्य और पाप के फलों से उपेक्षा करके स्वानुभूति का लाभ लेने का सन्देश—पुण्य और पाप ये दो ही इस जीव की अशान्ति के हेतु हैं, क्योंकि इनमें शान्ति का माद्दा नहीं पड़ा हुआ है । पाप का उदय भी देखिये किसी मुनि के ऊपर उपसर्ग आ रहे हैं, शेर भख रहे, स्यालिनी भख रहे, शत्रु छेद रहे, इसमें उनका पापोदय ही तो कहा जायगा । ये कोई पुण्योदय के काम तो नहीं हैं, लेकिन ऐसे पाप के उदय होने पर भी यदि वह मुनि अपने धर्मभाव को संभाले हुए है तो वह कैवल्य प्राप्त कर लेता है और पुण्य के समागम कितने ही आराम के साधन मिले हों जैसे अनेक चक्रवर्ती उनके विषय के साधनों की बात क्या कहना । कितना ही वैभव था उनके पास, कितनी बड़ी इज्जत थी, जिनका वंदन बड़े-बड़े राजा लोग करते थे, जिनके पास हजारों रानियाँ थीं, सब प्रकार के सुख के (मौज के) साधन थे, लेकिन अन्त में देखिये उन चक्रवर्तियों की क्या गति हुई? मरकर नरक गये । तो पुण्य पाप फलों की अपेक्षा करके एक भीतर में अपने ज्ञानस्वरूप का ज्ञान बनायें, उसका आग्रह करें बाह्य वस्तुओं को अपने चित्त से हटायें तो वहाँ स्वानुभूति उत्पन्न होगी और उससे ही शान्ति प्राप्त होगी । शान्ति का उपाय सिवाय आत्मप्रबोध के अन्य कुछ हो ही नहीं सकता, अत: स्वाध्याय, अध्ययन, मनन, तत्त्वचर्चण आदि पौरुष करके आत्मतत्त्व का परिज्ञान करें और आत्मतत्त्व की दृष्टि दृढ़ करके स्वानुभूति का परमलाभ लें ।

गाथा — २१८

सव्वाणं दव्वाणं जो उवयारो हवेइ अण्णोण्णं ।
सो चिय कारण-भावों हवदि हु सहयारि-भावेण ।।२१८।।

अन्योन्य उपकार में अन्य की बाह्य सहकारीकरणता—जगत् में यह देखा जा रहा है कि एक द्रव्य के निमित्त से दूसरे द्रव्य के काम बन जाते हैं, तो यहाँ जो समस्त द्रव्यों का परस्पर उपकार होता है सो वह सहकारी भाव से कारण भाव है उपादान से नहीं । वस्तु के निज स्वरूप पर दृष्टि दें तब तो वहाँ सिर्फ इतना ही विदित होगा कि वस्तु है और उसमें परिणमने का स्वभाव है सो अपनी योग्यता से अपने में परिणमन करता चला जाता है । कोई इस बीच यदि ऐसा प्रश्न कर दे तो फिर दूसरे पदार्थ की कोई बात न रही तो इस दृष्टि में जबकि केवल एक वस्तु पर ही दृष्टि रखकर कहा जा रहा

और कोई जरा छेड़ दे तो उस समय की दृष्टि की धारा के कारण यह उत्तर होगा कि उस समय बाहर के जो द्रव्यों का सम्बंध है वह निमित्त मात्र है । अब दूसरी दृष्टि में आकर देखें कि किस तरह से ये सब कारणकार्य विधान चल रहे हैं, तो यह सब प्रतिनियत व्यवस्था विदित होती है । केवल इतने मात्र से उत्तर नहीं बनता कि परिणमते हुए पदार्थ के सामने जो चीन हो उसे निमित्तमात्र कहते हैं । केवल इस विधि से बात न बनेगी, क्योंकि यहाँ? प्रतिनियत व्यवस्था देखी जौ रही है ऐसे ही पदार्थ निमित्त हों तब यहाँ ऐसा ही कार्य होता है । यदि इसमें अव्यवस्था होती कि कभी उस पदार्थ के कारण और तरह का कार्य बने कभी और तरह का कार्य बने तब तो यह कहा जाता कि जो सामने था उसे निमित्त कह दे, अथवा इतना भी कहने की जरूरत क्या हैं? लेकिन जब प्रतिनियत व्यवस्था लोक में देखी जा रही है तो कारण और कार्य का सयुक्तिक निर्णय करना पड़ेगा और वह सयुक्तिक निर्णय यही है कि परिणमने वाले पदार्थ की जैसी शक्ति है उस योग्यता के अनुसार अनुकूल बाह्य निमित्त मिल जायें तो वहाँ परिणमन हो जाता है । यह बात दूर जगह घटाते जाइये ।

कारणकार्यविधि के कुछ उदाहरण—गुरु ने शिष्य का उपकार किया उपदेश दिया, और शिष्य में ज्ञान उत्पन्न करने में वह कारण बना, तो वहाँ जो ज्ञान बना ऐसी जो शिष्य में योग्यता थी उस तरह का ज्ञानप्रकाश करते की पात्रता थी तो अन्तरंङ्ग कारण तो शिष्य का ही सामर्थ्य रहा । उसके ही कारण उसका ज्ञान बना, पर बहिरङ्ग कारण गुरु का उपदेश आदिक प्रयत्न रहा, क्योंकि वहाँ विकास की योग्यता तो उसके थी और गुरु ने समझाया तो उस प्रसंग में आकर उसने अपनी सामर्थ्य का विकास किया । तो यह प्रतिनियत व्यवस्था है । जैसे घड़ा बना मिट्टी में ही उस मिट्टी में योग्यता थी तो योग्य मिट्टी, कुम्हार का प्रयत्न और उस समय जल आदिक का संयोग या उन साधनों के बीच का प्रसंग पाकर मिट्टी में घड़ा पर्याय बनी । अब उस मिट्टी में घड़ा बनने का सामर्थ था तब ही तो बना । रेत में अथवा अन्य पथरीली मिट्टी में तो घड़ा नहीं बन जाता, जिस मिट्टी घड़ा बनने की योग्यता थी उसी में बना । तो अन्तरङ्ग कारण तो उस मिट्टी की योग्यता कही जायगी, जिन-जिन प्रसंगों में बना, वे प्रसंग प्रतिनियत व्यवस्था रखते हैं । कुम्हार प्रतिदिन निःशंक होकर उसी विधि से घड़ा बनाता है, इससे सिद्ध है कि वे सब बहिरङ्ग कारण हैं और नियमित है तो वह मिट्टी अपनी योग्यता से घटरूप बन गई । सर्वत्र ऐसा ही कार्य कारण विधान है । जीव में जो रागद्वेषादिक भाव होते हैं, जितने भी विकल्प होते हैं सो इस जीव में उन विकल्पों के करने का सामर्थ्य है तभी तो विकल्प हुए ।

ये रागद्वेष मोह विकल्प आदि सभी प्रकार के इन विभावों को रच सकने का इस जीव में सामर्थ्य है । तो अन्तरङ्ग कारण तो जीव का उपादान कहलाया । पर कर्मोदय के बिना ये बातें नहीं होतीं । उस प्रकार का कर्मोदय हो तो जीव में राग होता, द्वेष होता । तो वहाँ कर्मोदय निमित्त कारण हुआ । और, कर्मोदय निमित्त है, पर कर्म के फल को पाने के लिए बाह्य नोकर्म भी हुआ करते हैं । अगर बाह्य नोकर्म बिल्कुल न रहें तो वह उदय अन्य रूपों में फल देकर चला जाता है । तो इसका नोकर्म है बाह्यपदार्थ अर्थात् बहिरंग सहकारी कारण हैं वे । इसी तरह मित्र, स्त्री, पुत्रादिक, वैभवादिक चेतन अचेत पदार्थ बाह्य आश्रयभूत कारण हैं । हम लोगों के जो राग हुआ करते हैं उनमें उपादान कारण तो हम खुद हैं, निमित्त कारण कर्म का उदय है और आश्रयभूत कारण बहिरंग सहकारी कारणमात्र हैं ये चेतन अचेतन पदार्थ ।

अपने क्लेशों में अपने अपराध की निरख—उस समस्त विवेचनों से यह निर्णय करना कि ये समस्त रागादिक विभाव हमारे दु:ख के कारण हैं, इन दु:खों में अपराध तो हमारा ही मुख्य है। हम चेतते नहीं, असावधान है, या पहले से हमने ऐसा ही खोटा संस्कार रचा है कि हमें दु:खी होना पड़ता है। बड़े से बड़े पुण्यवान जीव भी रागद्वेष से दु:खी हुए। श्री रामचन्द्र जी, जिनकी अलौकिक महिमा थी, जो आज भी पुरुषों के द्वारा स्मरण किए जाते हैं उनको भी कर्म का उदय

आने पर सीता का वियोग, लक्ष्मण का वियोग आदि अनेक घटनायें जीवन में आयी। तो बड़े-बड़े पुरुषों के भी ये स्थितियां बन जाती हैं। तब यहाँ के इन प्रसंगों में सुख की क्या आशा करना? ये सब गुण स्वप्नवत् विदित हो जाते हैं जब काल गुजरता है। जैसे अब से पहले वर्षों के ही समागम विषय भोग, सुख, मौज ये सब आज स्वप्नवत् लग रहे हैं ना। क्या था, कुछ न था, भ्रम था। तो इसी तरह समझिये कि आज जो कुछ समागम मिल रहे हैं वे सब असार हैं, स्वप्नवत् है। भीतर में आत्मा के ऐसा ज्ञानप्रकाश है कि यदि वह अपने भीतर सम्हाल करे और ज्ञानभाव का स्पर्श कर ले अनुभव कर ले तो इस जीव को अलौकिक अद्भुत आनन्द प्राप्त होता है। बाहर में इस जीव का क्या रखा है? सब धोखा है, छल है, भ्रम, बरबादी है। तो ये जितने विभाव होते हैं, ये हमारे बाह्य कारणों के बीच होते हैं तब तो ये मायाजाल हैं, भ्रम हैं, विनश्वर हैं, असार हैं।

निर्विकल्प परिणमन का आदर—केवल कालद्रव्य का निमित्त पाकर अन्य कोई कारण न आये, अपने आपमें जो स्वानुभव का आनन्द प्रकट होता है वही सारभूत है। लोग विशेष के लिए ललचाते हैं, यह पुरुष विशेष है, यह काम विशेष हुआ। विशेष-विशेष की तृष्णा रखते हैं, पर ऋषि संतजन कहते हैं कि उस विशेष का व्यामोह छोड़ो, अपने आपका जो अपनी ज्ञानज्योति का अनुभव है, जो इन विकल्पों की अपेक्षा से सामान्यस्वरूप है उसका आदर करो। अज्ञानी जनों को इस आत्मस्वरूप का परिचय नहीं है और इसी कारण जो मुद्रासहित पदार्थ हैं उनमें ही इसकी रुचि बनती है। यह अन्तस्तत्त्व कैसे आये अनुभव में, यह शब्दमय तो है नहीं कानों से सुन लिया जाय, कुछ भीतर आवाज समझ ली जाय कि कैसा आत्मा है। आत्मा का रूप तो है नहीं जो आंखों से परख लिया जाय कि आत्मा का काला, पीला आदिक कैसा रूप है? आत्मा गंधवान पदार्थ भी नहीं है जो नासिका द्वारा जाना जा सके। आत्मा में रस भी नहीं है जो रसनाइन्द्रिय द्वारा परखा जा सके, और स्पर्शइन्द्रिय के द्वारा भी यह आत्मा छूने में नहीं आता। आत्मा में स्निग्ध रूक्ष आदिक भी नहीं है। तो इन्द्रियां असफल हैं इस आत्मतत्त्व के समझने में। मन एक भीतरी इन्द्रिय है तो यह मन बहुत कुछ आत्मतत्त्व के समझने में सफल तो होता है, पर जिसको कहा गया है आत्मा का साक्षात् दर्शन अनुभव, स्वानुभव, उस समय इस मन का व्यापार नहीं है । यह मन इस आत्मानुभूति के अर्थ बहुत कुछ काम कर लेता है, पर ऐन टाइम जब कि आत्मा का अनुभव हो रहा हो उस समय यह मन छुट्टी पा लेता है, एक अद्भुत अनुभव है आत्मा के ज्ञानस्वरूप का अनुभव करना मन ने बहुत कुछ कार्य किया, स्वपर विवेक बनाया । इस भावमन के द्वारा

हमने वस्तुस्वरूप को समझा जाना, और इसमें तर्क वितर्क भी किया, स्वलक्षण की पहिचान भी किया, मगर जिसे कहते हैं ज्ञानानुभव, ज्ञान में केवलज्ञानस्वरूप का समा जाना । यह है निर्विकल्प अनुभव । मन का काम विकल्प करने का है, उस समय मन किस स्थिति में आ जाता है और किस स्थिति से रहकर वह अपना अस्तित्व बनाये रहता है, वह एक बड़े रहस्य की चीज है । वहाँ स्वानुभूति के समय में आत्मा को केवल उस ज्ञान के सत्यस्वरूप का परिचय हो रहा है । तो ऐसे परिणमन के, अनुभवन में कालद्रव्य निमित्त हो रहा है, और यह बात तो है किसी थोड़े क्षण की बात । सिद्ध भगवान जो शाश्वत शुद्ध है, उनका जो परिणमन है वह धर्मादिक द्रव्यों में जैसे कालमात्र कारण है इसी प्रकार वहाँ कालमात्र कारण है । तो समस्त द्रव्यों में परस्पर जो कार्य कारणभाव है वह सहकारी कारणपने से है, दूसरा कहीं उपादान कारण नहीं बन जाया करता है । यहाँ परखना है अपने को यह कि मुझे अपने आपका निर्णय करना चाहिए और यहाँ ही कोई काम करना है जिससे कि हमारा उद्धार होगा, शान्ति प्राप्त होगी । तो इस प्रसंग में बताया जा रहा कि लौकिक अलौकिक आदि जो सभी तरह के कार्य हो रहे हैं उनमें अन्य द्रव्य का परस्पर सहकारी कारणभाव है ।

गाथा — २१९

कालाइ-लद्धि-जुत्ता णाणा-सत्तीहि संजुदा अत्था।
परिणममाणा हि संयं ण सक्कदे को वि वारेदुं ।।२१९।।

समर्थ कारण के होने पर कार्य की अवश्यंभाविता—अब इस गाथा में बताते हैं कि यह कारण कार्य विधान प्रतिनियत है कि जिसके बल पर ये समस्त कार्य हो रहे हैं । कार्य होने में एक तो काललब्धि चाहिए । काललब्धि कोई अलग वस्तु नहीं । जिस काल में वे समस्त कारण जुट जाते हैं, जिसे समर्थ कारण कहते हैं तो उसको काललब्धि कहते हैं । अर्थात् अंतरङ्ग कारण सही हों, बाह्य- निमित्त कारण मिलें और जितने सहकारी कारण चाहिएँ वे उपलब्ध हों तो ऐसी स्थिति में कार्य नियम से होता है, इसी बात को इस विधि में बताया जा रहा है । समर्थ कारण होने पर कार्य होता ही है । उसे इन्द्र, चक्रवती, धरणेन्द्र आदिक कोई मेटने में समर्थ नहीं । जैसे चावलों में पकने की शक्ति है, ऐसे ही चावल, जो पक सकते हैं उन चावलों को जलते हुए चूल्हे पर रखी हुई बटलोही में पानी भरकर रख दिया गया, नीचे अग्नि जल रही है, उसको रोकने का प्रतिबंधक कारण भी कुछ नहीं है तो ऐसी स्थिति में अब उन चावलों को पकने से रोक कौन सकता है? इसी श्रद्धा के बल पर तो प्रतिदिन लोग चावल बटलोही में भरकर चूल्हे पर रख देते हैं और नीचे आग जला देते हैं । उनके कान में कभी ऐसा विचार नहीं आता कि आज भात बन भी पायेगा या नहीं, क्योंकि उनको पूर्ण श्रद्धा रहती है कि ये चावल पक अवश्य जायेंगे । हाँ यदि नीचे अग्नि न जलाई जाय या उस बटलोही में चावल को जगह पर कंकड़ भर दिये जायें तो वे न पक सकेंगे । पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन चारों के होने पर, जिन बहिरङ्ग सहकारी कारण के होने पर योग्य चावल पक जाया करते हैं, वे सब हों तो वहाँ वह कार्य होता है । वहाँ उसे रोकने में कोई समर्थ नहीं है । कोई यदि यह कहे कि बीच में ही बटलोही उठा लें तो कैसे वे चावल पक सकेंगे? तो भाई बता तो रहे हैं कि सर्व कारण मिले हुए हों तो वहाँ कार्य को रोकने में कोई समर्थ नहीं । हाँ यदि द सभी योग्य कारण न मिलें तो उस कार्य का होना रुक जायेगा । तो जैसे सर्व कारणों के बीच में योग्य परिणम सकने वाला उपादान अपने में परिणमन करता है यों ही हम आप सब रागी जीव, उदय भी कर्मों का चल रहा है और बहिरंग कारण आश्रय भी जुट जायें तो वहाँ राग करते हैं ।

धर्ममार्ग में प्रगति करने का अपना कर्तव्य—कर्तव्य यह है कि अपना ज्ञान सही बनायें, क्षयोपशम भी तो ज्ञानावरण

का चल रहा है । कुछ मंदकषाय की बात भी तो चल रही है, वैसी योग्यता भी तो है । हम उस योग्यता को अपने कार्य में लें, अध्ययन द्वारा ज्ञानोपयोग हमारा बने । हम यथार्थ बात समझें, मैं मैं हूँ, बाकी परपदार्थ पर है, पर से मैं अत्यन्त निराला हूँ, ऐसा दर्शन करने का पौरुष बनायें तो यह रागभाव मंद हो जायेगा, और कभी यह रागभाव सम्पूर्ण मेट सकने में समर्थ हो सकेंगे । जैसे कोई चींटी जब किसी भींत पर चढ़ती है तो बीसों बार चढ़-चढ़ कर गिरती रहती है, पर उसके अन्दर कुछ ऐसा ही आग्रह है कि उसी भींत पर वह फिर चढ़ने लगती है और कभी वह चढ़ ही जाती है, तो इसी तरह हम इस संसार में अनेक बार धर्म के लिए अपन उत्साह बनाते हैं, कुछ चढ़ते हैं फिर गिरना पड़ता है, फिर कुछ चढ़ते हैं फिर गिरना पड़ता है । पर इस चढ़ने के आग्रह में (धर्मपालन के आग्रह में) अपनी हिम्मत न तोड़े, अपने धैर्य को न खोलें, कितनी ही असफलतायें मिलें, पर अपना कदम पीछे न हटायें, अपने धर्मपालन के कदम को आगे ही बढ़ाते जायें तो निश्चय ही वह समय आयेगा कि हम पूर्णरूपेण धर्मपालन के पात्र बन जायेंगे । वह धर्म है क्या चीज? वह एक ज्ञानसाध्य बात है । यह एक दृढ़ता से समझने की बात है । और उसही ज्ञानबल से एक ऐसा बल प्राप्त होता है कि हम बाहर बातों को पूर्णरूपेण सहन कर सकने में समर्थ हो सकते हैं । तो अनेक शक्तियों से संयुक्त यह जीव उस-उस प्रकार की कारण सामग्री में अपना परिणमन बनाता है ।

विकास के समर्थ कारणों में विकास की अवश्यंभाविता—एक भव्यत्वशक्ति भी है, उससे युक्त जो जीव हैं वे उस तरह का साधन बनायें तो अपने में उस धर्मभाव को प्रकट कर सकते हैं । तो यह समझना चाहिए कि हम अपने अन्त: पौरुष में बढ़ सकें, ऐसे साधन जुटायें, सत्संग अधिकाधिक समय तक रखें, जिस संग में हम रहते हैं, योग्यता हम में नाना तरह के परिणमन की है, हम उसका प्रभाव अपने में बना लेते हैं, सत्संग बहुत काल तक रहे, स्वाध्याय, ज्ञानोपयोग बहुत काल तक रहे, संस्कार इसी में आत्मा के बनते हैं, इसको संस्कृत किया जाय, उस ही ज्ञानधारा में इस उपयोग को लगाया जाय तो हमारा संस्कार ज्ञान और धर्म का बन सकेगा, और उसके बल पर हम अशान्ति से दूर हो जायेंगे, शान्ति प्राप्त कर लेंगे । कितना सुगम तो मार्ग है, केवल एक व्यामोह को हटाकर अपने आपमें भीतर परखने की बात है । हम यदि यह दृढ़ निर्णय करके रह जायें मेरा कहीं कुछ नहीं है, किसी से कुछ प्रयोजन नहीं है, मैं अपने में बसे हुए उस सहजपरमात्मतत्त्व के दर्शन करके तृप्त रहूंगा, अब मुझे अन्य बातों से कुछ प्रयोजन नहीं है । मेरा केवल एक यही काम है, सर्व से मैं निरपेक्ष होकर मैं एक इस सहज परमात्व के दर्शन में ही आसक्त होऊँगा, ऐसा दृढ़ संकल्प करके भीतर में इसकी धुन बनायें तो फिर ज्ञानानुभूति के अनेक क्षण आयेंगे, और इस ज्ञानानुभव मैं ही वह बल है कि भव-भव के संचित कर्मों की निर्जरा करने में कारण बनता है, इस पौरुष में हमें आगे बढ़ना चाहिये और आज के पाये हुए जो पुण्य समागम हैं श्रेष्ठ कुल, जैनदर्शन की प्राप्ति और जानने समझने की योग्यता और यथावसर सत्संग का मिलना, ये

सब हमारे सफल हो जायेंगे जब कि हम अपने आपके उस सहज परमात्मतत्त्व के दर्शन करने में अपना उपयोग लगायेंगे ।

गाथा — २२०

जीवाण पुग्गलाणं जे सुहमा बादरा य पज्जाया ।
तीदाणागद भूदा सो ववहारो हवे कालो ।।२२०।।

व्यवहारकाल का विक्षेपण—लोक भावना में यह प्रकरण चल रहा है कालद्रव्य के स्वरूप का । कालद्रव्य क्या चीज है? जो निश्चयकाल है, जो वास्तविक कालद्रव्य है वह अतिसूक्ष्म है और बताया गया है कि आकाश के, लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालद्रव्य है । जैसे कि एक परमाणु कितना सूक्ष्म पदार्थ है । एक छोटा से छोटा कंकड़ होवे तो उसमें भी अनन्त परमाणु पड़े हुए हैं । अब बतलाओ जिसको हम छोटा नहीं कर सकते इतने सूक्ष्म कण है और उसमें भरे हैं अनन्त परमाणु । अब उसमें एक परमाणु कितना कहलाता है यह हम आप इन इन्द्रियों द्वारा न जान सकेंगे । इसे तो सर्वज्ञदेव ही साक्षात्कार कर सकते हैं, तो जैसे एक परमाणु अतिसूक्ष्म है ऐसे ही एक प्रदेश भी सूक्ष्म है । एक सूई की नोक किसी कागज पर गड़ा दी जाय तो उसमें जो गढ़ा बन गया उसमें अनगिनते प्रदेश है । उनमें से कोई एक प्रदेश कितना छोटा होता होगा, आप स्वयं इसका अंदाज कर लीजिए । यों ही समझिये एक काल द्रव्य लोकाकाश के एक प्रदेश पर ही जो ठहरा हुआ है वह अतिसूक्ष्म है, अब उसके सम्बन्ध में जो हमको ज्ञान विशेष बनता है वह उसकी पर्याय के होने पर बनता है । उस कालद्रव्य की पर्याय है एक समय । यह एक समय भी अतिसूक्ष्म है, एक सेकेण्ड का करोड़वां हिस्सा भी असंख्याते समयों से भरा हुआ है । उसमें से एक समय भी कितनी सूक्ष्म चीज है । पर वे ह समय जब बहुत हुए तो उनके तो हम व्यवहारकाल द्वारा परखा करते हैं । अब सेकेण्ड हुआ, मिनट हुआ, दिन हुआ, वर्ष हुआ आदि । अब व्यवहारकाल में हम फिर व्यवहार करते हैं कि भाई समय गुजरता है, तो ऐसे परिणमन होते ही हैं । तो वह है समय नाम का वास्तविक एक पर्यायार्थिक दृष्टिकाल, व्यवहारकाल । किन्तु इस गाथा में इस ढंग से व्यवहारकाल का वर्णन कर रहे हैं कि पदार्थों में जो परिणमन होता है वह है व्यवहारकाल । जैसे हमने समझा कि १२ घंटे व्यतीत हो गए, यह कैसे समझा कि सूर्य पूर्व से चलकर पश्चिम तक पहुंच गया । उदय हुआ था, निकला था तब दर्शन था, अब अस्त हो रहा है तो अंतिम दर्शन हो रहा है, तो सूर्य का जो इतना काम हुआ उससे ही तो समझा कि १२ घंटे व्यतीत हो गए । यह व्यवहारकाल जो कि कालद्रव्य के परिणमन से सम्बंधित है, वह है इस पुद्गल के परिणमन से सम्बंधित । तो इसका परिणमन व्यवहारकाल है इस ढंग से यह वर्णन किया जा रहा है । जीव और पुद्गल का जो सूक्ष्म और वादर पर्याय है, अतीत भविष्य वर्तमानरूप जो कुछ परिणमन है वह व्यवहारकाल कहा गया है ।

दो पद्धतियों में व्यवहारकाल का वर्णन—काल के सम्बंध में कुछ न कुछ कल्पनायें सभी को जगती हैं । समय गुजरे उसको काल कहते हैं, या जो बात होने को होती है उसको काल कहते हैं अथवा कोई लोग वस्तु के विनाश करने वाले किसी को काल कहते हैं, और काल का वास्तविक अर्थ क्या है, काल क्या चीज है? स्याद्वाद शासन में इस प्रकार बताया है कि जैसे परमाणु पदार्थ होता है इसी प्रकार कालद्रव्य नाम के भी पदार्थ होते हैं । ये अमूर्त हैं और लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालद्रव्य अवस्थित है । उन कालद्रव्यों की प्रतिक्षण परिणति होती है और वह परिणति समय के रूप में है । तो समय है परमार्थपर्याय और कालद्रव्य है परमार्थद्रव्य । अब व्यवहारकाल क्या कहलाता है, उसका वर्णन इस गाथा में क्रिया गया है । उस परमार्थ समय का व्यवहार नहीं हो सकता, और कालद्रव्य भी व्यवहार नहीं होता ।

व्यवहार जिस समय का, जिस काल का हो सकता है उसका वर्णन यहाँ कर रहे हैं । यद्यपि कालद्रव्य का या समय पर्याय का व्यवहार नहीं होता, लेकिन व्यवहारकाल बनने में समय पर्याय कारण है और समय पर्याय के होने में काल कारण है । तो व्यवहारकाल को यहाँ दो तरीकों में बतला रहे हैं । एक तो समय से बढ़कर जो समय का समूह रूप समय है उसे व्यवहारकाल कहा है । दूसरे सभी पदार्थों में और विशेषतया जीव पुद्गल में जो परिणमन दृष्टिगोचर होते हैं उन परिणमनों को व्यवहारकाल कहते हैं । तो पहिले समय सीमा में व्यवहारकाल का वर्णन किया जा रहा है ।

सबसे छोटा कालपर्याय है समय । एक परमाणु एक ओर से गमन करे और दूसरा परमाणु दूसरी ओर से विरुद्ध गमन करे तो गमन करते हुए दो परमाणुओं का जहाँ मेल होकर अतिक्रमण हो तो उन परमाणुओं के अतिक्रमण में जो क्षण लगे उसे समय कहते हैं । इस प्रकार भी समय का लक्षण कहा है । और मंदगति से चलते परमाणु एक प्रदेश का उल्लंघन करें जितने क्षण में उसे समय कहते हैं । इसको मोटे रूप में यह समझिये कि एक चुटकी बजाने में जितना काल लगता है उतने काल में अनगिनते समय हो जाते हैं । उनमें से जो एक समय है वह काल की जघन्यपर्याय है । असंख्यात समयों की राशि को आवली कहते हैं । ऐसे-ऐसे अनगिनते समय गुजर जायें उसे आवली और असंख्याते आवली गुजर जायें उसे उच्छ्वास कहते हैं । उच्छ्वास का स्थूल अर्थ है कि निरोग पुरुष की जो नाड़ी चलती है उसका जो एक उचकना है, एक नाड़ी जितने समय में चले उसे कहते हैं उच्छ्वास । ७ उच्छ्वासों का एक स्तोक होता है । ७ स्तोकों का एक लव होता है । ३८।। लवों की एक लाली (घड़ी) होती है, दो घड़ी का एक मुहूर्त होता है । अब घड़ी से खूब अच्छी तरह व्यवहार चलने लगा । २४ मिनट की घड़ी होती है और ४८ मिनट का मुहूर्त होता है । उस मुहूर्त में १ समय कम करके बाकी जो समय है उसे उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त कहते हैं और एक समय अधिक आवली को जघन्य अन्तर्मुहूर्त कहते हैं । और, इसके बीच उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक के मध्य में असंख्याते प्रकार के और अन्तर्मुहूर्त हैं वे मध्यम अन्तर्मुहूर्त कहलाते हैं । यह है समय की माप की बात ।

अब २४ घंटे का दिन होता अथवा कहो ६० घड़ी का एक दिन होता । दिन के मायने दिन और रात । दूसरा दिन जब तक न आये तब तक एक दिन संज्ञा की गई है । १५ दिन का पक्ष, दो पक्ष का महीना, दो महीने की ऋतु, ३ ऋतुओं का अयन, दो अयन का वर्ष और १२ वर्ष को एक युग कहते हैं । युग शब्द की अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकरण में भिन्न-भिन्न किया गया है, किन्तु जहाँ एक साधारण समय का माप बताया जाता है वहाँ १२ वर्ष को युग कहते हैं और देखा जाता है कि १२ वर्ष के बाद बहुतसा परिवर्तन हो जाता है । घर में, देश में, समाज में १२ वर्ष के बाद कोई नई-नई बात दिखनेसी लगती है । फिर उसके बाद उपमाप्रमाण है, पल्य है,, सागर है, कल्प आदिक हैं । पहिले जितना व्यवहारकाल बताया गया उसमें जो संख्यात वर्षों जितनी बात है, वह तो श्रुतज्ञान का विषय है, असंख्यात अवधिज्ञान का विषय है, और अनन्त केवलज्ञान का विषय है । ये सब व्यवहारकाल कहलाते हैं । समय के अनुसार काल की माप बतायी गई है ।

परिणमनपद्धति में प्रयुक्त व्यवहारकाल का कथन—अब जीव और पुद्गल के जो परिणमन हैं उन परिणमनों को भी व्यवहारकाल कहते हैं, इस ढंग से अब व्यवहारकाल को बतला रहे हैं । जीव और पुदगल में दो प्रकार के परिणमन हैं—सूक्ष्म और वादर । कोई हालत तो एकदम ज्ञान में आ जाती है, कोई हालत सूक्ष्म होती है । जैसे पुद्गल में अनन्त परमाणुओं के ये स्कंध तो आँखों दिख रहे हैं, किन्तु दो, तीन, चार अणु वाले स्कंध और अनेक परमाणु वाले अनेक स्कंध होते हैं असंख्याते परमाणुओं वाले तक आंखों नहीं दिखते। अनेकों अनन्ताणु स्कंध भी आँखों नहीं दिखते । ये सब सूक्ष्म पर्यायें हैं । जीवों में स्थूल पर्याय हैं मनुष्य तिर्यञ्च आदिक अथवा उसके क्रोध, मान, माया, लोभादिक । सूक्ष्म पर्याय तो केवलज्ञान, केवलदर्शन आदिक हैं, जिनका समझना बहुत परिश्रमसाध्य बात है । लोग परमात्मा पर इसी कारण विश्वास

नहीं करते कि कौन है परमात्मा । और भगवान के हैं क्या? कितने ही मनचले लोग परमात्मस्वरूप का यों तिरस्कार करते हैं कि क्या रखा है वहाँ? खाना पीना भी नहीं, शरीर भी नहीं, कोई मौज के साधन भी नहीं, किन्तु मोही जीवों को उस परमात्मतत्त्व की क्या खबर हो सकती है?

परमात्मतत्त्व का निश्चयन—परमात्मतत्त्व अपने आपमें ही विराजमान है । उसके देखने की पद्धति होनी चाहिए । जैसे एक किलो दूध रखा हो, उसके बारे में पूछा जाय कि बताओ इसमें घी है या नहीं? तो घी आँखों दिखता तो नहीं, पर पारखी लोग बता देते हैं कि इसमें एक छटांक घी है, इसमें आधी छटांक घी है। उन्होंने विवेक बुद्धि से समझा और जान लिया, किन्तु उसके व्यक्त होने का उपाय दूसरा ही है । मशीन से उसका मंथन किया जाय तो वहाँ घी प्रकट होता है । तो यह प्रकट होने का उपाय है लेकिन घी का अस्तित्व उस दूध में है अप्रकट रूप से, शक्तिरूप से है, इसी प्रकार हम आपकी जो आज हालत है सो यह कोई परमात्मस्वरूप की बातें नहीं है । नारकी, पशु, पक्षी मनुष्य आदिक कितनी ही तरह की दुःखमयी स्थितियाँ हैं उनको लाई फिरना यह कोई परमात्मस्वरूप की बात नहीं है, लेकिन हम आप जो दुःखी हो रहे हैं, परतंत्र हो रहे हैं, जन्ममरण कर रहे हैं उतने विकल्प मचा रहे हैं, जीव हम वही है जिसमें कि वह परमात्मस्वरूप बना हुआ है । वह शक्तिरूप है । न हो तो यह बात भी नहीं हो सकती है लेकिन उस परमात्मस्वरूप के दर्शन का और उसके विकास का उपाय होना चाहिए । परमात्मस्वरूप का दर्शन का उपाय यही है कि कोई प्रकार के विकल्प न हों, तब वहाँ उस स्वरूप का दर्शन होगा । परमात्मा के दर्शन में बाधा देने वाले तो विकल्प हैं । जहाँ परन्तु के सम्बंध में कोई ख्याल बनाया, विकल्प बनाया, बस वे विकल्प ही उस स्वरूप को प्रकट नहीं होने देते, उसके दर्शन नहीं होने देते । यदि वे विकल्प न हों तो परमात्मस्वरूप का दर्शन होगा ।

निर्विकल्पता के आनन्द की अलौकिकता—अब विकल्प न हों इसका उपाय बनाना है । उसका उपाय यही है कि जहाँ हमारा दिल जाता है, जिनका आश्रय करने से विकल्प बनते हैं उनका स्वरूप समझें । वे चीजें मेरे से भिन्न हैं, पर हैं, मेरा तो मेरे में ही सर्वस्व है, किसी परपदार्थ से मुझमें कुछ आता नहीं है, ये सभी पदार्थ मेरे से अत्यन्त निराले हैं । इनमें उपयोग लगाने से तो मेरी बरबादी ही है । जन्म मरण के संकट सहने पड़ते हैं । ये समस्त ही परपदार्थ चित्त में बसाने योग्य नहीं हैं । इस तरह का एक निर्णय करते जाइये और चित्त में उठने वाले नाना प्रकार के विकल्पों को हटाते जाइये, तो किसी क्षण एक ऐसी स्थिति बनेगी कि यथायोग्य उस परमात्मतत्त्व की झाँकी हो जायेगी और तब मालूम पड़ेगा कि परमात्मा का आनन्द किस जाति का है । परमात्मा के अनन्त आनन्द है, और यहाँ ही अनुभूति करने वाले पुरुष को उस जाति का थोड़ा आनन्द आया है । जैसे कोई धनिक सेठ एक किलो मिठाई खरीद कर छक कर खाता है और कोई गरीब आदमी उसी मिठाई को एक छटांक ही खरीदकर खाता है तो स्वाद तो दोनों ने एक जैसा ही पाया । हाँ अन्तर इतना है कि सेठ ने तो छक कर खाया और गरीब छक कर नहीं रवा पाया, एक उसकी जानकारी भर कर पायी, यों ही समझिये कि परमात्मा के आनन्द में और एक सम्यग्दृष्टि पुरुष के आनन्द में ऐसा ही अन्तर है । परमात्मा तो अनन्त आनन्द वाला है जिस आनन्द से अब कभी वह विचलित न हो सकेगा और सम्यग्दृष्टि पुरुष को आनन्द तो उसी जाति का है पर थोड़ा है और थोड़े समय के लिए है । मगर वह सम्यग्दृष्टि पुरुष समझ जायगा कि परमात्मा का आनन्द इस तरह का है ।

शान्ति के लिये तो अनुकूल अन्तः पौरुष की आवश्यकता—हम आप सभी शान्त व सुखी होना चाहते हैं, पर शान्त और सुखी होने का जो उपाय है उसमें कषायवश लग नहीं पाते । इस जीव ने भव-भव में कषायें कीं और उन कषायों से

खोटे ही फल पाये । तो जैसे कोई तेज लालमिर्च खाने हाला पुरुष लालमिर्च खाकर दुःखी होता जाता है, आँखों से अश्रु भी बहाता जाता है, सी-सी भी करता जाता है मगर कहता है कि लालमिर्च थोड़ी और दे दो, ठीक ऐसे ही समझो कि राग कर करके हम आप दुःखी होते जाते हैं पर उस दु:ख के मेटने का उपाय राग करना ही समझते हैं । पर राग कर करके दु:ख मिट सके यह बात कभी हो नहीं सकती । जैसे खून का दाग खून से धोया जाय तो वह खून का दाग मिट नहीं सकता, ऐसे ही राग कर करके राग से उत्पन्न हुआ दुःख मेटा नहीं जा सकता । उस दुःख को मेटने के लिए सही जानकारी बनानी होगी, परद्रव्यों से एकदम उपेक्षा करनी होगी, कषायभाव मेटने होंगे ।

पर्यायों की व्यवहारकालरूपता—यहां वादर और सूक्ष्म पर्यायों की बात चल रही है कि जीव में जो केवलज्ञान, केवलदर्शन, विशुद्ध आनन्द आदिक पर्यायें हो रही हैं वे सूक्ष्म पर्यायें हैं । वे एकदम से समल में नहीं आ सकतीं । ये सब पर्यायें व्यवहारकाल कहलाती हैं । जहाँ वस्तु के स्वरूप का वर्णन द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा में किया जाता है वहाँ भी काल का यही अर्थ है—वस्तु का परिणमन । किसी पदार्थ को जानना हो तो वहाँ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ज्ञान में आयगा । जैसे मान लो एक इस पैन (कलम) को ही समझा तो इसका जो स्कंध है, द्रव्य है वह ज्ञान में आया । यह कितनी जगह घेर रही है, कितनी बड़ी है, उसका आकार भी ज्ञान में आया और यह कमजोर है, मजबूत है, आदिक किस पर्याय में है, किस रंग का है, यह भी ज्ञान में आया और इसमें कैसी शक्ति है यह भी ज्ञान में आया । तो ये चार चीजें ज्ञान में आयीं उस विधि से ही वस्तु का परिचय होता है । तो यहाँ काल का अर्थपरिणमन किया गया है । अब विचार करें—ये सब परिणमन कितनें हैं? तो उसको कहा न जा सकेगा क्योंकि जितने काल के समय हैं प्रत्येक समयों में भिन्न-भिन्न परिणमन चलते रहते हैं । तो जितने काल के समय हैं उतनी ही पर्यायें कहना चाहिए । और इस सामान्यदृष्टि में छहों द्रव्यों का

अवस्थान समान है । प्रत्येक द्रव्य अनादि से है, अनन्तकाल तक रहता है । कोई नया द्रव्य बनता नहीं और कोई द्रव्य कभी मिटता नहीं । जितने अनन्त जीव हैं वे सब रहेंगे, जितने अनन्त पुद्गल हैं वे सब रहेंगे । जो सत् है उसका विनाश नहीं । जो कुछ भी नहीं है उपादान न मिलने से उनकी उत्पत्ति कल्पना में आ नहीं सकती।

व्यवहारकाल के स्वरूप को जानकर अपनी समझ बनने की सत्यदिशा का निर्देश—इस अनादि अनन्त काल परिणमन को जानकर अपने आपके बारे में भी कुछ समझना है । मैं अनादि से हूँ, अब तक हूँ अनन्त काल तक रहूँगा । तो अब तक की जो हमारी स्थितियां गुजरी भी हैं वे सब खोटी गुजरी है । जन्म मरण किया है । मरण किया, जन्म लिया, सारी जिन्दगी मोह में, कषायों में बितायी, फिर मरण किया । मोह में जन्मे, मोह में जिये और मोह में ही मरे, ऐसी स्थिति जीवों की अब तक चली आयी है । लाभ कुछ नहीं मिला । अब अपना कर्तव्य यह है कि अपनी स्थिति को अब बदले, कुछ सत्य ज्ञान की ओर आये । अब तक जो हुआ सो हुआ उसका खेद क्या करें । जो होना था हुआ, अब जान लीजिए कि जो कुछ भी अभी तक हुआ वह सब मिथ्या था, मायारूप था । तो यह जानकारी हमारे हित के लिए है । अब आगे की कुछ सुध ले, बीती हुई बातों को मायारूप समझे, इन लौकिक समागमों में हर्ष विषाद न मानें । यह तो संसार है, यहाँ पुण्य तथा पाप के फल मिलते हैं तो पुण्य के फल में हर्ष न मानना और पाप के फल में विषाद न मानना । उस पुण्य पाप फलों के ज्ञाताद्रष्टा रहें और अपने आपमें ऐसा निर्णय बनायें कि मैं तो इन सबसे निराला एक विशुद्ध चैतन्यमात्र हूँ । ये जो व्यवहारकाल बताये जा रहे हैं, इनसे निराला अपने आपको एक शुद्ध स्वरूप में निरखना यही हम आपका आगे बढ़ने का उपाय है। अब अतीत भविष्य और वर्तमान पर्याय की संख्या का प्रतिपादन करते हैं ।

गाथा — २२१

तेसु अतीदा णंता अणंत-गुणिदा य भावि-पज्जाया ।
एक्को वि वट्टमाणो एत्तिय-मेत्तो वि सो कालो ।।२२१।।

पर्यायों की अनन्तता—उन जीव पुद्गल आदिक पदार्थों में अतीत पर्यायें अनन्त हैं और उनसे अनन्तगुनी भविष्य की पयार्य हैं और वर्तमान की पर्याय एक है, उन सब पर्यायों मात्र यह काल है अथवा यह एक पर्याय है । चेतन की पर्यायें कितनी गुजर गई हैं? तो उसे कहेंगे कि जितने अतीतकाल गुजरे हैं उतनी पर्यायें गुजरी हैं । अतीतकाल कितना गुजरा है? इसका अनुमान एक शुद्ध जीवराशि की माप से कहा जाता है । ६०८ जीव ६ महीना ८ समय में मुक्त होते हैं—ऐसा एक साधारण नियम है । तब जितने आज तक सिद्ध हुए हैं उनमें ६ महीना ८ समय के माप से संख्यात आवलियों का गुणा कर दिया जाय तो अतीतकाल का प्रमाण निकल आयगा । कितना है यह सब समझने के लिए कहा जा रहा है । नहीं वह अतीतकाल गिनती में न आ जायगा । अनन्त समय गुजर गया, और भविष्यकाल कितना होगा । तो इससे भी अनन्तगुना समय होगा । यद्यपि अतीतकाल का भी अन्त नहीं है और भविष्यकाल का भी अन्त नहीं है इस दृष्टि से दोनों ही समान हैं, लेकिन एक यह दृष्टि रखी गई है कि इस जीव में पर्यायें सदा होती रहेगी उस पर बल देने के लिए कह रहे हैं । भावी

पर्यायें उससे अनन्तगुनी हैं और वर्तमान पर्याय एक है । यों इतना मात्र अर्थात् समस्त पर्यायें मात्र ये पदार्थ कहलाते हैं । ये सब पर्यायें जैसे अनन्त जीव में है, अनन्त पुद्गल में हैं ऐसे ही अनन्त पर्यायें अन्य द्रव्य में भी हुई और होंगी । अधर्म, आकाश, काल में भी ऐसी ही अनन्तपर्यायें हुई हैं, और अनन्त पर्यायें होंगी । ये द्रव्य सूक्ष्म है और इनसे इस जीव का व्यवहार भी नहीं चलता आया है अतएव यह सूक्ष्म विषय है । जीव का व्यवहार तो जीव और पुद्गल के परिणमन से बीच चलता रहता है । जीव जीव से व्यवहार करता है । जीव पुद्गल से व्यवहार करता है । जीव के निमित्त से दूसरे जीव का कुछ उपकार विकल्प होता और पुद्गल के निमित्त से भी जीव का उपकार विकल्प होता ।

भेदविज्ञान द्वारा झमेले से छुटकारा—हम आपका जो झमेला है वह सब जीव पुद्गल के बीच का है । हमें भेदविज्ञान का उपयोग इस जीव और पुद्गल पर विशेषतया करना है । मेरे से अतिरिक्त जितने भी जीव हैं वे अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हैं । अपने आपमें उनमें स्वत: परिणमन होता है मेरे से नहीं और मेरे में परिणमन मेरा स्वत: होता है, किसी अन्य जीव से निकलकर नहीं होता । इस प्रकार सर्व पुद्गल द्रव्य अणु-अणुमात्र देह भी और कुछ भीतर कर्म अणु मर्म के अणु जो कुछ भी हैं सब पुद्गल द्रव्य मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्य का स्वरूप रख रहे हैं । तो मैं अपने स्वरूप से चल रहा हूँ, दूसरे के स्वरूप से नहीं चलता । इस वस्तु स्वरूप का दृढ़ विश्वास करके जो समस्त परवस्तुओं से उपेक्षा कर सकेगा वह अपने आपमें अन्तःप्रकाशमान भगवत् तत्त्व के दर्शन कर पायेगा और जो इन बाहरी पदार्थों के विकल्पों में ही उल्का रहेगा वह खुद भगवत्स्वरूप होकर भी खुद का दर्शन नहीं कर सकता है और न उस अनुपम आनन्द का लाभ प्राप्त कर सकता है । हमारा कर्तव्य है कि हम भेदविज्ञान में अपनी बुद्धि अधिकाधिक लगायें, मैं सबसे निराला हूँ ऐसा अनुभव करने का यत्न करें तो इस पौरुष से हम आपके समस्त संसार संकट टल सकेंगे ।

गाथा — २२२

पुव्व-परिणाम-जुत्तं कारण-भावेण वट्टदे दव्वं ।
उत्तर-परिणाम-जुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा ।।२२२।।

अन्तरङ्ग का कारण कार्य का स्वरूप—इस गाथा में द्रव्यों का कार्य कारण परिणाम बताया गया है । पूर्वपर्याय से युक्त द्रव्य कारणरूप से रहता है और उत्तर पर्यायसहित द्रव्य कार्यरूप हुआ करता है । कारण कार्य विधान के समय न केवल द्रव्य का वर्णन ठीक बैठता है, न केवल पर्याय का वर्णन ठीक बैठता है । क्या केवल पर्याय ही कारण होता है अथवा कार्य होता है? सो केवल पर्याय कोई वस्तु नहीं और मात्र कोई पर्याय जो द्रव्य से रहित है किसी का कारण बने या किसी का कार्य बने ये दोनों बातें ही सम्भव नहीं हैं, इसी प्रकार कारणकार्यविधान में केवल द्रव्य की बात ग्रहण न करें । खाली वह शाश्वत वस्तु जो त्रिकाल अन्वयी है, एक इतना ही अंशमात्र न किसी का कारण है, न किसी का कार्य है । इसी कारण इस गाथा में इस तरह का वर्णन किया गया कि पूर्वपर्याय से युक्त द्रव्य कारण होता है और उत्तर पर्याय से सहित द्रव्य कार्य होता है, पूर्व पर्याय सहित द्रव्य कारण होता है इसका अर्थ है उपादान कारण होता है, क्योंकि वही द्रव्य जो पूर्व पर्याय में है उत्तर क्षण में नवीन पर्याय में आयेगा सो नवीन पर्याय में आया उसका उपादान कौन है? पूर्व पर्यायसहित द्रव्य अर्थात् वही द्रव्य उत्तर पर्यायरूप प्रकट हुआ है और पूर्व पर्यायसहित द्रव्य में अनन्तर ही तो पर्याय हुई है, इस कारण पूर्व पर्यायसहित द्रव्य कार्य का उपादान कारण कहलाता है । वही द्रव्य जो उत्तर पर्याय से युक्त है वह कार्यभूत है, अर्थात् पूर्वपर्यायसंयुक्त द्रव्य जिसमें विवक्षित उत्तर पर्याय की योग्यता है, योग्य कारण सन्निधान मिलने पर वहाँ

वह पर्याय प्रकट होता ही है ।

उपादानकारण की योग्यता—कदाचित् यह कह सकते हैं कि योग्यता तो उसमें अनेक पर्यायोंरूप बनने की है और कारण न मिला उस रूप का जो विवक्षित पर्याय बनी है तो वह कैसे प्रकट होगी? तो भाई विवक्षित पर्याय वही है जो अनुकूल कारण सन्निधान होने पर प्रकट होती है । कुछ लोग ऐसी कल्पना करते हैं कि पूर्व पर्याय सहित द्रव्य में जो उत्तरपर्याय होती है केवल उस ही एक पर्यायरूप होने की योग्यता है, लेकिन जब युक्ति से भी नजर आ रहा है कि कुम्हार ने चाक पर सनी हुई मिट्टी का पिण्ड रखा है और उस पिण्ड में सब योग्यतायें समझ में आ सकती हैं कि इसमें घड़ा भी बन सकता, दीपक भी बन सकता, ढक्कन भी बन सकता, सकोरा भी बन सकता, तो उसमें योग्यतायें अनेक पर्यायोंरूप हो सकती हैं किन्तु जैसे अनुकूल साधन मिलते हैं कुम्हार का हाथ जिस ढंग का व्यापार करता है उस अनुकूल कारण को पाकर वहाँ उस प्रकार की पर्याय बनती है । अब इस ही तत्त्व को वस्तु दृष्टि से निरख करके कहा जा सकता है ऐसा कि चूंकि प्रत्येक पदार्थ में अनन्त पर्यायें होती हैं, और जब जो होना है तब वह होता है अन्यथा सर्वज्ञ अवधिज्ञानी ये सब निष्फल हो जायेंगे । अवधिज्ञान से जाना तो है कि अमुक समय में अमुक परिणमन होना है तो कैसे जाना? होना है तब तो जाना है । तो केवल इस होने की दृष्टि को रखकर कोई यहाँ निरखे कि जब जो होता है सो होना है, तो प्रत्येक पर्याय के समय एक ही उत्तर नवीन पर्याय की योग्यता है, क्योंकि वही होगा, किन्तु इस प्रसंग में यह है भी जानना चाहिएँ कि बात यद्यपि यह सही है कि जो जाना प्रभु ने, जो जाना अवधिज्ञानियों ने वह होगा, मगर जाना उन्होंने तब ही है जब वह होने को है और उसका होना है कार्यकारणविधानपूर्वक । जैसा कि दर्शनशास्त्र में वर्णित है, उपादान हो, बहिरङ्ग अनुकूल कारण हों, प्रतिबंधक कारण का अभाव हो तब वहाँ वह कार्य बनता है, तो इस कार्यकारणविधानपूर्वक जो कुछ होगा उसको जान लिया है । तो जानने मात्र से कार्यकारणविधान का तिरस्कार नहीं हो सकता । वह जिस विधिपूर्वक होता रहता है, होता था, होता रहेगा, अब उसको ज्ञानियों ने जान लिया तो यह कोई अपराध तो नहीं किया ।

कार्य के अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग हेतु—यहां बताया जा रहा है कि पहिली अवस्था में रहने वाला पदार्थ अगली अवस्था का उपादान कारण होता है । जैसे मिट्टी का पिण्ड घड़ा बनने का उपादान कारण है । उसके बाद वहाँ घड़ा बना ना, खपरियों का उपादान कारण वह घड़ा है । क्योंकि घड़ा फूटकर ही खपरियाँ बनीं । तो उत्तरोत्तर जो पर्याय होती रहती हैं उन कार्यों का अन्तरङ्ग कारण उपादान कारण पहिली-पहिली अवस्था में रहता हो वही द्रव्य है । इस बात को अपने आप पर घटित करो कि हममें जो रागादिक भावों की संताने चलती रहती हैं, राग हुआ, विकल्प हुआ, कुछ और विचार हुए, कभी कुछ सोचते हैं कभी कुछ, तो यों जो मलिन पर्यायों की संतति चल रही है, यह धारा नहीं टूट रही है तो इस धारा में कौन कारण है? तो अन्तरङ्ग कारण तो यह स्वयं है । क्योंकि इसी में ही यह धारा बन रही है और ऐसे संस्कार हैं, अज्ञानभरा भाव है इस योग्यता से यहाँ यह रागद्वेष की धारा चल रही है, पर बहिरंग कारण पर, निमित्त कारण पर दृष्टि देते हैं तो कोई अन्य पदार्थ वहाँ निमित्त अवश्य है अन्यथा अर्थात् बाह्य को निमित्त न मानने पर केवल अपने ही उपादान से अपने में ये मलिनतायें बनीं, ऐसी स्वीकृति कर लेने पर तो इन पर्यायों का अन्त न आर सकेगा । कैसे अन्त आये? जब अपनी सत्ता मात्र से ही ये रागादिक हो रहे हैं तो ये विनष्ट कैसे हों? तो बताया गया है कि कर्मोदय निमित्त कारण है, स्त्री, पुत्र, मित्र, धन-वैभव आदिक ये सब बहिरंग आश्रय कारण हैं और हमारी अज्ञानता, हमारा उस प्रकार का संस्कार यह हमारा अन्तरंग कारण है । इस तरह कार्य कारण विधान होता है ।

पर से उपेक्षा करके स्वयं में, अन्तःप्रकाशमान परमात्मतत्त्व के दर्शन का कर्तव्य—इस प्रसंग में हमको उस तत्त्व पर

दृष्टि देना चाहिए कि जहाँ दृष्टि जाने पर यह विदित होता कि मैं न कार्य हूँ न कारण हूँ, वह दृष्टि हैं अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञान स्वभाव की दृष्टि । मैं अपने आप अपने सत्त्व से क्या हूँ? निरपेक्षरूप से अपने सत्त्व का बोध किया जाय तो वह चैतन्यमात्र अनुभव होगा । इस मेरे का किसी अन्य पदार्थ से कोई सम्बन्ध कहीं है । पूर्वभव में कोई परिवार मिला होगा, कोई समागम तो था ही, कहीं तो जन्म था ही । वहाँ से मरण करके यहाँ आये तो इस समय हमारे लिए क्या रहा वहाँ का? न उसका कुछ ख्याल है, न व्यवहार है, न सम्बन्ध है । तो जैसे पूर्वभव की छूटी हुई चीजें प्रकट मालूम हो रही हैं कि वे मेरी कुछ न थीं । तो भाई जो बात पूर्व बीते हुए भव की हो सकती है वही बात आगामी (आगे होने वाले) भव के लिए भी हो सकती है । आज जो ये समागम प्राप्त हैं यहाँ मरण करके जाने के बाद फिर ये अपने कुछ न रहेंगे । ये सब छूट जायेंगे । देखिये—इस सत्य ज्ञान का क्षणभर के लिए भी छूना बन जायेगा तो एक अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होगी । अपने आपके सत्य वैभव का दर्शन होगा । परमात्मस्वरूप का दर्शन न तो शरीर के परिश्रम से होगा और न धन वैभव के द्वारा होगा । न किसी प्रकार के मौज में रहने से होगा । न कोई क्लेश करने से होगा । परमात्मस्वरूप का दर्शन विकल्पों का परित्याग करने से होगा । इस प्रभुस्वरूप के दर्शन में बाधा हमारे ही खुद के विकल्पों से आ रही है । हम बाहर में अपने उपयोग को किए हुए हों तो अन्तरंग की बात को नहीं समझ सकते हैं । जब बाहर से अपने इस उपयोग को हटाकर कुछ अपने अन्त: में ले जायेंगे तो वहाँ अपने अन्दर पड़ी हुई उस अमूल्य निधि का दर्शन होगा । तो हमारे ये विकल्प ही हमारी उन्नति में बाधक है, इन विकल्पों के ही कारण हम दु:खी रहा करते हैं और इस संसार में रुलते रहते हैं ।

अपनी असहायता स्वसहायता—हमें अब चेतना चाहिए और कम से कम इतना निर्णय सदा रखना चाहिये कि मेरे किए हुए कर्मों का फल मुझे अकेले ही भोगना होगा । मेरे किए हुए कर्मों का फल भोगने के लिए यहाँ कोई दूसरा हमारा साथी न होगा । अगर कदाचित् शिर दर्द हो जाय तो उसके दर्द को ये परिजन, ये मित्रजन कोई भी बाँट न सकेंगे, उस दर्द को तो खुद को ही भोगना पड़ेगा, हाँ वे दूसरे लोग मनपसंद बातें करके चित्त को रमाते हैं, पर हम ही यदि उनकी बातों में राग करते हैं तो उनमें हमारा चित्त रम जाता है, पर वे कोई भी लोग मेरे किसी भी प्रकार के परिणमन को कर सकने में समर्थ नहीं हैं । ऐसा असहाय यह मैं हूँ इस जगत में । असहाय का अर्थ है—खुद का असहाय होना, अन्य किसी का सहाय न होना । प्रभु को केवलज्ञान असहाय है, मायने प्रभु को किसी दूसरे की सहाय नहीं है । वे खुद ही खुद के लिए सहाय हो गए हैं । यहाँ दो दृष्टियों से देखना हैं—सांसारिक दृष्टि से भी कोई किसी का सहाय नहीं है । हाँ अगर कोई लोग किसी को पूछा करते हैं तो समझ लीजिए कि उस व्यक्ति का ऐसा पुण्योदय ही है कि जिसकी वजह से वे लोग पूछ कर रहे हैं । अगर खुद का पुण्योदय उस ढंग का न हो तो फिर कौन उसकी पूछ करते? अगर कोई सोचे कि देखो ये लोग कितना हमारे लिए प्रिय बन रहे हैं, ये लोग कितना प्रेम का व्यवहार मेरे प्रति कर रहे हैं तो उसका यह सोचना गलत है । अगर आपकी ही कुछ करतूत न हो, आपमें ही कोई कला न हो तो फिर कौन आपकी पूछ करेगा? हां आपका स्वयं को जब उस ढंग का पुण्योदय है तो वे लोग आपकी पूछ कर रहे हैं। तो अपनी ही करतूत अपने को फल देती है । इस बात का निर्णय बनाये कि यहाँ कोई दूसरा मेरा साथी नहीं है । यह भी श्रद्धान हो तब भी बहुत से संकटों से छुटकारा हो सकता है ।

पर्यायविवेक—हममें उत्तरोत्तर कार्य किस प्रकार से होते रहते हैं उसका यह वर्णन चल रहा है । मैं हूँ, अनादि से हूँ, अनन्त काल तक रहूँगा, मेरा कभी अभाव न होगा । मैं रहूंगा सदा । जब सदा रहूंगा तो किसी न किसी अवस्था में ही

तो रहूंगा । वे अवस्थायें गति मार्गणा की दृष्टि से ५ हैं नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव और सिद्ध । इनमें से किसी न किसी अवस्था में यह जीव रहता है । सिद्ध अवस्था ऐसी है कि उसके बाद फिर दूसरी अवस्था नहीं बनती । अवस्थायें तो हैं । इन्द्रिय मार्गणा की दृष्टि से एकेन्द्रिय रहे, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय चारइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय रहें अथवा इन्द्रिय से रहित रहे, ये अवस्थायें ही तो हैं । इनमें इन्द्रियरहित अवस्था इसे प्राप्त हो तो फिर दूसरी अवस्था न होगी । तो इन अवस्थाओं में एक छंटनी करें कि अपना हित किस अवस्था में रहने में है? क्या संसार में जन्ममरण करते रहें, जिन्दगी मोह राग में ही बितायें, इसमें कुछ अपना हित हो सकेगा ? अरे यह तो संकट है । तो अपने को ऐसी अवस्था प्रकट हो कि जो शान्ति उत्पन्न करे । उसी के लिए अपनी योग्यता बनाना है । वह योग्यता बनेगी भेदविज्ञान के संस्कार से । नित्य भेदविज्ञान बना रहे ।

अपनी विविक्तता का परिचय—आचार्य संतजन तो कहते हैं कि अविच्छिन्न धारा से अर्थात् कभी भी न टूटे ऐसी धारा से भेदविज्ञान रहे, सदा विविक्त अन्तस्तत्त्व का प्रत्यय रहे, विश्वास रहे कि मैं सबसे निराला केवल चैतन्यमात्र हूँ । मैं अपने ज्ञान को ही करता हूँ, ज्ञान को ही भोगता हूँ । सर्व गुणों में ज्ञानगुण प्रधान है । ज्ञानगुण का वर्णन करने में सभी का वर्णन आ जाता है । ज्ञान को छोड़कर अन्य कुछ न मैं करता हूँ, न भोगता हूँ । इसी समय मानो आपने कोई बिल्डिंग बनाया, या कोई व्यापार बढ़ाया तो इन सब प्रसंगो में आपने वास्तव में किया क्या? चीज बनी, चीज का परिणमन तो आपने नहीं किया, आपने विचार बनाया, बुद्धि, बनाया, विकल्प बनाया, इसके आगे और कुछ नहीं किया । अब इस विधि विकल्पों के किये जाने पर निमित्तनैमित्तिक भाववश ये सब कार्य हो रहे हैं । तो सर्वस्थितियों में यह जीव ज्ञान को करता है, विकल्प को करता है, किसी अन्य पदार्थ का करने वाला नहीं है । तो यों वस्तुस्वरूप समझ में आने पर पूर्वपर्याय सहित द्रव्य उत्तरपर्याय का कारण है, यह बात यथाविधि समझ में आने पर जैसे मैं मेरे लिए कार्यकारण हूँ ऐसे ही सभी पदार्थ उनके लिए कार्यकारण हैं । तब मेरा किसी अन्य पदार्थ से क्या सम्बंध है? ऐसा परिचय होता है, तो उसमें मोह टूटता है । जहाँ जीव का मोह मिटा, अपने आपके स्वरूप की धुन बनी कि उसके सर्व कुछ कार्य सिद्ध हो जाते हैं ।

सर्वकार्यों के मायने, प्रयोजन है शान्ति का उसका लाभ हो जाता है ।

गाथा — २२३

कारण-कज्ज-विसेसा तीसु वि कालेसु हुंति वत्थुणं ।
एककेक्कम्मि य समए पुव्वुत्तर-भावमासिज्ज ।।२२३।।

वस्तु में कारणकार्यपरम्परा—इस गाथा में यहाँ बताया जा रहा है कि तीनों काल में वस्तु के कार्यकारण भाव का निर्णय उस ही वस्तु में है । वस्तु के पूर्ण और उत्तर परिणमन को लेकर तीनों काल में प्रत्येक समय कार्यकारण भाव है । इस समय जो पर्याय बन रही है वह पूर्वपर्याय का तो कार्य है और उत्तरपर्याय का कारण है । प्रत्येक अवस्था कार्यरूप भी है और कारणरूप भी है । पदार्थ में प्रतिसमय उत्पादव्ययध्रौव्य होता है और तीनों के तीनों एक ही समय में होते हैं । जैसे कोई मनुष्य मरकर देव बना तो अब देवपर्याय में निर्णय करिये—उत्पाद हुआ देव का, व्यय हुआ मनुष्य का और ध्रौव्य रहा जीव का । तो देव का सद्भाव, मनुष्य का अभाव और जीव को ध्रुवता ये तीनों एक समय में हैं कि नहीं? तो प्रत्येक पदार्थ का उत्पादव्ययध्रौव्य का स्वभाव है । जैसे मिट्टी का पिडोला घड़ा बन जाता है तो जब वह घड़ा बन गया तो घड़े का सद्भाव, पिण्डोले का अभाव और मिट्टी की ध्रुवता ये तीनों एक समय में हैं । तो पर्याय का उत्पाद विनाश होकर भी जो मूलभूत वस्तु है उसकी सदा ध्रुवता रहती है और यों, तीनों काल में प्रत्येक द्रव्य में कारणकार्य की परम्परा चल रही है । पूर्वपर्यायसंयुक्त द्रव्य उत्तरपर्याय का कारण है, उत्तरपर्याय पूर्वपर्याय का कार्य है अर्थात् द्रव्य में निरन्तर अवस्थायें चलती रहती हैं ।

एकत्वदृष्टि का लाभ—केवल एक वस्तुस्वरूप को निहार निश्चय देखें तो यही प्रतीत होगा कि प्रत्येक पदार्थ हैं और उनमें लगातार परिणमन चलता है । विश्वास यदि यह हो जाय कि मेरे में मेरा परिणमन मेरे स्वभाव से चल रहा है, उस स्वभाव को कोई दूसरा उत्पन्न नहीं करता तो सारतत्त्व पर दृष्टि जायगी और वहाँ विदित होगा कि इस सत् चैतन्य का तो मैं ही अधिकारी हूँ, मैं ही सर्वस्व हूं, अन्य कुछ इसका कुछ नहीं है । जीवों को दुःख है नहीं, क्योंकि दुःख का स्वभाव नहीं । स्वभाव न होकर भी चूँकि इसमें विभावशक्ति है तो कारणकूट में और अपने अपराध से यह जीव आनन्द स्वभाव का अनुभव न करके दुःखरूप परिणम जाता है । तो यहाँ इतना निश्चय कर लीजिए कि दुःख तो बनाने से होता है और आनन्द स्वयं होता है । जैसे कि लोग ऐसा यत्न करते हैं कि आनन्द मिले । अरे आनन्द के लिए यत्न नहीं करना है । यत्न तो दुःख के लिए बना करता है । हाँ वह दुःख मिटे तो वहाँ आनन्द स्वयं ही प्रकट होता है । तो करने की चीज खोटी है और स्वयं होने की चीज भली है । न करें कुछ, कोई विकल्प न करे यह जीव, स्वयं एक अपने विश्राम में आये तो इस पर स्वयं क्या होगा? आनन्द ही होगा, दुःख न आयगा । हम विकल्प करते हैं, परवस्तु को उपयोग में दृढ़ करते हैं, उसका आग्रह बनाते हैं, तो हम में जो इतने यत्न हो रहे हैं ये दुःख के कारण बन रहे हैं । जरा इन सब यत्नों को, श्रमों को छोड़कर पूर्ण विश्राम के साथ स्थित तो हो जाय, वहाँ फिर क्लेश का कोई निदान न रहेगा । जब ज्ञान में ज्ञानस्वरूप ही ज्ञात होता है उस समय इस जीव को कोई संकट नहीं रहता । तो हमें भेदविज्ञान करके इस

तत्त्वज्ञान को दृढ़ करना है और उसके बल पर विकल्पों को त्यागना है । विकल्पों को त्यागें तो हममें बसे हुए परमात्मा को दर्शन होगा और उससे ही हमें शान्ति प्राप्त होगी । अन्य उपायों में शान्ति नहीं है । जन्ममरण करना, भटकना, यही इन समस्त बाह्य परिश्रमों का फल है । संसारभ्रमण नहीं चाहिये असंसरणस्वभावी निज अन्तस्तत्त्व की दृष्टि करें ।

अनुप्रेक्षा प्रवचन षष्ठ भाग

गाथा — २८४

जीवो अणंत-कालं बसइ णिगोएसु आइ-परिहीणो ।
तत्तो णिस्सरिदूणं पुढवी-कायादिओ होदि ।।२८४।।

बोधिलाभ की दुर्लभता बताने के प्रकरण में जीव की आद्य अवस्था का वर्णन—बोधि दुर्लभ भावना में यह बताया जायगा कि जीव की स्थिति कौनसी बहुत कठिनाई से प्राप्त होती है ? यह बताने के लिए जीवों की सर्वप्रथम स्थिति बतला रहे हैं । यह जीव अनादिकाल से निगोद में बस रहा है । कितना काल व्यतीत हो गया ? अनन्तकाल, क्योंकि काल की कुछ आदि ही नहीं । कल्पना में यदि ऐसा लाया जाय कि अमुक दिन से काल शुरू हुआ है तो क्या चित्त गवाही दे देगा कि इस दिन से पहिले समय न था ? तो समय की आदि नहीं होती, अतएव काल अनादि है, और इस जीव का निगोद में बसना भी अनादि से ही है । निगोद नाम है एक प्रकार के शरीर का । जिसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार

है—नियतां जांददाति इति निगोदं याने जो शरीर अन्य जीवों को नियत क्षेत्र दे देवे उसे निगोद कहते हैं । तो निगोद जीवों का शरीर इस प्रकार का होता है कि वहाँ अनन्त निगोद समा जायें और वे अंगुल के असंख्यात भाग में रहते हैं, ऐसा निगोद शरीर जिनका होता है उनको निगोद जीव कहते हैं । निगोद एकेन्द्रिय जीव होते हैं और वनस्पति के भेद में से हैं । ये हरी वनस्पति तो नहीं हैं निगोद पर साधारण वनस्पति जो भेद किया है वनस्पति का उसे कहते हैं निगोद । तो यह जीव अनन्तकाल निगोद में बसा ।

प्राकरणिक अपना चिन्तन—ये सब बातें अपने आप पर घटित करके सुनना है, समझना है कि हम कैसी कठिन खराब कुयोनियों से निकलकर आज इस श्रेष्ठ नरजन्म में आये हैं और नरजन्म में आकर यदि यहाँ भी विषयप्रेम कषायवासना की संज्ञाओं से इस जीवन को गंवा दिया तो यह हम आपके लिए कितने खेद की बात है ? इस जीव का मूल ऐब यही है कि जिस पर्याय में यह पहुंचता है उसको ही आत्मरूप से स्वीकार कर लेता है । कषाय बढ़ने में और कारण क्या है ? जिस शरीर में बसा उसी को ही मान लिया कि यह ही मैं हूँ । किसीने निन्दा की, गाली दे दी तो इसने मुझे यों कहा ऐसा सोचकर दुःखी होता है । अरे इसे निज का कुछ पता ही नहीं है । जो ये नाक, आँख, कान आदिक इन्द्रिय वाला शरीर है इसी को समझ लिया कि यह मैं हूँ । इसने मुझको कहा । पोजीशन आदिक की जो चाह है, प्रतिष्ठा के प्रति भीतर में जो लगाव है यह इस नरजन्म को बरबाद कर देने वाला है । तो इस जीव ने जिस भव में जन्म लिया उसमें ही मोह किया । आज मनुष्यभव में हैं तो यहाँ भी मोह कर रहे । तो बताओ यह बात कहाँ तक युक्त है? जिस घर में मोह किया जा रहा, जिन परिजनों से मोह किया जा रहा उनसे मोह करना ही चाहिए ऐसी कोई युक्ति है क्या ? कुछ भी तो हेतु नहीं है । आज ये जीव जो आपके घर में आकर बसे हैं, बजाय इनके यदि और कोई दूसरे जीव आपके घर में आ जाते तो उनसे मोह करने लगते । तो इस जीव की मोह करने की आदत पड़ी है । एक जीव का किसी दूसरे जीव से कुछ नाता तो नहीं है, फिर भी ऐसा मोह पड़ा है ? कि बस ये ही घर के लोग मेरे सब कुछ हैं, इन्हीं के पीछे मेरा सारा जीवन है । बाकी तो सब गैर लोग हैं ।

जब इस जीव को मोह करने की आदत पड़ी है तो फिर इसे अपनी ज्ञाननिधि की सुध हो कहाँ से ? इसे तो ये बाह्यपदार्थ ही रम्य प्रतीत हो रहे हैं । यह कितनी बड़ी इस जीव की गलती है ? लोग दोष देते हैं दूसरों पर कि, हम बड़े बुरे फंसे हैं, हमारी कच्ची गृहस्थी है । अभी ठीक ढंग नहीं है ।...अरे ठीक ढंग कब होगा ? अपने से गरीबों पर दृष्टि डालकर देख लो—जब उनके सभी ढंग बन रहे हैं, वे भी जब जीवित हैं तो फिर आपके सभी साधन क्यों न बनेंगे ? आपकी तो उनसे हजार गुना अधिक अच्छी स्थिति है । और ढंग क्या बनाओगे ? किस जगह बनाओगे ? इस तरह बाह्य की ओर दृष्टि रखकर कि मैं इनका सुधार कर दूं, तब निश्चित होकर अपना जीवन धर्मसाधना में लगाऊँगा, ऐसी जो बात सोचते हैं उनका ढंग कभी बनने का नहीं है, क्योंकि वे तृष्णा के पथ पर चल रहे हैं । जितना-जितना ढंग बनाते जायेंगे उतना-उतना ही वे ढंग और बिगड़ते जायेंगे । सुधार होगा संतोषवृत्ति से, विज्ञान से, आत्महित की लगन से एक गुप्त ही गुप्त अपने आपमें अपनी दृष्टि करके अपना कल्याण करते जावो । यहाँ कौन किसका है ? किसे क्या दिखाना है ? ऐसा भीतर में संतोष भाव करके अन्तर्दृष्टि करें तो ढंग बन पायेगा अन्यथा याने बाह्यपदार्थों में दृष्टि रख रखकर ढंग न बन पायेगा ।

निगोद जीवों का विवरण—यहां बतला रहे हैं कि प्रारम्भ में इस जीव की क्या हालत थी ? प्रारम्भ के मायने अनादि । यह निगोद । निगोद में क्या बात बीतती है ? तो शास्त्रों में स्पष्ट इसका कथन किया गया है । एक श्वास में १८ बार

जन्म मरण करना पड़ता है । श्वांस के मायने नाड़ी के एक बार उचकने में जितना समय लगे उतने का नाम एक श्वांस है । यहाँ मुख के श्वांस का नाम श्वांस नहीं है । तो यों समझिये कि एक सेकेण्ड में करीब २३ बार जन्म-मरण होता है । यह बात शास्त्रों में कही है । हम उस तरह इसे आंखों तो नहीं देख सकते जैसे पशुपक्षियों के दुःखों को देख रहे हैं, लेकिन यह बात असत्य यों नहीं है कि जिन ऋषि संतों ने मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत तत्त्वों का वर्णन किया है, जिनका ध्येय विशुद्ध आत्मतत्त्व की दृष्टि का रहा है, जिनका ध्यान वीतरागता की ओर अग्रसर होते रहने का रहा है, जो अवधिज्ञानी व मनःपर्ययज्ञानी भी थे, जिन्होंने केवली भगवान व श्रुतकेवली की निकटता भी प्राप्त की थी, वे भला असत्य वचन कैसे कह सकेंगे? जिन तत्त्वों में हमारी युक्ति से गति हो सकती है उनके वर्णित स्वरूप में जब हम वहाँ निर्वाधता पाते हैं और अनुभव से हम उसे सत्य करार कर लेते हैं तो जो परोक्ष बात है उसकी सत्यता में क्या संदेह? देखिये—निकृष्ट से निकृष्ट जीव यहाँ जो दिखते हैं उनसे भी निकृष्ट जीव हैं, और सबसे निकृष्ट ये निगोद जीव हैं । एकेन्द्रिय जीव के ५ भेद कहे गए हैं—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय । वनस्पति के दो भेद कहे गए हैं—प्रत्येकवनस्पति और साधारणवनस्पति । तो साधारणवनस्पति का नाम निगोद है । यह एक ऐसा ही निगोद शरीर है कि एक जीव मरे तो सब मरे, एक जीव जन्म ले तो सब जन्म लें । जिनका आहरण एक समान है, जिनका श्वांस एक समान है, जन्म और मृत्यु भी सबकी एक साथ है, क्योंकि एक शरीर का आधार है, और उस एक औदारिक शरीर में ये सब भिन्न-भिन्न जीव अपने भिन्न-भिन्न सूक्ष्म शरीर में रहते हुए दुःख पाया करते हैं ।

साधारण वनस्पति का परिचय—जो कुछ वनस्पति दिखने में आ रही हैं वे सब प्रत्येक वनस्पति हैं । जो भक्ष्य हैं वे भी प्रत्येकवनस्पति हैं । और जिन्हें अभक्ष्य कहा है आलू, कंद आदिक, वे भी प्रत्येकवनस्पति हैं । साधारणवनस्पति तो आँखों दिख नहीं सकते । सो कंदादिक भी प्रत्येकवनस्पति हैं, परन्तु साधारणवनस्पति सहित प्रत्येकवनस्पति कहलाते हैं । जिनका नाम हैं प्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति । उन्हें साधारणवनस्पति शब्द से लोग कह देते हैं, पर शुद्ध नाम उनका आलू आदिक कंदों का साधारणवनस्पति नहीं है । सप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति है । साधारणवनस्पति तो केवल निगोद को कहते हैं । ये दो प्रकार के होते हैं—निराधार और साधार । वनस्पतिकाय दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय आदिक औदारिक शरीर जहाँ रह सकते हैं उनके आधार में निगोद जीव हैं और इन शरीरों के बिना ये सर्वत्र निगोद जीव बसे हैं । जहां हम आप पोल समझते हैं वहाँ भी अनन्त निगोदिया जीव भरे पड़े हैं । ये निराधार कहलाते हैं । और, आलू वगैरह में जो निगोद हैं वे साधार कहलाते हैं । तो ऐसे सूक्ष्म और वादर निगोद से यह सारा जगत व्याप्त है, और ये निगोद अनादि काल चले आये हैं । जिन्होंने अभी तक निगोद पर्याय नहीं छोड़ा है ऐसे अनन्त जीव हैं, उन्हें कहते हैं, नित्यनिगोद । और, जिन्होंने निगोदपर्याय छोड़ दी थी, यहाँ व्यवहार रीति में आ गए थे, पृथ्वी आदिक एकेन्द्रिय हो, गए, अथवा दोइन्द्रिय हो गए, मनुष्य, देव आदिक हो गए और फिर भी निगोद में पहुंचे तो उनको कहते हैं इतरनगोद ।

असावधानी का फल—अब अपनी-अपनी बात सोचिये—यह जीव निगोद से निकल आया कि नहीं ? अपने आपकी बात सोचो—यह तो स्पष्ट है कि हम आप निगोद से निकल आये और उससे भी आगे दोइन्द्रिय तीनइन्द्रिय आदिक को भी उल्लंघन करके हम पञ्चेन्द्रिय हुए, लेकिन यह ध्यान में रखने की बात है कि अब यदि नहीं चेतते हैं और अटपट ही रहते हैं, व्यर्थ का जो मोह लगा है, उससे ही मोह बना हुआ है तो वही निगोद दशा फिर होने को है । थोड़े बहुत अन्य-अन्य भवों में जायेंगे, पर जहाँ सावधानी नहीं है वहाँ यही निर्णय है कि आखिर निगोद होना पड़ेगा । असावधानी के मायने हैं कि विषयों का प्रेम, कषायों की वासना, पर का उपयोग, अपने आपकी सुध न रहे ऐसी रहे बेहोशी तो ऐसे वातावरण में

जो जीवन गुजरता है वह असावधानी है । एक कथानक है कि एक साधु महाराज के पास एक चूहा रहता था, उस चूहे पर एक दिन बिल्ली झपटी, चूहा बिल्ली से भयभीत हो गया, तो साधु ने चूहे को आशीर्वाद दे दिया बिडालो भव अर्थात् तू भी बिल्ली बन जा । लो चूहा बिल्ली बन गया । एक बार उस बिल्ली पर झपटा कुत्ता तो बिल्ली भयभीत हो गयी । साधु ने पुनः बिल्ली को आशीर्वाद दिया कि श्वाभव अर्थात् तू भी कुत्ता बन जा । बिल्ली कुत्ता बन गयी । उस कुत्ते पर एक दिन झपटा व्याघ्र । कुत्ता भयभीत हो गया तो साधु ने आशीर्वाद दिया—व्याघ्रो भव अर्थात् तू भी व्याघ्र बन जा । वह कुत्ता व्याघ्र बन गया । एक दिन उस व्याघ्र पर झपटा सिंह, व्याघ्र भयभीत हो गया तो साधु ने आशीर्वाद दिया—सिंहो भव अर्थात् तू भी सिंह बन जा । अब देखिये वह चूहा सिंह बन गया । अब उस सिंह को लगी भूख । पास में कुछ खाने को तो था नहीं, सो सोचा कि इन्हीं साधु महाराज को खाकर अपनी भूख मिटाना चाहिए । जब साधु ने सिंह के मन की बात को पहिचान लिया तो कहा—पुनः मूषको भव अर्थात् तू फिर चूहा बन जा । अरे जिसके आशीर्वाद से वह चूहा सिंह बना उसी पर वह आक्रमण करने लगे तो उसका फल यह तो होगा ही कि पुनः चूहा बनेगा । तो ऐसे ही यहाँ देखिये—जिस आत्मदेव की निर्मलता के प्रसाद से यह जीव कुयोनियों से उठकर पञ्चेन्द्रिय हुआ, मनुष्य हुआ, इतना श्रेष्ठ भव पाया, अब यहाँ ही उस आत्मदेव पर हमला बोला जाय, विषयों का प्रेम, कषायों की वासना आदि यह अपने भगवान पर हमला करना ही तो है । तो यहाँ यह आशीर्वाद मिलेगा कि पुनः निगोद भव, याने फिर से निगोद हो जा ।

निगोद जीवों की दशा व गणना—निगोद जीव सर्वजीवों से निकृष्ट दशा वाला जीव है । जैसे बताते हैं ना, कि एक आलू के जरा से टुकड़े में कितने ही निगोद जीव बसे हुए हैं । कंद के खाने से उन अनन्त स्थावर जीवों का घात हो जाता है । वे तो साधार हैं, पर निराधार निगोदिया जीव कितने ही भरे पड़े हैं, जो बताया गया है कि सिद्ध जीवों से अनन्त गुने संसारी जीव हैं, इस वचन की रक्षा ये निगोदिया जीव कर रहे हैं । नहीं तो निगोद को छोड़कर बाकी सब प्रकार के संसारी जीव सिद्धों से कम हैं । [ये निगोद भी काम आ रहे हैं जिनागम के वचनों की बात निभाने में (हंसी)] तो यह जीव अनन्तकाल तक निगोद में बसा और वहाँ से निकला तो पृथ्वीकायादिक हुआ । अब यहाँ ६ भेद समझ लीजिए एकेन्द्रिय के, पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, प्रत्येकवनस्पतिकाय और साधारण वनस्पतिकाय । तो जीव अनादि से साधारण वनस्पति में रहा, वहाँ

से निकला तो इन ५ प्रकार के स्थावरों में जन्म लिया । प्रत्येकवनस्पति हुआ तो निगोद से निकला हुआ ही समझिये । पृथ्वी आदिक हुआ तो निगोद से निकलकर हुआ । यों इस जीव ने निगोद में अनन्त काल व्यतीत किया । भक्ष्य अभक्ष्य के विवेक की पद्धति यों है कि त्रस जीव का जहाँ घात होता हो उस अभक्ष्य का त्याग होना अत्यन्त आवश्यक है । और, फिर जहाँ अनन्त स्थावर जीवों का घात होता हो ऐसे पदार्थो का त्याग हो । इन निगोदों में मांस तो नहीं है मगर संख्या तो अनन्त है । एक कंद के घात में अनन्त निगोद जीवों का घात होता है ।

निगोद जीव की आयु व निगोद में बने रहने का काल—ऐसे निगोद जीवों में अनन्तकाल तक यह जीव रहता आया है सो यह सामान्य वचन कहा । कहीं ऐसा अर्थ न लगा लेना कि निगोदिया जीवों की आयु अनन्तकाल की होती है । इतर निगोद भी अधिक से अधिक ढाई पुद्गल परिवर्तन तक रहते हैं तो उनकी भी इतनी आयु नहीं है । आयु तो निगोद जीवों की एक श्वांस के १८ वें भाग प्रमाण है । इतनी स्वल्प आयु है । वे निगोद-निगोद में रहकर अनंतकाल बिता देते हैं । बहुत से निगोदिया जीव तो ऐसे हैं जो कभी निगोद का वास छोड़ते ही नहीं । ऐसे जीव नित्य निगोद कहलाते हैं । तो इतना निर्णय तो हम आपको कर ही लेना चाहिए कि हम नित्य निगोद नहीं है, इतर निगोद भी नहीं हैं । पर सावधानी न रखेंगे तो इतर निगोद हो सकेंगे । ऐसे निगोद से निकल कर यह जीव पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और प्रत्येकवनस्पतिकायिक आदिक हुआ । इन ५ स्थावरों में भी विशेष पापी जीव माने गए अग्निकायिक और वायुकायिक जीव । दूसरे गुणस्थान में मरण होने पर पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वनस्पतिकायिक में तो उत्पन्न हो जाय, पर अग्निकायिक और वायुकायिक में उत्पत्ति नहीं है अर्थात् अपर्याप्त अग्नि और वायु में दूसरा गुणस्थान न होगा । पर्याप्त में तो किसी भी एकेन्द्रिय के दूसरा गुणस्थान नहीं है । ऐसे इन ५ प्रकार के स्थावरों में यह जीव बहुत काल तक रहा । पृथ्वी आदिक में भी असंख्याते काल तक रहता है । अब यह जीव कदाचित वहाँ से निकला तो किस-किस तरह से निकलने की बात होती है, सो बताते हैं ।

गाथा — २८५

तत्थ वि असंख कालं बायर-सुहुमेसु कुणइ परियत्तं ।
चिंतामणि व्व दुलहं तसत्तणं लहदि कट्टेण ।।२८५।।

त्रस पर्याय पाने की दुर्लभता—निगोद में अनन्तकाल यह जीव रहा । वहाँ से निकलकर पृथ्वीकाय आदिक में असंख्याते काल तक रहा, और वहाँ से निकलकर त्रस हो जाय तो यों समझिये कि चिन्तामणि रत्न पाने की तरह दुर्लभ बात पा ली । जैसे खुली जगह में चौहट्टे में जहाँ से बहुत से लोगों का आना जाना बना रहता है वहाँ पर खोया हुआ चिन्तामणि रत्न मिलना अति दुर्लभ है, अथवा समुद्र में फिका हुआ चिन्तामणि रत्न मिलना दुर्लभ है इसी प्रकार त्रस पर्याय का पाना दुर्लभ है । अपनी-अपनी बात संभालने का ध्यान रहे तो संभाल होता है और दूसरों की संभाल के लिए जो यत्न रखे, उपदेश देकर, ज्ञान देकर, अन्य उपायों से दूसरों के उपकार की ही बात चित्त में रखे तो दूसरों का उपकार हो गया क्या, यह भी नहीं कहा जा सकता और खुद का तो कुछ

कहना ही नहीं । १० आदमी अगर खुद-खुद की संभाल में लगे तो वे सब संभल जायेंगे । और, वे दसों व्यक्ति अगर दूसरों की संभाल में लगे तो वे न संभलेंगे । अपनी बात देखना है कि किस-किस तरह से जन्म-मरण करते हुए कैसी-कैसी कुयोनियों को पार करके आज इस श्रेष्ठ जैनशासन में हम आये हुए हैं । यहाँ आकर क्या मोह करना ? अपना कर्तव्य है ? मोह कहते हैं बेहोशी को । मोह कहो, मुग्धता कहो, मूढ़ता कहो, बेहोशी कहो एक ही बात है । जैसे मदिरापान करके होता क्या है ? बेहोशी, ऐसे ही मोह करके होता क्या है ? बेहोशी । मोह में और राग में अन्तर है । राग हो, बेहोशी न रहे यह स्थिति हो सकती है, पर मोह में बेहोशी रहती ही है । अपने आपकी सुध न होना यही है बेहोशी । तो यों, जीव निगोद में अनन्तकाल व अन्य स्थावरों में असंख्य काल भ्रमण करके बड़ी कठिनाई से त्रस पर्याय को प्राप्त हुआ ।

गाथा — २८६

वियलिंदियेसु जायदि तत्थवि अच्छेदि पुव्वकोडीओ
तत्तो णिस्सरिदूणं कहमवि पंचिदिओ होदि ।।२८६।।

दुर्लभता से एकेन्द्रिय से निकलकर विकलेन्द्रिय व पञ्चेन्द्रिय में जन्मलाभ—यह जीव अनन्तकाल तक निगोद में रहा था, वहाँ से निकला तो असंख्यातकाल तक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येकवनस्पति में रहा । वहाँ से बड़ी दुर्लभता से है इसने निकलकर त्रसपर्याय प्राप्त की । सो त्रस में दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय आदिक जीव हुआ । इन्हें विकलेन्द्रिय कहते हैं, विकल मायने अधूरी । ऐसी अधूरी इन्द्रिय वाले तो एकेन्द्रिय भी हैं लेकिन एकेन्द्रिय को यहाँ ग्रहण न करना । एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय यों तीन भेद किये गये हैं । सो एकेन्द्रिय से ऊपर जितने भी जीव ऐसे हैं कि जिनके पाँचों इन्द्रियाँ नहीं हैं उन्हें विकलेन्द्रिय कहते हैं । इसी जीव के जब रसनेन्द्रियावरण का क्षयोपशम हुआ, वीर्यान्तराय का क्षयोपशम हुआ, अङ्गोपांग का उदय आया, ऐसा जीव दो इन्द्रिय में जन्म लेता है । दोइन्द्रिय जीव के रसनाइन्द्रिय हो जाने से ज्ञान में कितना अन्तर आ गया । एकेन्द्रिय का ज्ञान और रसनाइन्द्रिय का ज्ञान । इसके व्यावहारिक रूप में कुछ समझ आयी, स्वाद की समझ आयी । पहिले उस जीव में स्वाद लेने की कोई बात न थी । आहार बिना कोई जीवित नहीं रहता, आहार तो एकेन्द्रिय जीव के भी रहा किन्तु उसका अपने ढंग से रहा । जैसे पेड़ में खाद दिया, पानी दिया तो जड़ों से उसने आहार ग्रहण किया । यहाँ दोइन्द्रिय होने पर यह मुख द्वारा आहार ग्रहण करने लगता है तो बनावट से देखें, उसकी व्यावहारिकता से देखें, भीतर के ज्ञान से देखें तो एकेन्द्रिय से दोइन्द्रिय में विशेषता पायी जाती है । दोइन्द्रिय जीव के बाद यह तीनइन्द्रिय हुआ । वहाँ नासिक इन्द्रिय और प्राप्त हो गयी । अब तो वह जीव गंध का भी ज्ञान करने लगा । देखिये ये कीड़ा कीड़ी गंध का ज्ञान करके कैसा बाहर निकल पड़ती हैं और एक सीधी लाइनसी बना लेती हैं । तो समझिये कि उन तीन इन्द्रिय जीवों में कितनी समझ बढ़ गई । यह जीव और आगे बढ़ा तो चारइन्द्रिय जीव हो गया । आखें और मिल गई, अब रूप का भी ज्ञान होने लगा । यों एकेन्द्रिय से लेकर चारइन्द्रिय तक यह जीव कोटि पूर्व पर्यन्त रहा । वहाँ से निकला तो किसी भी प्रकार यह जीव पञ्चेन्द्रिय हुआ । तो असैनी पञ्चेन्द्रिय हुआ, तो वहाँ मन के बिना कल्याण का पात्र भी नहीं है ।

दुर्लभ समागम पाने के वर्णन के प्रसंग में अपने लिये शिक्षा की ओर दृष्टि—यहां यह अपने आप पर घटित करना कि हम कितनी-कितनी निकृष्ट स्थितियों को पार करके आज मनुष्य हुए हैं, कितना अवसर है कि हम अपने उपयोग को संभालें, विवेकपूर्वक रहें, जरा मन को समझायें और अपने घर में ही रहकर तृप्त होने की प्रकृति बना लें । तो कितना सुन्दर अवसर है कि हम अपने आत्मा का कल्याण कर लें । इसके विरुद्ध जो कुछ हम करते हैं उसमें सार कुछ नहीं है । किन्हीं परजीवों में, परपदार्थों में हम अपने उपयोग को लगाते हैं, स्नेह करते हैं तो उन मोही जीवों की ओर से बात यह मिलती है कि वे मोहवश उनकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं । तो यह मोह के आकर्षण की दुनिया है यह तो है दुनिया की दुनिया । और अपने आपके ज्ञानस्वभाव को निरखकर तृप्त होने वाली दुनिया खुद की दुनिया है और यही अपनी पारलौकिक दुनिया है, इन दोनों दुनिया में कितना अन्तर है? यहाँ तो एक जगह सन्तोष है, दूसरी जगह असन्तोष है, निज में तो आनन्द का योग है और बाहर में क्लेश का योग है । तिस पर भी ऐसा मोह छाया है कि क्लेश पाते हैं और क्लेश के ही कारणों में जुटे रहते हैं । जिन घरों में स्त्री पुत्रादिक की ओर से कलह होते रहते हैं और झुंझला जाते हैं, दु:खी हो जाते हैं, पर यह साहस नहीं कर सकते कि जब इनसे हमें क्लेश होता है तो हम इन्हें छोड़ दे और कोई दूसरा ढंग बना लें । जिस मोह से कष्ट मिलता है उसी मोह को करते जाते हैं और दु:खी होते रहते हैं । यहाँ इतनी विपरीत मार्ग वाली स्थिति है । यदि कुछ सावधानी बर्ती जाय, जिसका कि साधन आजकल स्वाध्याय और सत्संग है और प्रधानतया अपने आपका ज्ञानध्यान है । सभी उपायों द्वारा अपने आपकी ओर रहकर तृप्त रहने की प्रकृति बना ली जाय तो यहाँ कुछ सार मिलेगा और बाहर में नहीं कुछ भी सार नहीं है ।

विकलेन्द्रियों से निकलकर पञ्चेन्द्रियत्व की प्राप्ति की दुर्लभता—तो एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय तक हम पार कर चुके हैं, पर इतना यह पार होना कोई इस तरह का पार नहीं है कि अब ये गतियां कभी न मिल सकेंगी । अरे अगर सावधान न रहेंगे तो वहीं फिर जाना होगा । फिर वही अज्ञानभरी, वही अल्प ज्ञान वाली स्थिति मिल जायगी । किसी प्रकार हम इन सबसे निकले तो बड़ी दुर्लभता से पञ्चेन्द्रिय जीव हुए । तो असैनी पञ्चेन्द्रिय हुए । अब पञ्चेन्द्रिय जीवों में यह देखें कि कितनी तरह के संसारी जीव हैं और उन सब पञ्चेन्द्रियों में हम आप पञ्चेन्द्रियों की स्थितियां कितनी दुर्लभ हैं ।

गाथा — २८७

सोवि मणेण विहीणो णय अप्पाणं परंपि जाणेदि ।
अह मणसहिओ होदि दु तहवि निरिक्खो के हवे रुद्दो ।।२८७।।

मनरहित पञ्चेन्द्रिय में भी आत्महित की अपात्रता—पञ्चेन्द्रिय जीव हुए, पर मन से रहित हुए तो कल्याण की दिशा में जैसे वे विकलेन्द्रिय जीव कुछ नहीं कर सकते वैसे ही ये भी कुछ नहीं कर सकते । कोने से सुनने का ज्ञान बन गया, इतनी ही विशेषता बन सकती है । मन उसे कहते हैं कि जिससे हित अहित की बात का निर्णय किया जा सके । हित में चलाये, अहित से हटाये ऐसी जिसमें योग्यता हो उसे मन कहते हैं । मन को पाकर कोई अहित से दूर न हो और हित में न लगे तो यह उसकी व्यक्तिगत बात है, पर मन का लक्षण यही है कि जिसमें इतनी योग्यता है कि वह हित पर चल सकता है और अहित से हट सकता है, हित अहित की विशेष शिक्षा का ग्रहण कर सकता है । तो ऐसा मन जब न हो तो उसने अपने को और पर को जाना ही नहीं, उसके स्वपर का विवेक नहीं है । यो तो जो अपना अस्तित्व है वह सब स्व है । जिस किसी भी प्रकार से बर्त रहा हो, यह शीत मोही, रागी, द्वेषी आदिक कैसा ही हो, सभी स्व है, लेकिन जब

अपने परमार्थ स्वपर दृष्टि देते हैं कि परमार्थत: हम हैं क्या, तब वहाँ छानबीन होकर यह समाधान मिलेगा कि मैं तो एक सहज चैतन्यस्वरूप हूँ, मेरे सत्त्व से मेरे में जो कुछ बात सहज हो सकती है, वह तो हुआ मैं स्व और बाकी सब अन्य हैं पर । तो यह जीव जब मनरहित है तो न स्व को जानता है और न पर को जानता है । असंज्ञी जीव वे हैं जिनके साथ संज्ञा नहीं है, जिनके पास भली प्रकार जानने की बुद्धि नहीं है, जो मन द्वारा उत्पन्न होता है ऐसे मानसबुद्धिरहित संसारी जीवों को असंज्ञी कहते हैं । तो उसने स्व को भी नहीं जाना और पर को भी नहीं जाना । इसने यों भी स्वपर को नहीं जाना कि मैं हूं एक कारणपरमात्मतत्त्व और यहाँ पर अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु ये हैं पर, जिनमें कोई परमात्मा हैं, कोई परमात्मत्व की साधना में लगे हैं, इस तरह भी स्वपर को नहीं समझा। तो जब स्वपर को नहीं जाना तो ऐसी स्थिति में असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय का मूल्य क्या? जो विकलेन्द्रिय का मूल्य है वही इनका है। अन्तर इतना है कि इनके समझ इतनी बढ़ गई कि वे कर्णेन्द्रिय से भी कुछ जान समझ लेते हैं। तो पञ्चेन्द्रिय हुए, मनरहित हुए तो इससे क्या काम निकला? तब मनसहित पञ्चेन्द्रिय होना दुर्लभ है।

संज्ञी पञ्चेन्द्रिय में क्रूर तिर्यञ्च भव पाने पर भी हितवैशिष्ट्य का अभाव—हो गए मनसहित संज्ञी पञ्चेन्द्रिय और हो गए कोई रौद्र तिर्यञ्च बिल्ली, चूहा, शेर, हाथी आदिक, तो वहाँ पर भी क्या साधन बना सकते हैं? यद्यपि तिर्यञ्चों की संज्ञा विशेष है, मायासंयम होने में मनुष्यों की अपेक्षा, लेकिन जब तिर्यञ्चों की सही गणना पर दृष्टि देते हैं तो उनमें कुछ बिरले ही तिर्यञ्च ऐसे हैं कि जो विवेक रखते हैं, जिनके सम्यक्त्व जगा है, बाकी तो सब तिर्यञ्चों की स्थिति देखिये—कितनी दयनीय स्थिति है, ऐसे बड़े-बड़े हाथी, जिनका इतना बड़ा शरीर होता कि यदि कोई आदमी पास में खड़ा हो जाय तो उसके एक पैर के बराबर भी आदमी मालूम पड़े। ऐसा विशाल शरीर हाथी का होता है। तो देखिये कितना बड़ा मनुष्य और कितना बड़ा हाथी, मगर मनुष्य के छोटे-छोटे बच्चे भी हाथी पर जैसा चाहे चढ़ते उतरते हैं और एक अंकुश के बल पर उसे जैसा चाहे नचाते हैं। जिस हाथी का इतना बड़ा पराक्रम होता है कि सिंह तक को भी दबोच दे। यद्यपि अपनी चंचलता के कारण सिंह हाथी को पिछाड़ देता है पर शक्ति हाथी की इतनी अधिक होती है कि यदि सूंड में लपेट पाये अथवा पैरों के नीचे ला पाये तो सिंह को भी परास्त कर दे। इतनी शक्ति वाला हाथी भी मनुष्य के बच्चों के द्वारा जैसा चाहे नचाया जाता है। तो यहाँ बताया जा रहा था कि यदि ऐसे मनसहित रौद्र तिर्यञ्च भी हो गए तो उससे क्या फायदा उठाया? ये स्थितियां हम आपकी भी हुइ्र हैं, और फिर हो सकती हैं। किसी पर दया आने का कारण यह है कि हमारी प्रतीति में और बुद्धि में यह भाव पड़ा हुआ है कि यही स्थिति हमारी भी तो थी या हो सकती है। जैसे—बहुत से भिक्षुक जनों को बड़ी दयनीय दशा में देखकर दया उपज जाती है तो वास्तव में उस दया करने वाले ने उस भिक्षुक पर दया नहीं की, बल्कि खुद पर दया की, क्योंकि उसने सोचा कि इस बेचारे की जैसी स्थिति कभी हमारी भी हुई होगी या हो सकती है। तो दया करने वाले लोग जब पहले उस विषयक विकल्प करके अपने आपको दु:खी कर डालते हैं तब उनके दया उत्पन्न होती है। यदि ऐसे तिर्यञ्च भी हो गए तो उससे क्या लाभ? किसी भी एक तिर्यञ्च को देख लो तो उससे संसार के दु:खों का बहुत कुछ भाव हो जाता है। घोड़ों की जिन्दगी देखिये—जहां दो वर्ष के हुए बस इक्का तांगा आदि में जुतने लगे। लोग उन पर १५-२० आदमी भी बैठाल लेते हैं, जब वे चलने में कुछ कमी करते हैं तो उन पर कोड़े पड़ते हैं । इस तरह से बोझे का दु:ख व कोड़ों की मार का दु:ख वे बेचारे घोड़े सहते हैं । और वे ही बेचारे घोड़े जब वृद्ध हो जाते हैं, चलने में असमर्थ हो जाते हैं तो उन पर लोग इतना भी रहम नहीं करते कि चलो शेष जीवन इसे यहीं बिता लेने दो, वे कषायियों को बेच देते हैं । उन कषाइयों द्वारा उन बेचारे घोड़ों की निर्मम होकर हत्या कर दी जाती है । भला सोचो तो

सही कि उन घोड़ों का कैसा जीवन है?

दुर्लभ मनुष्यभव पाने पर कर्तव्य व अकर्तव्य के विवेक की आवश्यकता—हम आप मनुष्यों को तो कितनी सुविधायें मिली हुई हैं, किन्तु उन सुविधा पर दृष्टि न देकर लोग तृष्णा के वश में आकर दुःखी रहा करते हैं । वर्तमान प्राप्त सुविधा को नहीं भोग पाते । इस लालसा (तृष्णा) के कारण जो जितना धनिक है वह उतने में ही दुखी है । अरे जरा सोचो तो सही कि हमारी हजारों लाखों लोगों से भी अधिक अच्छी स्थिति है । सब प्रकार की सुविधायें मिल रही है । जीवन अच्छी प्रकार चल रहा है । संक्षेप रूप से यह कह सकते हैं कि जिसको जितना जो कुछ मिला है वह उसे जरूरत से ज्यादह मिला है । लेकिन ऐसा कोई मानता तो नहीं है कि मुझे जरूरत से ज्यादह मिला है । अब आगे ज्यादह धन वैभव बढ़ाने की जरूरत नहीं है । रही यह बात कि दुनिया के लोग वाहवाही न कर सकेंगे । क्योंकि आज अर्थ का युग है, अर्थ अधिक न होने से इन दुनियावी लोगों के बीच इज्जत न मिल सकेगी । तो आपकी यह बात मान भी लें, लेकिन जिसे सही ज्ञान जागृत हो गया है उसकी तो यही वृत्ति है कि भीख मांगकर उदर भरें, पर करें नहीं चक्री का काम । अरे जो लोग किसी की थोड़ीसी इज्जत कर देते हैं वे हैं क्या? वे तो पापी संसार में रुलने वाले, जन्ममरण करने वाले स्वार्थी प्राणी हैं । वे कोई खास चीज तो नहीं हैं कि जिनसे इज्जत मिलने की चाह की जाय । अरे अपनी दृष्टि में अपने को अच्छा तो देख लो । यही समस्त पूरी अपनी दुनिया है । अपने में अपने को अच्छा वही देख सकेगा जो दुराचार से दूर है । जो किसी को कभी धोखा न दे, किसी का कभी बुरा न विचारे, जो सबको सुखी रहने की भावना रखे, जिसने अपने को ज्ञानमार्ग में लगाया है वही सन्तुष्ट रहेगा । और जिसने इस सदाचार के विरुद्ध अपना कदम रखा है उसके ज्ञान जगेगा तो पछतावा करेगा और न जगेगा तो पछतावा करने की भी बुद्धि न जगेगी । खोटी स्थिति होगी । इन सब बाह्य बातों को अध्यात्मवाद दृष्टि में गौण करके अपने की निरख करके अपने में तृप्त रहने की प्रकृति बना लीजिए । स्वानुभव ज्ञानानुभव जो कि विशुद्ध आनन्द का कारण है उसे कर लीजिए । बताओ अन्य कौनसा अनुभव आनन्द का कारण होगा? अन्य अनुभव तो क्लेश के ही कारण बनते हैं । यह जीव किसी तरह पञ्चेन्द्रिय जीव हुआ और मनसहित भी हुआ तो तिर्यञ्च हुआ । तब वहाँ भी यह जीव करेगा क्या? ऐसे अशुभ परिणाम करके आर्त रौद्र ध्यान का परिणाम जो जीव रखते हैं वे मरकर नरक में जन्म लेते हैं ।

गाथा — २८८

सो तिव्ब असुहलेस्सो णरये णिवडेइ दुक्खई भीमे ।
तत्थवि दुक्खं भुंजदि सारीरं माणुसं पउरं ।।२८८।।

तीव्र अशुभलेश्यावश जीव का नरक में पतन व शारीरिक मानसिक दुःख का उपभोग—वे पशु तिर्यञ्च जीव तीव्र अशुभ लेश्या वाले होकर नरक में जन्म लेते हैं, जहाँ पर भयंकर दुःख हैं । वहाँ पर ये जीव शारीरिक और मानसिक सभी प्रकार के दुःख भोगते हैं । देखिये—शरीरजन्य दुःख कितने प्रकार के हैं, सर्दी गर्मी भूख प्यास आदिक रोगों की तो गिनती क्या है? आयुर्वेद शास्त्रों में बताया है कि व्याधियाँ ५ करोड़ ६८ लाख ९९ हजार ५८४ (५, ६८, ९९, ५८४) प्रकार की हैं । अब लोगों को कोई १०-२० प्रकार की व्याधियाँ मालूम हैं जैसे ज्वर खांसी, टीबी, कैन्सर आदिक । मगर इतनी ही जातियाँ उन शारीरिक व्याधियों की नहीं हैं । तो अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःख इस जीव ने सहे, क्योंकि बड़ी तीव्र कषाय है, कलुषितचित्त है, ऐसा मानसिक दुःख होता है । शारीरिक दुःख पर हमारा वश नहीं चल सकता । तो मानसिक दुःखों को दूर करने के लिए हम कुछ तत्काल यत्न कर भी सकते हैं, क्योंकि वह तो मन से विचारा हुआ है, कल्पना कर लिया है । किसी को मान लिया कि यह मेरा विरोधी है बस दुःख उसमें होना शुरू हो जाता है । उसका देखना, बोलना, बैठना आदिक न सुहाये और सामने भी न हो, तो कल्पनायें करके दुःख मान लेते । देखो सब जीवों में जीवत्व जाति से समानता है और जगत का कोई यह नियम नहीं है कि ये जीव मेरे विरोधी हैं और रहेंगे । अरे आज अगर विरोधी हैं तो कहो इसी जीवन में थोड़ी ही देर बाद में परम मित्र बन जायें । और, आज जो मित्र हैं उनका भी कुछ भरोसा नहीं कि कब तक मित्रता निभाये, थोड़ी ही देर में शत्रु बन सकते हैं । तो यहाँ किसे विरोधी मानें और किसे बन्धु मानें? जीव हैं सब । सभी के प्रति समता का भाव रखें । भीतर में ऐसा परिणाम हो तो वहाँ मानसिक दुःख न रहेगा, । जब, चिंता कलुषता जगती है तो वहाँ मानसिक दुःख होता है ।

नारकियों की परस्परोदीरित दुःखता—नरकों में कुछ परस्पर क्रिया वाले भी दुःख हैं । जैसे एक नारकी दूसरे नारकी को छेदता भेदता है । कोल्हू में पेलना, भाड़ में भूजना, पकाना शूलों पर फेंक देना, तलवार के, धार के समान नुकीले पत्तों वाले वृक्षों के नीचे डाल देना आदिक दुःख एक नारकी दूसरे नारकी को देता है । वहाँ दूसरे नारकी को दुःख देने के साधनभूत शस्त्र कहीं बाहर से नहीं लाने पड़ते । उनके शरीर में ही ऐसी ही ऐसी विक्रिया है कि जहाँ संकल्प किया कि मैं इसे तलवार से मार दूँ तो उनका वह हाथ ही तलवार का रूप धारण कर लेता है । यहाँ तो हम आपका औदारिक शरीर है लेकिन जब किसी को तीव्र कषाय जगती है तो उनके हाथ ही अनेक शस्त्रों का काम करने लगते हैं । जैसे किसी को मुट्ठी बाँध कर तेजी से हाथ मार दिया तो, वह हाथ गदा का काम करता है, अथवा हाथ के मुट्ठे से अंगूठा निकालकर तेजी से मार दिया तो वह हाथ सूली का काम करता है अथवा हाथ को यों ही बगल से तेजी से मार दिया तो वह हाथ तलवार का काम करता है । तो जब यहाँ हम आप औदारिक शरीर वालों में ऐसी बात पायी जाती है तो फिर वे तो वैक्रियक शरीर वाले जीव हैं, उनको तो दुःख देने के साधन कैसे कहीं बाहर में ढूँढने पड़ेंगे । वे तो मारने का संकल्प जब

करते हैं तब ही उनके हाथ शस्त्ररूप बन जाते हैं । तो कितने कठिन दुःख हैं नरकों में ।

आजकल अधिकांश लोग तो स्वर्ग और नरक का विश्वास ही नहीं करते । वे तो कहते कि स्वर्ग नर्क सब यहीं है । लेकिन कुछ युक्तियों से और आगम से जानकर स्वर्ग और नरक की बात बतायी गई है । जिन ऋषि संतों के वस्तुस्वरूप के वर्णन में कहीं विरोध नहीं पाया जाता उन ऋषि संतों द्वारा बतायी हुई बातों में शंका न करना चाहिए । करणानुयोग में जब नरकभूमि का, शरीर का, और-और बातों का वर्णन आता है और दूरवर्ती मेरूपर्वत आदिक का वर्णन आता है, और-और प्रकार के वर्णन चलते हैं तो उनको पढ़कर वहीं ऐसी प्रमाणिकता की बुद्धि कर लेते हैं कि हाँ यह सत्य है । तो नरक इस पृथ्वी से नीचे हैं । ७ नरक हैं । उनमें ऐसी तीव्र वेदना भोगनी होती है, और वह भी १००-२०० वर्ष ही की बात नहीं, अनगिनते वर्षों तक, सागरों पर्यन्त तक वहाँ घोर दुःखों को सहन करना पड़ता है । नरक में कम से कम १० हजार वर्ष तो रहना ही पड़ता है और सागरों का समय तो असंख्यात वर्षों का है । इतने लम्बे समय तक वहां की घोर यातनाओं को सहन करना पड़ता है । तो ऐसी खोटी योनियों में तीव्र कषाय करने वाले जीवों को जन्म लेना पड़ता है । अब विचार करना होगा कि हम आपने कितना दुर्लभ मानव जीवन पाया है? इस जीवन का ऐसा उपयोग करें कि जिसमें धर्मसाधना का ही विशेष महत्त्व हो ।

गाथा — २८९

तत्तो णिस्सरिदूणं पुणरवि तिरिएसु जायदेणवो ।
तत्थ वि दुक्खमणंतं विसहदि जीवो अणेयविहं ।।२८९।।

नरक से निकलकर तिर्यंच होने पर अनेकविध दुःखों का पुनः उपभोग—यह जीव नरक से निकला तो फिर तिर्यंचगति में पापरूप उत्पन्न हुआ । नरक से निकलकर जीव की केवल दो ही स्थितियां होती हैं या तो मनुष्य हो या तिर्यंच हो । प्रायः करके नरक से निकलकर यह जीव तिर्यंच बनता है । तो नरक से निकलकर तिर्यंचगति में आकर बहुत समय तक इस जीव ने नाना प्रकार के दुःख सहे । तिर्यंचगति के नाना तरह के दुःख स्पष्ट विदित हो रहे हैं । भूख प्यास, भार लादना, ठंड, गर्मी आदिक अनेक प्रकार के दुःख हैं । कुत्ता, घोड़ा, हाथी, गाय, भैंस आदि बिरले ही कोई पशु जीव पुण्यवान ऐसे पाये जाते हैं जिनकी उनके मालिक लोग बड़ी सेवा करते हैं, लेकिन प्रायः करके सभी तिर्यञ्च जीव नाना प्रकार के दुःख सह रहे हैं । कितने ही लोग तो उन पशुओं का निर्दयतापूर्वक शिकार करते हैं, उनका छेदन भेदन करना, उनको ताड़ना देना, उनकी हत्या करना आदिक नाना प्रकार के दुःख इन तिर्यञ्चों के पाये जाते हैं । किसी पशु के शरीर में व्याधि हो जाय, जैसे कुत्तों के, झोटों के, गधों के कंधे वगैरह सूज जाया करते हैं, उनसे खून भी चूता रहता है पर कौन है उन पर रहम करने वाला ? उन बेचारे पशुओं के पास इलाज करने का कोई साधन नहीं है, अथवा गाय, बैल, भैंस आदि कहीं बाँध दिए, मालिक ने उनकी ओर अगर ध्यान न दिया तो वे बेचारे भूखे प्यासे जहाँ के तहां बंधे रहा करते हैं, किसी ने कहीं धूप में किसी जानवर को बाँध दिया, अगर उसको वहाँ से लाना भूल गए तो वह पशु धूप की ज्वाला में जल जलकर दुःखी होता रहता है । उन बेचारों पर कौन दया का भाव करता है? दया का भाव होने

को अनुकम्पा कहते हैं । जब खुद के अन्दर भी कुछ कम्पन हो गया तो ऐसी स्थिति में दया का भाव उत्पन्न होता है । बोधिदुर्लभ भावना में यह बतला रहे हैं कि हम आपने जो भी स्थिति पायी है वह बड़ी दुर्लभ है, और आगे कौनसी स्थिति पाने योग्य है जो कि अति दुर्लभ है ? निगोद, स्थावर, विकलेन्द्रिय आदिक से निकलकर हम आप आज मनुष्य हुए हैं तो कितनी ऊंची स्थिति में आ गए, यहाँ आकर हमको कितनी ऊंची स्थिति बनानी चाहिए क्या पुरुषार्थ करना चाहिए ? यह सब बताया जायेगा । यहाँ तक यह बात आयी कि यह जीव तिर्यंच गति में भ्रमता फिरा । वहाँ से भ्रमकर नरक में गया, नरक से निकलकर तिर्यंच हुआ ।

गाथा — २९०

रयणं चउप्पहे पिव मणुपत्तं सुद्धु दुल्लहं लहिय ।
मिच्छो हवेइ जीवो तत्थ वि पावं समज्जेदि ।।२९०।।

दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर भी पापोपार्जन का अपराध—मनुष्यभव का पाना ऐसा दुर्लभ है कि जैसे चौहट्टे पर गिरी हुई रत्नमणि का मिलना दुर्लभ है । चौहट्टे पर चारों ओर से लोगों का आना जाना बना रहता है, वहाँ पर किसी का गिरा हुआ रत्न कैसे पड़ा रहेगा ? तो जैसे चौहट्टे पर रत्नमणि मिलना दुर्लभ है ऐसे ही यह नरभव मिलना अति दुर्लभ है । ऐसे दुर्लभ नरभव को पाकर यहाँ मिथ्यादृष्टि होकर लोग पापकार्यों में रत होते हें । पापकार्य वे हैं जो भले कामों से बचावें, याने अच्छे काम जो न करने दें उनका नाम पाप है । हिंसा, झूठ, चोरी कुशील, परिग्रह आदि इन समस्त पापों में आकुलता बसी है । उसे आकुलता को यह जीव भोगता जाता और उस दुःख को दूर करने का उपाय पाप को ही समझता है । दूसरों का दिल दुखा दिया, जैसी चाहे बात कह दिया । थोड़ी सी पुण्य सामग्री पाकर यह जीव मौज मानता है, दूसरों से ईर्ष्या करता है । सो ठीक है, कर लें जैसा चाहें मनचाहा, पर इस खोटी करनी का फल कोई दूसरा भोगने न आयेगा । यहाँ तो सब कुछ सच्चाई से काम चल रहा है । जो जीव जैसा परिणाम करता है उसके अनुसार कर्मों का बन्ध होता है । उन कर्मों का उदय आने पर उस जीव को वैसा फल प्राप्त होता है । यह निमित्तनैमित्तिक भाव की बात ठीक जंच रही है क्योंकि इसमें दो चीजों का सम्बन्ध है—एक यह चैतन है और दूसरा अचेतन है । बेईमानी अचेतन क्या करेगा ? चेतन जैसे परिणाम करेगा वैसा उसमें प्रभाव बनेगा । लेकिन यह सोचना चाहिए कि यहाँ थोडीसी मौज के लिए यदि , पापकार्यों में प्रवृत्ति की तो उसका फल भोगने कौन आयेगा ? कदाचित् पूर्वकृत पुण्य के उदय से पापकार्य करते हुए भी मौज के प्रसंग बने रहें, पर उस पापकर्म का फल बेकार न जायेगा उसका फल अवश्य भोगना पड़ेगा । तो मनुष्य होकर यह सावधानी रखनी है कि हमारा पाप करने का भाव न हो, किसी का दिल दुखाने का भाव न हो, झूठ बोलने का भाव न हो, किसी की चीज चुराने का भाव न हो, किसी परपुरुष अथवा परस्त्री पर कुदृष्टि का भाव न हो, परिग्रह की लालसा न हों, इस प्रकार का परिणाम रखने का यत्न करें । तो यहाँ खेद के साथ कहा जा रहा है कि मनुष्यभव तो पाया मगर वहां पर भी इस जीव ने पापकर्म का ही उपार्जन किया और प्रायः करके म्लेच्छ खण्ड में जन्म पाया, म्लेच्छमयी स्थितियां पायीं तब फिर इसने मनुष्य होकर भी कुछ लाभ न उठा पाया ।

गाथा — २९१

अह लहदि अज्जवत्तं तह ण वि पावेइ उत्तमं गोत्तं ।
उत्तम कुले वि पत्ते धण-हीणो जायदे जीवो ।।२९१।।

आर्यक्षेत्र में जन्म पाकर भी उत्तम कुल के न होने से क्लेशपात्रता—कभी यह जीव आर्य क्षेत्र में भी उत्पन्न हुआ पर वहाँ पर भी उत्तम कुल ने प्राप्त किया तब तो फिर यह जीव आत्मशील से वञ्चित ही रहा । देखिये—जहां उत्तम कुल नहीं मिलता वहाँ कैसा वातावरण रहता है, लोग वहाँ प्राय: करके आकुलित रहा करते हैं । आकुलतायें मिटने का उपाय सिवाय ज्ञानप्रकाश के और कुछ नहीं है । जहाँ परवस्तुओं को अपनाया, उनमें स्नेह किया, उनमें अपने मन के अनुकूल परिणमन देखना चाहा, बस वहाँ ही आकुलता के प्रसंग आ गए । इन आकुलताओं के मेटने का उपाय मात्र सम्यग्ज्ञान है । किसी को इष्ट का वियोग हो तो जब तक उसकी यह दृष्टि रहती है कि बेचारा कितना अच्छा था, वह बेचारा हमारी कितनी फिक्र करता था, आज यहाँ से चला गया । यों सोच सोचकर उसका दुःख बढ़ता रहता है, लेकिन कदाचित् उसे वस्तु की स्वतंत्रता का बोध हो जाय कि यहाँ प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है, सबकी सत्ता न्यारी-न्यारी है, सब जुदे-जुदे ही आते हैं, जुदे-जुदे ही कर्मफल भोगते हैं, जैसे मैं जीव सबसे निराला हूँ वैसे ही सभी जीव मेरे से अत्यन्त निराले हैं, यहां कोई मेरा नहीं, लो इस प्रकार की दृष्टि बनायी कि उस विषयक सभी आकुलतायें समाप्त हो जाती हैं । तो भला बतलाओ, आकुलता किसने पैदा करायी ? अरे खुद की अज्ञानदशा ने ही तो उन आकुलताओं को पैदा किया । आश्रयभूत बाह्यपदार्थों ने उन आकुलताओं को नहीं उत्पन्न किया और न वे आकुलतायें उन साधनों से दूर हो सकती हैं । निमित्तभूत कारण की बात तो अवश्य हैं पर आश्रयभूत पदार्थों को हम अपनी कल्पना में लाकर, उपयोग में लाकर उन्हें कारणभूत बना दिया करते हैं । हम जब भ्रम में हैं तब दुःखी हैं, भ्रम दूर हो गया तो आनन्द हो गया । तो ज्ञानप्रकाश मिले बस इससे ही आकुलतायें दूर हो सकती हैं, अन्य उपायों से आकुलता नहीं दूर हो सकती हैं । आकुलता दूर करने की इच्छा जिन्हें है उन्हें यह निर्णय रखना चाहिए कि हम वस्तुस्वरूप के सही ज्ञान का अर्जन करें । पदार्थ वास्तव में कैसा है, हम इस बात को दृढ़ता से समझ लेंगे बस आकुलतायें खतम ।

प्रतिष्ठा की चाह में दुःखसंदोहभागिता—आप लोग देख रहे हैं कि सभी मनुष्य अपनेअपने दुःख मान रहे हैं तो दुःख काहे से है ? दुःख है उन समस्त मिथ्या धारणाओं से, जिनको कि चित्त में बसा रखा है । इनसे मेरी इज्जत है, इनसे मेरी प्रतिष्ठा है, ये ही मेरे सब कुछ हैं, इनसे मुझे सुख मिलेगा आदि इस प्रकार की मिथ्या धारणाओं के कारण ये जीव दुःखी हैं । लोग धनिक क्यों बनना चाहते ? क्या किसी को खाने पीने की कमी है? अथवा ठंडगर्मी आदि से बचने के साधन नहीं हैं इसलिए धनिक होना चाहते ? अरे धनिक तो इसलिए होना चाहते कि इतने लोगों के बीच में हमारी प्रतिष्ठा होगी । ये लोग समझ जायेंगे कि यह भी कुछ हैं । बस इस थोडीसी इज्जत प्रतिष्ठा की चाह करके लोग धनार्जन करने की होड़ करते हैं । लेकिन जो परद्रव्य हैं उन पर किसी का कुछ अधिकार तो नहीं है । लोग धनिक होना चाहते हैं अथवा संतानवान होना चाहते हैं, उन द्रव्यों का परिणमन अपनी इच्छानुकूल देखना चाहते हैं । वैसा देखने को मिलता नहीं इसीलिए लोग दुःखी रहा करते हैं । संतान चाहने वाले लोगों के मन में भीतर में एक ऐसा भाव पड़ा रहता है कि इससे मेरी कीर्ति होगी, इससे मेरा कुल चलेगा, मेरा नाम चलेगा, लोग कहेंगे कि यह उनका लड़का है, अगर कोई ऐसा सोचता हो कि हमारी वृद्धावस्था आने पर हमारा लड़का हमारी मदद करेगा इसलिए हमें संतान चाहिए, तो उसका यह सोचना

गलत है । अरे अगर आपके पुण्य का उदय होगा तब तो आपकी संतान आपकी मदद करेगी, अन्यथा नहीं । अगर आपके पाप का उदय चल रहा है तो बहुत-बहुत प्रेम दिखाने वाली संतान भी आपके प्रतिकूल हो जायगा । और वह संतान कितना ही प्रतिकूल हो जाय, यदि आपके पुण्य का उदय है तो अन्य पड़ोसी लोग भी आपकी मदद कर देंगे । तो संतान से कीर्ति अथवा आराम की आशा करना कोरा स्वप्न है । तो जो लोग कुछ भी वैभव चाह रहे हैं वे इसीलिए चाहते हैं कि मेरी कीर्ति हो । यहाँ मेरी के मायने है यह पर्याय, यह देह। बस इस पर्याय को निरखकर, समझते हैं कि मैं तो यही हूँ और इस मेरे की कीर्ति हो । उन्होंने यह नहीं समझ पाया कि मैं यह देह नहीं हूँ । मैं तो इस देह के अन्दर विराजमान जो शुद्ध चैतन्यमात्र अंतस्तत्व है, वह हूँ । उस चैतन्यमात्र अंतस्तत्व को लोग जानते ही कहा हैं? वे तो इस दिखने वाली पर्याय में ही अहंबुद्धि किए जा रहे हैं । तो देखिये आ व्यर्थ का ही एक विकार बनाकर, भ्रम बनाकर इस जीव ने अपने आपको कितना दुःखी कर डाला? इस जीव को अपने आपके ज्ञानप्रकाश का जब पता पड़ेगा तो अपने आपको सुखी कर लेगा । इस जीव का सच्चे ज्ञान के सिवाय अन्य कोई साथी नहीं है । विपदा में, सम्पदा में हर जगह सुख मिलता है, शान्ति मिलती है तो वह ज्ञान की ही करामात है । हमारा ज्ञान सही बना रहे तो फिर कुछ आपत्ति नहीं है । आपत्ति तो ज्ञान के विरुद्ध परिणमन से है । जब दुःख नहीं चाहते तो एक ही तो कर्तव्य करने का रह गया कि हम विशुद्धज्ञान का अर्जन करें ।

उत्तम कुल पाने पर भी धनहीनता में दुःखभागिता—यह जीव मनुष्य बना, आर्यक्षेत्र में जन्म लिया, इसने उत्तम गोत्र पाया, मगर धनहीन रहा, भूख प्यास, सर्दी गर्मी आदिक के दुःख से बचने का साधन न रहा । ऐसी स्थिति वाले लोगों को तो हम निर्धन कह सकते पर लखपति करोड़पति आदि भी तो अपने को तृष्णावश गरीब ही अनुभव करते हैं । उनके मनमें यही चाह बनी रहती है कि इतना धन और हो जाय तो अच्छा है । एक ब्राह्मण को अपनी लड़की की शादी करने के लिए धनाभाव के कारण विशेष चिंता रहा करती थी । एक दिन उसने राजा से शादी में कुछ मदद करने के लिए निवेदन किया । राजा ने कहा—ठीक है कल सुबह तुम्हें जितना धन चाहिए हो हमसे मांग लेना । वह ब्राह्मण घर आया । शाम को खाट पर लेटे हुए में सोच रहा था कि कल राजा से कितना धन मांगना चाहिए? विचार हुआ कि १०० माँग लेंगे । उस समय उस बेचारे की दृष्टि में १००) काफी थे । परन्तु ध्यान आया कि अरे १००) से क्या होगा? जब राजा ने कह ही दिया है कि तुम्हें जितना चाहिए हो सो मांग लेना, सो हजार रुपये मांग लेना चाहिए । पर फिर याद आया कि अरे हजार रुपये से क्या होगा? हजारपति तो हमारे ये पड़ोसी लोग भी हैं पर ये भी तो सुखी नहीं हैं, हमें तो लाख रुपये मांग लेने चाहिए, पर जब लखपतियों पर दृष्टि गई तो सोचा कि ये लोग भी तो सुखी नहीं है, हमें करोड़ रुपये माँग लेना चाहिए । करोड़पतियों पर जब दृष्टि गई तो वे भी सुखी नजर न आये । सोचा कि आधा राज्य मांग लेंगे, पर विकल्प हुआ कि लोग कहेंगे कि देखो यह राज्य तो इस अमुक राजा का था और इसे मांगने पर दिया है ।

सो सोचा कि वह भी बात ठीक न रहेगी, पूरा राज्य मांग लेना चाहिए । अब सुबह होने को था सो वह सामायिक करने बैठ गया । उस समय परिणाम विशुद्ध हुए, तब राजा की दशा पर दृष्टि गई तो सोचा कि देखो—यह राजा कितना हैरान रहा करता है, इसको इस राज्य वैभव के पीछे न जाने कितनी-कितनी चिंतायें करनी पड़ती हैं? इसलिए यह राजा भी सुखी नहीं है । हमें पूरा राज्य लेकर क्या करना, आधा ही राज्य मांगना चाहिए । फिर सोचा कि आधे राज्य में भी दुःख है, करोड़ रुपये ही माँग लेना चाहिए, पर करोड़पतियों की हालत पर विशेष चिंतन चलने से ऐसा पाया कि वे भी बहुत दुःखी रहा करते हैं, उनको बैठने की फुरसत नहीं, इधर उधर दौड़धूप मचाये रहते हैं । रात्रि को अच्छी तरह सो भी नहीं सकते हैं, जगह-जगह उनके लिए टेलीफोन लगे हुए हैं । यहाँ तक कि संडास तक में बहुत से लोग टेलीफोन लगवा लेते हैं । यों करोड़पतियों की हालत पर विचार करके क्रमशः लखपति, हजारपति व शतपतियों पर दृष्टि गई । किसी के सुखी न देखा । इसी चिंतन में वह ब्राह्मण रात्रिभर सो न सका था, अब प्रातःकाल भगवान का भजन करने बैठा तो उस समय उसका यही चिंतन बना हुआ था कि हमें राजा से कुछ न मांगना चाहिए, हमारी जैसी स्थिति है वैसी ही ठीक है । इतने में सामने से वह राजा टहलता हुआ निकला और बोला ऐ विप्र ! माँगो—क्या चाहते हो? तो हाथ जोड़कर वह विप्र बोला—महाराज हमें कुछ न चाहिए । हमें तो यही स्थिति ठीक है । सो हमें चाहिए कि आज जो हमारी स्थिति है उसी में व्यवस्था बनायें । यों तो आवश्यकतायें अनन्त हैं, उनकी पूर्ति कभी हो नहीं सकती ।

गाथा — २९२

अह धण-सहिदों होदि हु इंदिय-परिपुण्णदा तदो दुलहा ।
अह इंदिय-संपुण्णो तह वि सरोओ हवे देहो ।।२९२।।

धनसहित होने पर भी इन्द्रियपरिपूर्णता की दुर्लभता—अब यह जीव धनसहित भी हो गया, मगर इन्द्रिय की परिपूर्णता न हुई तो क्या लाभ? मान लो कोई इन्द्रिय ठीक नहीं, आँखें न हों, या हाथ पैर वगैरह ही कट जाये, या लकवा वगैरह हो जाने से कोई शारीरिक अंग खराब हो जायें तो यह भी एक बहुत बड़ी कमी है । अगर इन्द्रिय की परिपूर्णता नहीं है और धनिक विशेष हो गए तो भी उससे क्या लाभ? तो शरीर का आरोग्य होना भी बड़ी मुश्किल से मिलता है । ज्वर, खासी आदिक अनेक ऐसे उपद्रव होते हैं जो कि इस मनुष्य को हैरान करते रहते हैं । अगर कोई आधि व्याधियां, बीमारियां चलती रहती हैं तब फिर इस मनुष्य को उस व्यथा का आर्तध्यान बना रहता है । तो मनुष्य होने पर भी यदि रोगों से (बीमारियों से) भरा हुआ जीवन रहा तब कुछ लाभ तो न उठाया जा सका । अब अपने आपकी बात देख लीजिए—हम आप आर्यक्षेत्र में उत्पन्न हुए है, धनहीन भी नहीं हैं, इन्द्रियों की परिपूर्णता है और देह भी निरोग है । यों तो प्रत्येक देह में रोग हैं । कोई भी देह रोग बिना नहीं फिर भी जरा-जरा से रोगों से हम आपको घबड़ाना न चाहिए । उन रोगों की तरफ विशेष न देना चाहिए, उनके प्रति उपेक्षा का जैसा भाव रहना चाहिए । और यह ध्यान रखे ध्यान रखें कि यह वही शरीर हैं जो किसी दिन जला दिया जायगा, उस शरीर की ओर विशेष ध्यान रखने से क्या लाभ? अथवा उस शरीर के पीछे रोना क्या? तो यों यह जीव इतनी-इतनी स्थितियों को पार करके आज इतनी अच्छी स्थिति में है कि

संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मनुष्य हुआ । उत्तम कुल भी मिल गया, धन भी आवश्यकतानुसार मिल गया, वैसे तो आवश्यकता की बातपर यदि विचार किया जाय तब तो फिर सभी लोग यह अनुभव कर सकते हैं कि वास्तव में आवश्यकता से अधिक धन हम सबको मिला है । यदि दृष्टि बदल गई हो, धर्मपालन का भाव है, सम्यक्त्व उत्पन्न करने की धुन बनी हो, आत्मा के सहज ज्ञानस्वरूप पर दृष्टि रखने का अभ्यास बनाया हो तब तो उस व्यक्ति की दृष्टि ऐसी बन जायगी कि वास्तवमें यहाँ की समस्त परवस्तुवें मेरे से अत्यन्त भिन्न हैं, मेरे लिए ये सब विडम्बनारूप हैं, अगर ऐसा भाव आ गया तो उसकी बहुतसी चिंतायें स्वत: ही खतम हो जायेंगी । यहाँ यह बताया जा रहा है कि इन्द्रिय परिपूर्णता की प्राप्ति भी बहुत दुर्लभ है । बाह्यकरण व अन्तःकरण की परिपूर्णता होने पर ही तो चिन्ता विनाशक उपयोग किया जा सकता है ।

वर्तमान दुर्लभ समागम के अवसर पर अपना उत्तरदायित्व—लोक में जो भी पदार्थ हैं वे पहिले से थे तब ही अब हैं । ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो पहिले तो कुछ भी न हो और हो गया हो । अर्थात् जो भी है वह अनादि से है । अपने आपके सम्बन्ध में विचारें कि हम हैं तो अनादि से हैं और जब अनादि से हैं, किसी दिन हमारी नई सत्ता नहीं बनी, किसी न किसीरूप में हम अनादि से चले आये हैं तो किस रूप से चले आये हैं और आज हमने अपना क्या रूप पाया है, इस विषय का यहाँ विचार करना है । यह जीव सबसे पहिले निगोद अवस्था में था । वहाँ से निकला तो अन्य एकेन्द्रिय जीव हुआ, फिर दो इन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय आदि हुआ । फिर असैनी सैनी हुआ तो तिर्यंच नारकी आदि हुआ । और, अब हुआ मनुष्य । तो यहाँ यह बात देखना है कि हम कितनी खोटी योनियों को पार करके आज मनुष्य हुए हैं । अब इस मनुष्य पर्याय को पाकर हमें क्या करना चाहिए? हमें अच्छे ही काम करना चाहिए और उनमें दृढ़ता रखनी चाहिए ताकि आगे उन्नति होती रहे । जब हम इतनी खोटी स्थितियों को पार करके आज मनुष्य हुए हैं तो हमें ऐसे ही कार्य करने चाहिए कि जिससे इस मनुष्य भव से नीचे तो न गिर जायें । आत्मा का उत्कर्ष बनाये रहें, व्यर्थ का जो मोहजाल है उसमें बेसुध न हों । कितने दिनों के लिए यह सम्बन्ध है? थोड़े दिनों के लिए यह मोहजाल बनायें तो उससे जीव को क्या लाभ मिलेगा? उससे तो जीवको खोटी योनियों में ही जन्म लेना होगा । तो बहुत बड़ी जिम्मेदारी है इस मनुष्यभव को पाकर आत्मा की । तो इसी प्रसंग में यह कहा जा रहा है ।

गाथा — २९३

अह णीरोओ होदि हु तह वि ण पावेदि जीवियं सुइरं ।
अह चिर-कालं जीवदि तो सीलं णेव पावेदि ।।२९३।।

नीरोग शरीर पाने पर भी सुचिर जीवन पाने की दुर्लभता—यह जीव अनेक स्थितियों को पार करके मनुष्य हुआ है । तो मनुष्य में भी कितनी दुर्लभता की बातें पायी हैं । आर्यक्षेत्र में जन्म हो गया यह भी कठिन चीज थी क्योंकि म्लेच्छखण्ड में जन्म होता तो वहाँ हिंसात्मक कार्यों में ही समय व्यतीत होता । आर्यक्षेत्र में रहकर भी उत्तम कुल में न हुए, चाण्डाल आदिक के कुल में हो जाते तो वहाँ अभक्ष्यभक्षण में व अनेक दुराचार में ही समय व्यतीत होता । तो हम आपको ऐसा उत्तम कुल मिल गया । उत्तम कुल मिलने पर भी अगर धनहीन होते तो वहाँ भी मलिनता का ही अवसर था । तो देखिये हम आपको धन भी प्राप्त हुआ है । धन उतने का नाम है जितने में इस शरीर का निर्वाह हो सकता है । भूख, प्यास, सर्दी गर्मी आदिक वेदनाओं से बचाव किया जा सके, बस इस स्थिति को धनिक कहो अन्यथा तो कोई धनिक नहीं हो सकता । आज जो लखपति करोड़पति लोग दिखते हैं वे भी अपने से अधिक धनिक लोगों पर दृष्टि डालकर अपने को निर्धन अनुभव किया करते हैं । तो धनिक उतने को कहते हैं जितने से भूख प्यास ठंडी गर्मी आदिक वेदनाओं से बचत की

जा सके । तो देखिये हम आप धनिक भी हो गए । धनिक होकर भी अगर इन्द्रियों की पूर्णता न हो तो भी वहाँ धर्मपालन के लिए सुविधा नहीं बन सकती । देखिये—हम आपको सब इन्द्रियां भी मिली हुई हैं । और इन्द्रियों की पूर्णता होने पर भी शरीर का निरोग मिलना दुर्लभ है । हम आपको निरोग दशा भी आज प्राप्त है । अब इस गाथा में यह बतलाते हैं कि जिस किसी पुरुष ने ये सब बातें पा लीं, निरोग शरीर भी मिल गया, मगर जीवन अल्प मिला तो उससे भी क्या लाभ? बहुत से लोगों का मरण तो छोटी उमर में ही हो जाता है । अब देखिये हम आपने काफी बड़ी उमर भी पा लिया । अभी तक जीवित हैं तो समझिये कि यह कितनी दुर्लभ सी बात हो रही है ।

संसार में मनुष्य के सुचिर जीवन पर आश्चर्य—मनुष्य के भट मर जाने में तो कोई आश्चर्य नहीं है, पर बहुत दिनों तक जिन्दा बने रहें इसमें आश्चर्य है । जैसे लोग किसी के मृत्यु की खबर पाकर कहते हैं अरे बड़ा आश्चर्य हो गया, और इसमें आश्चर्य नहीं मानते कि हम अभी तक जिन्दा हैं । आश्चर्य तो इस बात पर होना चाहिए कि हम अभी तक जीवित बने हैं । मरण का क्या आश्चर्य? जैसे बरसात में ऊपर से पानी गिरता है तो नीचे बबूले उठ जाते हैं । उनको बच्चे लोग देखते हैं तो वे इस पर बड़ा आश्चर्य प्रकट करते हैं कि देखिये—अब तक यह बना हुआ है । बबूले के फूट जाने का आश्चर्य नहीं करते हैं । और वे बच्चे बबूले का बना रहना देखकर बड़े खुश होते हैं और वे बच्चे यह मेरा है यह मेरा है ऐसा भी कहते हैं अरे तेरा बबूला मिट गया मेरा अभी तक नहीं मिटा ऐसा भी वे बच्चे कहते हैं । तो जैसे बबूले के बने रहने में आश्चर्य मानते हैं, फूटने में नहीं, इसी प्रकार जीवित बने रहने में आश्चर्य है, मरण में कोई आश्चर्य नहीं ।

मनुष्यभव में सुचिर जीवन पाने की उपयोगिता—जब तक हम आप जीवित हैं तब तक कर्तव्य यह है कि कोई ऐसा उपाय बना लें कि जिससे हमें वास्तविक लाभ हो । इन बाहरी बातों के सम्बंध से क्या लाभ है? आज यहाँ हम आप दिख रहे हैं, आखिर यहाँ से मरण करके परभव में जाना होगा । तो परभव में साथ ले जाने के लिए कुछ भले काम करके अच्छी कमाई कर लें, इस बात की दृष्टि रखें । बाहरी चीजें तो सब यही पड़ी रह जायेंगी । अपनी वास्तविक कमाई है धर्म की, ज्ञान की । तो उस ज्ञान को, उस धर्म को हम विशेष महत्त्व दें और उसको अपने जीवन में उतारें । तो इस जीव ने यदि निरोग शरीर भी पाया, पर जीवन अधिक न पाया तो क्या लाभ? और जीवन भी काफी पा लिया पर शील, सदाचार न बनाया, राग का द्वेष मोहादिक का ही काम किया तब फिर वहाँ ज्ञान का, धर्म का क्या अवकाश? इतना विवेक रखें कि मेरे लिए यह तो करने योग्य बात है और यह न करने योग्य बात है । वहाँ तो इसे कुछ शान्ति प्राप्त होगी, पर जो मन में सोचा वही कर बैठे, क्योंकि शक्ति मिली है ना, पुण्य का उदय भी है, कुछ इज्जत भी मिली हुई है । तो जो सोचा वह कर बैठे, ऐसी मन की स्वच्छन्दता में तो जीवन की सफलता नहीं है । चिरकाल तक यह जीवित भी रहा, पर इसने

शीलस्वभाव नहीं प्राप्त किया । तो शीलयुक्त होना यह और भी दुर्लभ बात है ।

गाथा — २९४

अह होदि सोलजुत्तों तो विण पावेइ साहु-संसग्गं ।
अह तं पि कह वि पावदि सम्मत्तं तह वि अइदुलहं ।।२९४।।

साधुसंसर्ग व सम्यक्लाभ की दुर्लभता—यह जीव शीलयुक्त भी हो गया, ब्रह्मचर्य से भी रह रहा, अच्छे आचरण से रह रहा, कुछ व्रत भी धारण कर रहा तो भी यह जीव साधु संसर्ग को न प्राप्त हुआ । मन में कुछ बात आयी है सो व्रत कर रहा है, पर जब तक साधुपुरुषों का समागम न प्राप्त हो, जो संसार, शरीर, भोगों से विरक्त हैं ऐसे संत पुरुषों का समागम न प्राप्त हो तो वे व्रत तप आदिक के लिए की जाने वाली सारी क्रियायें थोथी रह जाती हैं । भीतर परिणामों में उत्कर्षत्व नहीं उत्पन्न होता । तो साधुजनों का संसर्ग पाना बड़ा दुर्लभ है । इस सत्संग का तो सभी जगह बड़ा महत्त्व दिया है । सत्संग पाने की कोशिश होना चाहिए और कदाचित् सत्संग भी मिल गया तो सम्यक्त्व की प्राप्ति अति दुर्लभ है । अपना जैसा वास्तविक स्वरूप है अपने सत्व के कारण अपने आपका जो वास्तविक ढंग हैं वह सहज स्वरूप अनुभव में न आये उसी को कहते हैं सम्यक्त्व नहीं मिला । तो सम्यक्त्व की प्राप्ति इतनी दुर्लभ है ।

गृहस्थ के षट् आवश्यकों का ध्येय—उस सम्यग्दर्शन को पाने के लिए ही तो ये सब उद्यम किए जा रहे हैं । देवदर्शन, गुरुपासना, स्वाध्याय, आदिक । भगवान के गुणों का स्मरण करके ज्ञानपद्धति से अपने और भगवान के बीच की बात निरखना । जो भगवान का स्वरूप है वैसा ही मेरा स्वरूप है, पर अन्तर यह आ गया है कि भगवान का उपयोग तो बिल्कुल निर्मल है और हम आपका उपयोग रागद्वेष मोहादिक के रंग से रंगा हुआ है । अर्थात् रागद्वेषमोहादिक के भावों से कलंकित हो रहा है । और इसी वीतरागता और सरागता के कारण इतना बड़ा अन्तर हो गया है कि प्रभु तो अनन्त आनन्द में मग्न रहते हैं और हम आप यहाँ संसार में जन्म मरण करते हैं, भटकते हैं । इतना महान अन्तर है इस सम्यग्दर्शन के न होने से इस पर कुछ विचार करना है कि जिस ढंग में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है । हम गुरु पूजा करते हैं तो गुरुवों के वैराग्यभाव को निरखें, शरीर का क्या निरखना? इस आत्मा में क्या गुण है, कैसा ज्ञान है, कितनी वीतरागता की परिणति है । धन्य है इनका जीवनं और ज्ञान जो वैराग्य के मार्ग में लगे हुए हैं । इस ज्ञान और वैराग्य के स्वरूप को निहारो, वह सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का कारण बनेगा । तो गुरुजनों का वैसे तो एक सेवा भाव कुछ धर्मवृत्ति पर ही किया जा रहा है, पर वास्तविकता तो उनके रत्नत्रय की साधना से है । गुरुपासना भी रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए है, स्वाध्याय भी रत्नत्रय की प्राप्ति का बड़ा अच्छा साधन है । ऋषि संतों में वचन इतने निष्पक्ष होते हैं कि वे निजपर का कल्याण करने वाले हैं । उन वचनों के अन्दर धोखे का काम ही नहीं है । स्वाध्याय, यह भी एक सम्यक्त्व की उत्पत्ति का साधक बने, इस ढंग से अपने आप पर अनेक बातें घटाते हुए स्वाध्याय करें । संयम—इन इन्द्रियों को संयमित करें, जो भी ये इन्द्रियां चाहती हैं उनकी इच्छा के मुताबिक न बह जायें । संयम करना, त्याग करना और जीवों की रक्षा करना ये सब संयम के वातावरण भी हमारे निज ज्ञानस्वभाव की

अनुभूति के कारण बन सकेंगे ।

धनिकों में उदारता का अभाव होने से देश में संकट प्रसङ्ग—यदि उदार पद्धति से हम चलें, तप (इच्छा निरोध) करें, दान करें, रागद्वेष, मोहादिक पर विजय प्राप्त करें तो हमारा कल्याण अवश्य होगा । देखिये—इसी विवेक के न होने से आज देश में, विदेश में सभी जगह कम्युनिस्ट पार्टी का उदय हो रहा है । यदि सभी लोग ऐसा सोच लें कि यह धन तो हमें उदयानुसार प्राप्त हुआ है । हमारे उपयोग में लिए जो आवश्यक है वह हम करते हैं पर जो विशेष धन आया हुआ है वह इतने आराम के साधन बढ़ाने में और इस झूठी इज्जत के बनाने में यह दुरुपयोग किया जा रहा है । अगर दीन दुखियों के उपकार में धन खर्च किया जाता, और-और भी धार्मिक कार्यों में इस धन को लगाया जाता तो आज जो यह कम्युनिस्ट पार्टी इतनी तेजी से बढ़ रही है उसका उदय न होता । लेकिन धनिक लोग हो गए कृपण । सिवाय अपने विषय आराम बढ़ाने के और किसी परोपकार आदि के काम में धन लगाते नहीं, तो फिर जिनके पास धन नहीं है वे कहाँ तक इस बात को देख सकेंगे । उनका यह दृश्य न देखा जायगा । हाँ अगर धनिक लोग परोपकार में अपने धन का व्यय करते न कि भोगविषयों में, तब तो फिर वे ही निर्धनजन उनके कृतज्ञ होते । इन तप, दान आदिक कार्यों से आत्मा की शुद्धि होती है, परम्परया ये सम्यक्त्व की उत्पत्ति के कारण भी हो सकते हैं । तो इन सब कार्यों के करते हुए में विवेक होना चाहिए ।

ज्ञानार्जन के अनुद्यम का चित्रण—अब देखिये—किसी की उम्र तो ६०-७० वर्ष की हो गयी पर देखने में यह आता है कि इतनी उम्र बीत जाने पर भी अभी वैसे के ही वैसे हैं जैसे कि १० वर्ष की उम्र में थे । सारे जीवनभर धर्म भी किया फिर भी ज्यों के त्यों है । याने जितनी समझ १० वर्ष की उम्र में होती थी उतनी ही अब भी है । एक लाइन भी उससे अधिक समझ नहीं बनी । तो बतलाओ क्या किया धर्ममार्ग में? जीवनभर परद्रव्यों का संचय करने की ही धुन बनी रही, परद्रव्यों से रागद्वेष की ही बात बनी रही, पर ये सब व्यर्थ की बातें हैं जिनमें कि कुछ भी तत्त्व नहीं है । जो असली चीजें थी ज्ञानार्जन की, उसके लिए तो दो चार मिनट का भी समय नहीं लगाया जा सकता । सम्यक के पुरुषार्थ की बात क्या कहें । सम्यक्त्व की प्राप्ति अति दुर्लभ है । सब कुछ मिला, पर एक सम्यक्त्वलाभ न मिला तो समझिये कि कुछ भी न मिला । यह अंधकारमय संसार है । यदि यहाँ जन्ममरण ही करते रहे, उसी में ही बेसुध रहे तो फिर मिला क्या? कुछ भी नहीं । जिस उपाय से शान्ति मिलती है वह उपाय मिले तो समझिये कि हमने कुछ पाया । तो सम्यक्त्व की प्राप्ति अति दुर्लभ है । यदि सत्संग भी मिले, पर सम्यक्त्व न मिले तो यह कुछ लाभ की चीज न हुई । सम्यक्त्वलाभ दुर्लभ चीज है ।

गाथा — २९५

सम्मत्ते वि य लद्धे चारित्तं णेव गिण्हदे जीवो ।
अह कह वि तं पि गिण्हदि तो पालेदुं ण सककेदि ।।२९५।।

सम्यक्त्वलाभ, चारित्रग्रहण, चारित्रपालन की उत्तरोत्तर दुर्लभता—सम्यक्त्व की प्राप्ति दुर्लभ है । इससे पहिले जितनी दुर्लभ बातें बतायी गई थीं वे सब हम आपको मिली हुई हैं। साधुवों का संसर्ग भी होता ही रहता है ।

सदाचार भी यथायोग्य सबके हैं । जीवन भी पर्याप्त मिला हुआ है, यों सारी बातें हम आपको मिली भई हैं । अब सम्यक्त्व की प्राप्ति की जो चर्चा है बस इसके बाद सभी ने घुटने टेक दिए । सम्यक्त्व नहीं मिला । और मिला भी है सम्यक्त्व किसी को, पर वह जीव चारित्र को ग्रहण नहीं करता । प्रथम तो सम्यक्त्व प्राप्त हुआ भी या नहीं, इसका भी कुछ निर्णय नहीं दिया जा सकता । अपनी ख्याति लाभ की वजह से भी ऐसा कहा जा सकता है कि हमें सम्यक्त्व हो गया है । और, किसी के वास्तव में सम्यक्त्व हो तो चारित्र ग्रहण नहीं करता । जिसके सम्यक्त्व हो गया उसके चारित्र तो कुछ न कुछ हो ही जाता है । उसके ऐसा भाव बन जाता है कि हमें संयम से रहना चाहिए । करते हैं संयम मगर विशेषरूप से चारित्र को ग्रहण नहीं कर पाते । तो चारित्र सम्यक्त्व से भी दुर्लभ हो गया । और कदाचित चारित्र का ग्रहण करते हैं तो उसका पालन कर सकने में असमर्थ हो रहे हैं । यह सब भीतरी भावों की बात कही जा रही है । ऊपरी चारित्र का पालन तो आवेशवश भी हो सकता है, मगर अन्तरङ्ग में यह आत्मा अपने ज्ञानस्वरूप में रमण करे, इस प्रकार की भीतर में धुन हो जाना यही है वास्तविक चारित्र का मूल । तो इसकी धुन नहीं होती है अपने आपमें रम जाने में । तो सम्यक्त्व प्राप्त होने पर भी चारित्र का ग्रहण दुर्लभ है और चारित्र प्राप्त हो जाने पर भी उसका पालना कठिन हो रहा है ।

गाथा — २९६

रयणत्तये वि लद्धे तिव्व कषायं करेदि जइ जीवो ।
तो दुग्गईसु गच्छदि पणट्ठ-रयणत्तओ होउं ।।२९६।।

रत्नत्रय प्राप्त होने पर भी तीव्रकषाय हो जाने पर रत्नत्रय के विनाश की व दुर्गतिगमन की विडम्बना—किसी जीव के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्मक्चारित्र प्राप्त हो गया, कषायों का उपशम विशेष होने से ढंग से भी प्राप्त हो गया। तब किसी समय यदि ऐसा उदय आये कि यह जीव तीव्र क्रोध कर जाय तो दुर्गतियों का पात्र होता है । कथानक में आया है कि द्वीपायन मुनि जो नेमिनाथ स्वामी के समय में हो गए उनके जब समवशरण में यह ज्ञान की बात प्रकट हुई कि द्वारिका नगरी १२ वर्ष के बाद भस्म होगी तो इनके ही कारण से भस्म होगी तो उन्होंने उस नगरी को छोड़ दिया, और बहुत दूर चले गए । अब जब १२ वर्ष गुजर गए द्वीपायन मुनि ने अपने हिसाब से सोचा कि अब तो चलना चाहिए, नगरी में, सो अपनी समझ के अनुसार १२ वर्ष के अन्त में वे चले आये । वह १३ माह का वर्ष था । (१३ माह का भी वर्ष होता है) उस बीच राजाओं ने सब शराब फिकवा दी थी, क्योंकि उस शराब के कारण सभी लोग मतवाले हो रहे थे । समझ लिया गया था कि इस शराब के कारण द्वारिकापुरी भस्म होगी । अब वह शराब कहीं फेंक तो दी गई थी, किन्तु पानी बरसने से वह शराब पानी से मिश्रित हो गयी थी । १२ वर्ष पूरे जानकर वही द्वीपायन मुनि उसी द्वारिका नगरी के उद्यान में पहुंचे । वहाँ पर जो शराब बिखेरी गई थी उससे मिश्रित जल पीने से वहाँ के कुछ लोग मतवाले हो गए थे । सो लोगों ने द्वीपायन मुनि पर ढेला पत्थर मारना शुरू किया । उन द्वीपायन मुनि को तैजस ऋद्धि थी, सम्यग्दर्शन भी था, आत्मा का रत्नत्रय भी प्राप्त था, मगर उन्होंने सोचा कि देखो ये दुष्ट लोग व्यर्थ ही हमें सता रहे हैं सो ऐसा क्रोध उपजा, निश्चय कर लिया कि मैं इन्हें भस्म कर दूं । इतना विचार करते ही उनके बायें कंधे से तैजस का पुतला

निकला, उससे सारी द्वारिका नगरी भस्म हो गयी और खुद भी भस्म हो गये । तो यहाँ यह बतला रहे हैं कि रत्नत्रय भी प्राप्त हो जाय तो भी यदि यह जीव तीव्रकषाय करता है तो इसे दुर्गतियों ओं जन्म लेना होता है । तब फिर रत्नत्रय कहा से होगा?

तीव्रकषाय से हानियां जानकर अपने कर्त्तव्य का निर्णय—इस प्रसंग में अपने जीवन में इतनी शिक्षा लेना चाहिए कि तीव्र कषाय अशान्ति को ही बढ़ाने वाली चीज है । सो तीव्रकषाय न करें । कभी-कभी तीव्र क्रोध भी जग जाता हो, पर उसमें ऐसी गाँठ न लगायें कि हम इस व्यक्ति को बरबाद करके ही रहेंगे । घमंड होना तो मनुष्यों में प्रधानता से बताया ही गया है । देवगति के जीवों में लोभकषाय की प्रधानता है और नरकगति के जीवों में क्रोध की प्रधानता है, तिर्यञ्चों मे मायाचार की और मनुष्यों में मानकषाय की प्रधानता है । पर मनुष्य तो मानो इन चारों गतियों के प्रत्येक कषाय का प्रतिनिधित्व रखना चाहता है (हंसी) याने क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक सभी कषायें इन मनुष्यो में बड़ी तीव्रता से पायी जा रही है । इन तीव्र कषायों के ही कारण इस जीव को अनेक प्रकार के दुःख सहन करने पड़ रहे हैं । किसी ने किसी को दुर्वचन बोल दिये तो उसका फल तो बुरा ही होगा । उसी समय बुरा हो जाय या कुछ समय बाद हो जाय । और कर्मबन्ध होने से तो भविष्य में बुरा होने का ही है । तीव्र कषाय इस जीवन में अशान्ति उत्पन्न करती है, अतः मेरे कोई कषाय मत रहो ऐसी भावना रखना चाहिए । तो यह जीव इतनी कठिन-कठिन चीजों को पार करके आज मनुष्य पर्याय में आया है । इतनी ऊँची बातें प्राप्त करने पर भी यदि इन बातों की उपेक्षा कर दी तब तो फिर उसी जन्ममरण के चक्र में पड़ना होगा । इन तीव्रकषायों से इस जीव का घात है, पाया हुआ ज्ञान भी खतम हो गया । अवधिज्ञान में बताया है कि किसी जीव को जिस समय अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह उस जगह को छोड़ने के बाद दूसरी जगह पहुंच गया तो अवधिज्ञान रहे भी, न भी रहे । कोई अवधिज्ञान इतना कमजोर है कि जिस जगह रहते हुए अवधिज्ञान हुआ वह स्थान छूटा तो अवधिज्ञान छूटा । तो इस बात में हुआ क्या कि उपयोग बदल गया । अब उस उपयोग के बदलने से जो कषाय विशेष बनी तो पाया हुआ ज्ञान भी खतम हो जाता है । तो तीव्र कषाय में ज्ञान की बरबादी है । अशान्ति उत्पन्न होती है, लाभ कुछ नहीं मिलता । तो मंदकषायपूर्वक जीवन बिताना यह भी एक अपने लिए बहुत बड़ी देन है ।

गाथा — २९७

रयणु व्व जलहि-पडियं मणुयत्तं तं पि होदि अइदुलहं ।
एवं सुण्च्छिइत्तां मिच्छ-कसाये य वज्जेह ।।२९७।।

मनुष्यत्वलाभ की दुर्लभता जानकर मिथ्यात्व कषाय के परिहार का कर्तव्य—जैसे समुद्र में गिरा हुआ रत्न फिर से मिले यह बहुत दुर्लभ बात है इसी प्रकार मनुष्य पर्याय भी अति दुर्लभता से प्राप्त होती है । जब जीवों की हम दृश्यमान अनेक स्थितियों पर दृष्टिपात करते हैं तो अपनी मनुष्यजन्म की सफलता का भली प्रकार बोध होता है । कीड़ा मकौड़ा, स्थावर, पशुपक्षी आदिक के कितने ही प्रकार के दुःखों को हम देख ही रहे हैं । उनको देखकर पता पड़ता है कि वास्तव हमें आज जो यह मनुष्यभव मिला है वह अत्यन्त श्रेष्ठ और दुर्लभ मिला है । तो मनुष्यपना पाना अति दुर्लभ है ऐसा निश्चय करके अब करना क्या है? मिथ्यात्व और कषायों को छोड़े । मनुष्य होकर अगर मिथ्यात्व और कषायों में लगे रहे तो मनुष्य होना न होना बराबर है । लाभ क्या मिला, विषयों का सुख तो पशु पर्याय में रहते वहाँ भी मिलता, मनुष्य हुए तो यहाँ भी मिल रहा । उसमें कोई विशेषता नहीं है । विशेषता यह है कि मिथ्यात्व और कषाय इनको छोड़ें । प्रभु की रोज पूजन वंदना करने आते हैं तो क्यों आते हैं? मिथ्यात्व कषाय उनका सब नष्ट हो चुका है इसी कारण उनका सर्वस्व

प्रकट हुआ है । तो भगवान सर्वज्ञ हुए है इसका तो प्रधान महत्त्व नहीं समझते, अरे किसी ने थोड़ा जाना किसी ने बहुत जाना, वह एक स्वाभाविक गुण है, हुआ ही है ऐसा, किन्तु उनको जो आनन्द प्रकट हुआ है और सदा के लिए कल्याणमय हैं, परमशिव हुए हैं वे वीतरागता के कारण ऐसे हुए हैं । रागद्वेष अब नहीं रहा इस करण से उनकी महत्ता है, सर्वज्ञता हो न हो, ऐसा तो होता नहीं कि न हो, लेकिन सर्व जान लेने से हम को इष्ट कुछ नहीं विदित होता, जान लिया सब । क्या हुआ, अरे भगवान ना जानते सब और हम आप रागी लोग जानते सब तो उससे फायदा भी निकलता (हंसी) । वे प्रभु तो वीतराग हैं और सबको जान रहे हैं तो उससे क्या फायदा? और, यहां हम आप अगर सब जान लेते तो बढ़िया व्यापार करते । जान लेते कि इस चीज का भाव बढ़ जायगा, इसका कम हो जायगा तो उसी के हिसाब से व्यापार करके लाभ उठा लेते । (हँसी) तो देखिये जिनको जानने की जरूरत है वे जानते नहीं और जिनको जानने की कुछ जरूरत नहीं वे सब कुछ जानते हैं । जानना इसकी कोई महिमा नहीं है, महिमा है वीतरागता की । उनके रागद्वेष न रहा, जो भिन्न औपाधिक चीज थी, बाहरी बात थी, न रही, ठीक है । रहेगी कैसे ? उसकी क्या महत्ता? महत्ता तो गुण विकास की है, सर्वज्ञता की है तो ऐसी सर्वज्ञता मिथ्यात्व कषाय के दूर होने से प्रकट होती है । तो यह काम करने का है ।

मिथ्यात्व की परिहार्यता—भैया ! एक निर्णय रख लो । ये बच्चे लोग साथी न बनेंगे, जिनमें हम झूठी इज्जत समझते हैं कि इसमें हमारा सब कुछ बड़प्पन है, वे लोग साथ न दे देंगे । परिवार का कोई साथी न होगा । साथ देने वाला है तो हमारा विशुद्ध परिणाम है । भली प्रकार भीतर में निश्चयकर लो और इस निश्चय के अनुसार अपना आशय बनाकर कुछ उसका प्रयत्न करलो तो मिथ्यात्व और कषाय को छोड़ें । मिथ्यात्व वह कहलाता है कि जो बात जैसी नहीं है उसको उस प्रकार माने । यह देह अपना नहीं है पर इसे मानें कि यह मैं हूँ तो यह मिथ्यात्व है । परिजन परिवार मैं नहीं हूँ लेकिन उन्हें माने कि यह मैं हूँ, ये मेरे हैं यह मिथ्यात्वभाव है । भीतर में जो रागद्वेषादिक कल्पनायें उठ रही हैं, सुख दुःख उत्पन्न होता है यह भाव भी मेरा स्वरूप नहीं है, पर इन सबमें यह मोही जीव एकमेक हो रहा तो यह उसका मिथ्यात्व है । इस मनुष्यपर्याय को पाया है तो मिथ्यात्व के नाश करने का उद्यम करें । धन वैभव जोड़ने के लिए सभी लोग रात दिन जुटे हुए हैं । जिनका उदय अनुकूल है थोड़े से श्रम से बात बन जाती है और जिनका उदय प्रतिकूल है वे कितना ही श्रम करें तो उससे सिद्धि कुछ नहीं होती । तो जब हमारे भाव के साथ जिसका अविनाभाव आज नहीं, मैं सोचूँ कि धन आ जाय, जब ऐसा नियम नहीं है तो उसके प्रति क्यों इतनी अधिक उमंग रखते? इतनी दृढ़ता रखना चाहिए कि जो कुछ आना है वह उदयानुसार आयेगा, और जो आयेगा उसी में अपनी व्यवस्था बना लेंगे । और अपना अधिकाधिक समय ज्ञानार्जन और आत्मसाधना में लगायेंगे । काम यह एक ही करना है । पर को अपना मानना, पर को स्वयं यह मैं हूँ ऐसा समझना, रागद्वेष सुख दुःख आदिक परिणामों को आत्मा मानना, इन सब मिथ्यात्व भावों का त्याग करें । जब आगे कुछ रहना नहीं है, सबका विछोह होगा तब-फिर किसी भी परपदार्थ से क्या मोह करना? वहाँ इतना साहस बनाने की जरूरत है, कि मेरे ये कुछ नहीं हैं । उनकी ओर से तृष्णा कम करें और ज्ञानसाधना में अपना चित्त विशेष लगायें तो जीवन सफल होगा, नहीं तो सभी लोग जन्मते हैं और मरते हैं । तो इन कषाय भावों का त्याग करें, इससे ही इस नर-जीवन की सफलता होगी ।

कषायों की परिहार्यता—कषायें ४ प्रकार की होती हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ । और ये चारों चार-चार तरह की होती हैं । कोई विकट क्रोध करता है और कोई हल्का । कुछ और हल्का है, कुछ बिल्कुल ही हल्का है, जिन्हें कहते हैं

अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन । ऐसी कषाय जो दूसरे भव में भी साथ जाय । वह अनंतानुबंधी कषाय कहलाती है । प्राय: संसारी जीवों में अनन्तानुबंधी कषाय बसी हुई है । किसी से कुछ भी अपना बिगाड़ समझ में आया तो उसका सर्वस्व विनाश करने के लिए तुल जाते हैं । बताइये उससे लाभ क्या मिलता? लोग तो कहते हैं कि आजकल सज्जनता का जमाना नहीं है, लेकिन उनका यह कहना झूठ है । अरे सज्जनता कोई करते ही कहाँ है? हाँ थोड़ासा ऊपरी-ऊपरी दिखावटी सज्जनता करते, हैं, परिणाम यह होता है कि फल उन्हें जो मिलना चाहिये था उसका उल्टा मिलता है । अरे सही ढंग से कोई सज्जनता बर्ते तो फिर देखिये उसको लाभ मिलता है कि नहीं । सज्जनता करने से लौकिक लाभों से भी वंचित न रहेगा । तो कषायें मत करें। कोई पुरुष अपना विरोधी हो और उसके प्रति सज्जनता बर्ती जाय, हृदय से उपकार करने के भाव से उसके प्रति सज्जनता का व्यवहार किया जाय, अगर ऐसी विशुद्धि उत्पन्न हो तो उस विरोधी के हृदय में भी फर्क आ जायगा, लेकिन लोग सही ढंग से सज्जनता बर्तते नहीं हैं और दोष देते हैं जमाने का कि आजकल सज्जनता बर्तने का जमाना नहीं है । तो क्रोध, मान, माया, लोभ ये चारों कषायें अनन्तानुबंधी भी होती हैं, जिनका संस्कार, वासना परभव तक साथ जाता है । इन कषायों को छोड़े तो सम्यक्त्व उत्पन्न हो जायगा । अपना जो आत्मा का सहजस्वरूप है उस स्वरूप का अनुभव होगा और उनके जो विशुद्ध आनन्द प्रकट होगा उसके अनुभव द्वारा यह जान लेंगे कि संसार के भी पदार्थ में राग करने में आनन्द नहीं है । राग में आनन्द कैसे होगा? राग खुद दुख का अविनाभावी है । जहाँ राग परिणाम हो रहा वहाँ तुरन्त क्लेश हो रहा, राग स्वयं क्लेश रूप है । तब राग करके आनन्द की आशा कहाँ की जा सकती है? तो अनन्तानुबंधी कषाय मिटे वहाँ आत्मा का अपनी सुध हो जाती है । फिर इसके बाद अप्रत्याख्यानवरण और-और छोटी कषायें उन सबको दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए । यहाँ यह बतला रहे हैं कि ऐसा मनुष्यजन्म पाया है जो अति दुर्लभ है, तो इस मनुष्यजन्म पाने की सफलता इसमें है कि मिथ्यात्व और कषाय का त्याग कर दें ।

लौकिक वैभव के अर्जन के लक्ष्यों की सारहीनता—लोग धन वैभव के संग्रह के लिए इसीलिए तो मरे जा रहे हैं कि उन्होंने दो बातें सोची हैं—धन वैभव बढ़ाने के प्रयोजन में एक तो यह कि दुनिया में हमारी इज्जत बढ़ जाय । बड़े-बड़े समारोहों में आगे लोग बैठायेंगे और अनेक जलसों में सभापति बनाये जायेंगे, वहाँ हमें प्रतिष्ठा प्राप्त होगी । लोग भी समझ जायेंगे कि यह हैं धनिक पुरुष । तो एक तो इज्जत बढ़ेगी इस ख्याल से धनवृद्धि में जुटे हैं । दूसरा ख्याल यह बन जाता है कि हमारे बालक बच्चे सब अच्छी तरह सुख में रहेंगे, इनको धनी बना दें और ये सुखी रहें, इससे हमारा आत्मा भी शान्त रहेगा । मगर दोनों ही प्रयोजनों पर विचार तो करो । दुनिया के लोग हमारी इज्जत करेंगे । तो पहिले तो वे दुनियां के सभी आदमी अपनी ही इज्जत सम्हाल लें । मरकर पशु पक्षी न बनें । यहाँ पर ही अनेक अज्ञान अंधकार उनके न रहें तो वे क्या अपनी ऐसी इज्जत सम्हाल सकने के काबिल हैं? नहीं । अरे वे खुद जन्म मरण करने वाले हैं, स्वार्थी हैं, कषायों से भरे हैं, मिथ्यात्व से भरपूर हैं, ऐसे इन कुछ से जीवों से कुछ थोड़े से शब्द प्रशंसा के सुनने को मिल जायें ऐसी चाह करना कितनी बड़ी कुबुद्धि है? क्या मिलता है? कबसे हम मनुष्यजीवन में आये है? इससे पहिले हम क्या हुए होंगे उसकी कुछ आज सुध नहीं है । इस थोड़े से जीव के लिए यश की क्या चाह करना? इस जीवन में ही उस यश से लाभ क्या पाया? और, आगे भी उससे क्या लाभ मिल जायगा? वर्तमान में भी लाभ नहीं है । अगर कुछ स्वार्थीजनों ने इज्जत कर दी तो इज्जत की चाह रखने वाले ये पुरुष उन जीवों के आनन्द और आराम के लिए कितना कष्ट सहते हैं? यह किसका फल है? थोड़ीसी इज्जत मानने का और उसका फल क्या मिला कि सारा जीवन संकट में डाल लिया ।

कुछ लोग इज्जत बोल देते हैं तो इसके फल में इसे कितना क्या और देना होगा सो यह बड़े संकट की बात है । दूसरी बात यह कि बाल बच्चे सुख से रहेंगे, धनिक रहेंगे इसलिए बहुत धन कमाकर रख जाना चाहिए । सो ये भी असार बातें हैं । कितना ही कोई कमाकर रख जाय, उनका उदय पुण्य का नहीं है तो थोड़े ही दिनों में वह सारा धन समाप्त हो जायगा । और, आप कितना ही कमाकर धर जायें वह सब थोड़ा है, उनका अगर पुण्य अनुकूल है तो वे उससे हजार गुना कमा लेंगे । और, इसी सम्बंध में दूसरी बात यह समझें कि कल्पना से मान लिया कि ये मेरे पुत्रादिक हैं । इनके लिए हमें धन अर्जित करके रख जाना चाहिए, तो वे हैं क्या इसके? मरण के बाद वे क्या सुख में निमित्त हो सकते हैं? कुछ बात भी पूछ सकेंगे क्या? ये सब किसी काम न आ सकेंगे? और जीवन में भी काम नहीं आते । बच्चों की सेवा करते-करते जिन्दगी बिता डालो तो उससे इस आत्मा को लाभ क्या मिला? सभी लोग अपने-अपने अनुभव से पूछ लें ।

गृहस्थी की परिस्थिति में मनुष्य का कर्तव्य—गृहस्थी में कर्तव्य केवल एक यही है कि जब गृहस्थ हैं तो इस नाते से कुछ समय व्यापार करना या सेवा सुश्रुषा आदिक के जो काम करने हों सो करें, परिस्थिति है । फिर उदयानुसार जो कुछ प्राप्त हो उसमें ही अपनी व्यवस्था बना लें और जीव को इतना निरपेक्ष रखें कि इसे धर्मसाधना में लगायें । यह काम अगर किया जा सका तो दुर्लभ मनुष्यजीवन पाने की सफलता है, नहीं तो जैसे कीड़ामकोड़ा पशुपक्षी आदिक बने ऐसे ही मनुष्य बन गए । उससे लाभ क्या उठाया? तो अति दुर्लभ मानवजीवन को पाकर कर्तव्य यह है कि मिथ्यात्व और कषाय को छोड़े । मनन करें अपने स्वरूप का । मैं हूँ । हूँ ना, न होऊँ तो यह बड़े मजे की बात होगी । असत् में सुख दुःख क्या होगा, पर ऐसा है कहाँ? मैं तो हूँ, अस्तित्व का अभाव कहां से होगा? मैं हूँ तो किसी न किसी अवस्था में रहता हूँ । अब शान्ति वाली अवस्था चाहिए तो उसका उद्यम करना होगा । अशान्ति और क्लेश की अवस्थायें तो हो ही रही हैं । अपना जैसा स्वरूप है वैसा शुद्ध जान लेंगे केवल ज्ञानमात्र स्वरूप है हमारा । इसमें कोई दूसरी चीज मिली हुई नहीं है । रागद्वेष जो हममें आते हैं तो पर-उपाधि के सम्बन्ध में आ रहे हैं । मेरे स्वभाव में राग नहीं पड़ा है । मेरा सहजस्वरूप तो सिर्फ ज्ञानमात्र है । तो ऐसा ज्ञानमात्र मैं अपने स्वभाव से हूँ, सहज हूँ, उसकी सुध ली जाय तो यह मनुष्यजन्म और श्रेष्ठभव का पाना सफल हो जायेगा। और, यदि विषय कषायों में ही लगे रहे तो मनुष्यजन्म के पाने का क्या फायदा ? तो दुर्लभ मनुष्यजन्म पाकर हे कल्याणार्थी जनो ! मिथ्यात्व और कषायों का परित्याग करें। किसी ने कुछ उल्टा सीधा कह दिया तो यहाँ आग बबूला हो गए। ऐसा कह क्यों दिया इसने? मैं तो इससे बदला लूंगा। यह सब क्या है? अंधकार है। भीतर में निर्णय तो स्वच्छ रखना है। भले ही गृहस्थी में अनेक प्रसंग ऐसे होते हैं कि उनका अगर प्रतिकार न किया, उचित ढंग से उनकी अक्ल ठिकाने न लाये तो सम्भव है कि ये बहुत दिनों तक हैरान करेंगे । और, प्रथम तो यह बात है कि न उनकी अक्ल ठिकाने लायें और समता रखें, व सबके हित की बात सोचें तो भी गृहस्थी में गुजारा चल जायेगा, और इसके लिए तो बड़ा साहस करना होगा। भले ही अल्प साहस की बात बने, मगर निर्णय शुद्ध रखना चाहिए। जगत में अनन्त जीव हैं, कोई किसी का इष्ट मीत नहीं। यह जीव अपने विचार में, पर्याय में, उपयोग में नाना प्रकार की कल्पनायें चेष्टायें करता है तो वह अपने सुख के लिए करता है, उसके विरोध के लिए नहीं करता। यह तथ्य की बात है। कोई भी शत्रु हो, विद्वेषी हो वह जो चेष्टायें करेगा उसके प्रति वह उसके विरोध के कारण न करेगा, किन्तु उसे सुख शान्ति इस बात में जंच रही है तो अपनी ही सुख शान्ति के लिए करेगा। अतएव कोई विरोधी नहीं।

मिथ्याज्ञान के अभाव में आकुलता का अभाव—भैया ! निर्णय यथार्थ रखना चाहिए। जिसके बल से ऐसी वृत्ति

जगेगी कि जीव आकुलता न पायेगा। जितनी आकुलता होती है वह मिथ्याज्ञान से होती है। अब यही देख लो—चीज जो कुछ भी मिली है वह सब मिट जायेगी, लेकिन खुद को जो मिला है बाह्य समागम, उसके प्रति ख्याल तक भी न लाना चाहिए कि ये सब चीजें मिटेगी, बिछुड़ेंगी। दूसरों के लिए तो ख्याल ला देंगे कि कितना बेहोश हो रहा है। जो मिला है वह मिटेगा, पर खुद को जो मिला है वह भी मिटेगा, ऐसी कल्पना तक नहीं करना चाहते। याने अनित्य चीज को नित्य मान रहे हैं। मिथ्याज्ञान हो रहा है इसी का ही क्लेश है। अगर अनित्य को अनित्य मान लिया जाय, जिस घर में रहते वह भी छूटेगा, जिस देह में रहते यह भी मिटेगा, जो समागम मिले हैं वे सब असार हैं, आदिक बातें अगर मान ली जायें तो यही उसका बहुत सा क्लेश मिट जायेगा। और इतना तो निश्चित है कि जब धन वैभव परिजन आदिक का वियोग होगा तो यह ख्याल करने लगेंगे कि लो जो हम जानते थे सो ही हो गया। हम पहले से जान रहे थे कि यह मिटेगा तो देखिये जो बात जान रहे थे वही बात सच निकली। कोई आदमी किसी बात को पहले से बता दे कि देखो ऐसा होगा। तो वैसी बात के हो जाने पर वह शान से कहेगा कि मैं तो इसे पहिले से जानता था । जो जानता था सो ही हुआ । तो वह उस समय दु:खी नहीं होता बल्कि खुशी मानता है । अगर अनित्य पदार्थ नष्ट हो गए तो ज्ञानी पुरुष उस समय खुशी मानेगा कि देखो जैसा हम समझ रहे थे वैसा ही हुआ । भला जो लोग अनित्य को नित्य समझते हैं तो उसके मिटने पर वे बड़ा खेद मचाते हैं । देखो अचानक क्या हो गया? अरे अचानक क्या हुआ? आश्चर्य तो इसमें होना चाहिए जो चीज देर तक (काफी समय तक) बनी रहे। मिटने का क्या आश्चर्य? इससे हम सच्चे ज्ञान के द्वारा अपने आपके आत्मा की रक्षा करें, मिथ्यात्व कषाय से दूर रहें, इसमें हम आपके जीवन की सफलता है ।

गाथा — २९८

अहवा देवो होदि हु तत्थ दि पावेदि कह व सम्मत्तं ।
तो तव-चरणं रण लहदि देस-जमं सील-लेस पि ।।२९८।।

देवगति में हीन परिस्थिति—कभी किसी प्रकार यह जीव देव बन गया, मायने चारों गतियों में जो एक देवगति है उसमें आ गया, वहाँ किसी प्रकार सम्यक्त्व भी पाले तो भी इतना तो निश्चित है कि वहाँ तपश्चरण, संयम महाव्रत ये कुछ भी नहीं हो सकते । ऐसी हीन दशा रहती है देवगति के जीवों की । लोग यहाँ घबड़ाते हैं कि कितना उपद्रव हो गया, उपसर्ग हो गया, न जाने अब कैसे क्या होगा? अरे ये उपद्रव ये उपसर्ग भले के लिए होते हैं । हम इनमें समता तो कर लें, कितने ही कर्मों का क्षय हो जायेगा । और उस बीच भी हमको कितनी बड़ी शान्ति मिलेगी । क्या सम्पदा के बीच रहकर जीव शान्त हो जाता है? बहुत-बहुत सुविधायें मिली हों वहाँ भी यह जीव दुःखी रहता है । यह धनसम्पदा सुख का हेतु नहीं है । सच्चा ज्ञान ही सुख का हेतु है, अतएव उपद्रव भी कदाचित् आये तो उस बीच भी सम्यग्ज्ञान बनायें और सुखी हों ।

गाथा — २९९

मणुव-गईए वि तओ मणवु-गईए महव्वदं, सयलं ।
मणुव-गदीए झाणं मणुव-गदीए वि णिव्वाणं ।।२९९।।

मनुष्यगति में तपश्चरण का अवसर—मनुष्यगति में ही तपश्चरण संयम, निर्वाण आदि हुआ करते हैं, इस कारण से चारों गतियों में मनुष्यगति का महत्त्व है । अब कोई यहाँ यह सोचे कि इस काल में तो मोक्ष होता नहीं तब फिर इस काल में मनुष्यगति का क्या महत्त्व है । तो ऐसी भी शंका न करना चाहिए, कारण यह है कि इस मनुष्यगति से आज निर्वाण नहीं है लेकिन मन इतना श्रेष्ठ मिला है कि वस्तुस्वरूप का हम सही विचार कर सकते हैं और शुद्धज्ञान बना सकते हैं । शुद्धज्ञान वह है जहाँ यह स्पष्ट बोध हो कि प्रत्येकपदार्थ की सत्ता अत्यन्त जुदी-जुदी है और प्रत्येक पदार्थ में बाकी सबका अत्यन्ताभाव है, किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं हैं । यदि कोई पदार्थ विकाररूप भी परिणम जाता है तो वह पदार्थ स्वयं अपनी परिणति से विकाररूप परिणमा, इतनी बात वहां अवश्य है कि निमित्तभूत पदार्थ होने पर ही वह परिणमा, तो बात वहाँ क्या होती है कि अनुकूल निमित्त का सन्निधान होने पर पदार्थ स्वयं विकाररूप परिणम जाता है । तो यों वस्तुस्वरूप को निरखने का सामर्थ्य इस मनुष्यभव में है अतएव मनुष्यभव का बहुत बड़ा महत्त्व है । मनुष्यगति में ही तपश्चरण होता है । तपश्चरण १२ प्रकार के बताये गए हैं—६ बाह्य तपश्चरण और रे अन्तरङ्ग तपश्चरण । जैसे अनशन—भूख से कम खाना, कुछ अटपट आखड़ी लेकर खाना, रस का त्याग करना, एकान्त स्थान में मौन बैठना और नाना प्रकार के कायक्लेश करना, ठंड गर्मी आदिक के तपश्चरण, ये सब बाह्य तप कहलाते हैं क्योंकि लोगों को यह सब दिखता है ।

मनुष्यगति में अन्तरङ्ग तप की विशेषता—अन्तरङ्ग तप ६ प्रकार के हैं—प्रायश्चित्त करना—कोई अपराध हुआ है अब उसका प्रायश्चित्त कर रहे हैं, उस दो को मेट रहे हैं, आगामी काल में यह दोष न बने, ऐसी मन में दृढ़ता ला रहे हैं तो ये बातें दूसरों को वहाँ दिखती हैं, ऐसा यह भीतरी तप कहलाता है । विनय—विलय नाम हाथ जोड़ने भर का नहीं है, हृदय से दूसरे के गुणों में प्रीति उत्पन्न हो उसका नाम विनय है । अब यह हृदय किसको दिखता है । कहो बाहर में कोई ऐसी विनय करता हो कि जिसकी कुछ हद नहीं, किन्तु अन्तः विरोध है, और कोई ऐसा विनय भी होता है कि कहो बाहर से

अधिक विनय की बात न जाहिर हो सके पर अन्दर से बड़ा ही विनयपूर्ण भाव हो तो विनय तपश्चरण भी भीतरी भाव है, उसे दूसरा कौन जनता है । तीसरा है वैयावृत्य तप । वैयावृत्य कहते हैं सेवा करने को, लेकिन वैयावृत्त का शब्दार्थ सेवा करना नहीं है, जैसे पैर दाबना आदिक, पर यह तो फलित अर्थ है । वैयावृत्य का अर्थ है कि जो अयोग्य काम से हट गया हो उसे कहते हैं व्यावृत्त पुरुष । जो अनुचित कार्यों से हट गया हो । जो संसार से या मोहियों के संग से हट गया है उसे का नाम है व्यावृत्त अर्थात् निवृत्त, उसकी वृत्ति को वैयावृत्य कहते हैं । धर्मात्माजनों की सेवा करना इसका नाम है वैयावृत्य । यह तो वैयावृत्य का फलित अर्थ है, मगर इसका सम्बन्ध भीतरी भाव से है । स्वाध्याय—लोग तो स्वाध्याय का अर्थ लगाते हैं किसी भी पुस्तक को पढ़ लेना, पर स्वाध्याय का यह मौलिक अर्थ नहीं है । स्वाध्याय का अर्थ है अपने आपका अध्ययन करना, याने स्व का जहाँ अध्ययन हो, स्व की जहाँ दृष्टि हो उसका नाम है स्वाध्याय । तो स्वाध्याय नाम का एक तप है । में आत्मा क्या हूँ, कहाँ से आया हूँ, मुझे क्या करना है, मेरी क्या गति होगी, ऐसी बातें मन में रखकर फिर स्वाध्याय करें तो वह अन्तरङ्ग तप कहलाता है । कायोत्सर्ग तप—समस्त बाह्यपदार्थों से ममता को त्याग देना, निर्ममत्वभाव में ही शान्ति मिलती है । जब रागभाव का कुछ उदय होता है तो लोग कहीं शान्ति नहीं पाते, क्योंकि वे देखते हैं अपने से बड़ों को, धनिकों को । उनको देखकर चित्त में यह बात आती है कि हाय मैं न हुआ ऐसा, मेरी ऐसी स्थिति क्यों न हुई, लो यही सोच-सोचकर जीवन में चैन नहीं पाते हैं । आपने देश में विदेश में कहीं भी इस तरह को वृत्तियों में रहकर कोई शान्त देखा हो तो बताओ । दूसरों का वैभव देखकर मन ही मन दुःखी रहा करते हैं । उस वैभव के संचय के लिए अनेक प्रकार के मायाचार भी करते हैं । यह मायाचार होता है लोभ से । लोभ न हो तो मायाचार का क्या काम? ये सब बातें तभी होती हैं जब कि रागमोह भाव रहता है । तो मोह का परित्याग करना, ममता छोड़ना यह व्युत्सर्ग तप है । यह भी आन्तरिक तप है । दूसरा कोई क्या जाने कि इसने ममता छोड़ी या नहीं। कहो घर द्वार सब कुछ कोई छोड़ दे, पर ममता न त्याग सके । कहो ममता के कारण ही घरबार सब कुछ छोड़ दिया हो । वहाँ कोई यह नियम तो नहीं बना सकता कि इसने ममता त्याग दी है । घर द्वार की ममता त्याग दिया, पर उससे बड़ी ममता अपने चित्त में बसा लिया । तो ममत्व का त्याग कहाँ किया? यह बात कोई दूसरा क्या जानेगा? यह तो खुद ही जान सकते हैं । यदि उसने ममता को त्याग दिया, तब तो शान्त हो जायगा नहीं तो दुःखी ही रहेगा । छठवाँ अन्तरङ्ग तप है ध्यान—अच्छे तत्त्व की ओर, हितकारी तत्त्व की ओर अपने मन को लगाये रहना यह ध्यान है । इस ध्यान को कोई दूसरा क्या जान पायगा? खुद ही के जानने में हो तो हो । इसी कारण ध्यान भी अन्तरङ्ग तप कहलाता है । तो यह तप मनुष्यभव में बनता है, देव तिर्यक आदिक अन्य भवों में नहीं बन सकता । देव अनशन ऊनोदर आदिक क्या करेंगे? उनको तो भोग सामग्री विशेष मिली हुई हैं, वे तो भोगों में ही रत रहकर अपनी जिन्दगी बिताते हैं । पर उससे जीव को कुछ फायदा नहीं होता । तत्काल भी क्लेश रहता है और भविष्य में भी क्लेश रहता है । तो यह अवसर तो मनुष्यों को ही मिला है कि वे तपश्चरण करें । मनुष्यगति में ही ध्यान

है ।

मनुष्यगति में निर्वाण व निर्वाणसाधन की विशेषता—मनुष्यगति में ही निर्वाण है, अन्य गतियों में ये नहीं बनते । इन्द्र भी द्वादशाङ्ग का पाठी है मगर वह श्रुतकेवली नहीं कहलाता । श्रुतकेवली तो निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि बन सकता है । तो मनुष्य गति में श्रेष्ठज्ञान, ध्यान आदिक बनते हैं, किसी अन्य गति में ये सम्भव नहीं है। निर्वाण भी मनुष्यगति से ही होता है । शुक्लध्यान अन्य गतियों में नहीं होता । कुछ धर्मध्यान हो जाय मगर रागद्वेष उपयोग में न रहे और ऐसा फिर वीतराग भाव प्रकट हो जाय ऐसा ध्यान मनुष्यगति में ही हो सकता है अन्यत्र नहीं । दुर्लभ मनुष्यगति में दुर्लभ तत्त्वों की प्राप्ति का अवसर जान करके हमें अपने आपमें क्या घटित करना है कि हम कितने ही दंदफंदों को पार करके आज मनुष्य हुए है । मनुष्य हो जाना बड़ी दुर्लभ बात है और उस मनुष्यभव में भी कितनी ही बातें प्राप्त कर लीं, इन्द्रियाँ पूर्ण हैं धन भी मिला, खाने पीने आदि की सारी सुविधायें मिली हैं, सम्यक्त्व भी प्राप्त है, संयम भी बनाना चाहें तो बन सकता है, ऐसा उच्च कुल भी हम आपको प्राप्त है, सब प्रकार से समर्थ भी हैं, कैसी दुर्लभ चीजें प्राप्त कर ली है । अब ऐसा अवसर पाकर यदि हमने अपनी सावधानी न बनाया, मन को विषयों में ही लगाये रहते हैं तो यह खुद की बहुत बड़ी गलती है, आगे फिर संसार में जन्म मरण करते रहना होगा ।

गाथा — ३००

इय दुलहं मणुमत्तं जे रमंति विसएणु ।
ते लहिय दिव्व-रयणं भूइ-णिमित्तं पजालंति ।।३००।।

दुर्लभ मनुष्यसत्व को पाकर विषयरमण का अविवेक—ऐसा दुर्लभ मनुष्यजन्म पाकर भी जो लोग विषयों में रमण करते हैं वे मानो यह कर रहे हैं कि दिव्य रत्न को पाकर उसको राख की जरूरत थी सो उस राख की जरूरत की पूर्ति के लिए उस दिव्य रत्न को जला डालते हैं। जैसे किसी को बर्तन मांजने के लिए राख की जरूरत है और वह चंदन के वन को काटकर जलाकर राख बनाये तब बर्तन मले तो क्या कोई विवेकी कह सकेगा? वह विवेकी नहीं है। इसी तरह विषयकषायों की पूर्ति के लिए इस मनुष्य जीवन का उपयोग बनाया तो यह उसका कोई विवेक नहीं है। ये विषयभोग क्षणभंगूर चीजें हैं। कुछ इन्द्रिय और मन को सुहा गए, थोड़े समय के लिए हैं, उनमें आसक्त होकर बन्धन में पड़े तो यह कोई विवेक नहीं है। दूसरे का अविवेक दूसरा जान लेता है पर अपने खुद के अविवेक को नहीं जान पाते। दूसरों को देखकर लोग कह बैठते हैं कि यह व्यर्थ का मोह करके दु:खी हो रहे हैं, पर खुद के विषय में ऐसा नहीं सोच पाते। वे तो जो काम कर रहे हैं उसे उस समय समझते हैं कि हम बहुत अच्छा कर रहे हैं। बुरे काम को यदि ये बुरा समझें तो यह एक ज्ञानप्रकाश है। तो यह जीव खुद के विषय में नहीं समझ पाता कि मैं मोह कर रहा हूं, अज्ञान कर रहा हू, ऐसा दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर यदि विषयों में रमकर बिताया तो समझिये कि दुर्लभ रत्न को पाकर उसे व्यर्थ ही नष्ट कर दिया। देखिये यह कितनी कठिन बात है जो लब्ध्यपर्याप्तक से निकलकर इन्द्रियपर्याप्तक बने, अन्य स्थावर बने, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय बने। उसमें भी असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय भी बन गए।

असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय बनकर भी श्रेष्ठ मन मिला, उत्तम जाति कुल आदिक मिले, सुचिर जीवन मिला, इन्द्रियों की परिपूर्णता मिली, सत्संगति मिली, सम्यक्त्व भी जगा, ऐसी दुर्लभ बातें पाकर भी यदि विषयों की ओर झुकाव हो तो समझिये कि इस मानवजीवन को पाकर लाभ कुछ न उठाया। कोई मनुष्य हाथी खरीद ले हजारों लाखों रुपये लगाकर, उसके खाने पीने में दसों आदमियों के बराबर खर्चा करे, पर उस हाथी का उपयोग करे कूड़ा करकट ढोने में तो भला उसे कोई विवेकी कहेगा क्या? कोई विवेकी तो न कहेगा। यों ही समझिये कि इतना श्रेष्ठ जन्म पाया जो कि बहुत ही कठिन था और पा करके काम किया विषयभोगों में रमने का, तो उससे क्या लाभ पाया?

पशुयम जीवन में नरभवयापन की उन्मत्तता—अरे इन विषयों में ये पशुपक्षी भी रत होते हैं। उन कुत्ता, बिल्ली, कबूतर, मुर्गा, मुर्गी आदिक की योनियों में रहकर भी तो ये विषयों के काम किये जा सकते थे। देखिये—उन पशु पक्षियों के भी बच्चे होते हैं, मनुष्यों के भी बच्चे होते हैं, वे भी अपने बच्चों में मोह रखते हैं, ये मनुष्य भी मोह रखते हैं, तो अ बताइये मनुष्य ने विवेक का कौनसा काम किया? रही एक धन वैभव के बढ़ाने की बात तो जितना उन पशु पक्षियों को साधन जोड़ने की जरूरत है उतना वे जोड़ते ही हैं। हां मनुष्यों ने उनकी अपेक्षा अधिक लगाव लगाया उन साधनों में। पर यह लगाव इस मनुष्य के हित के लिए नहीं है। वह तो अशान्ति के लिए है। जितना अधिक वैभव होता जायेगा उतना ही अधिक अशान्ति बढ़ती जायेगी। उसकी कोई हद नहीं है कि कितना वैभव हो जाय तो शान्ति मिलेगी। रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द आदि की प्रवृत्तियों में ही व्यापार करते हैं। इसी चक्र में पड़कर यह मनुष्य जीवन लोग व्यर्थ ही गंवा देते हैं, उस तरह से जैसे कि भस्म के लिए अमूल्य रत्न को लोग जला देते हैं।

गाथा — ३०१

इय सव्व-दुलह-दुलहं दंसण-णाणं तहा चरित्तं च ।
मुणिऊण य संसारे महायरं कुणह तिण्हं पि ।।३०१।।

दर्शन ज्ञान चारित्र के अतिरिक्त अन्य में आदर करने से विपत्तिप्रसङ्ग—इस बोधि दुर्लभ भावना के प्रकरण में अब तक यह बताया गया है कि सर्व से अत्यन्त दुर्लभ चीज दर्शन ज्ञान, चारित्र है, मनुष्य भी हो गए और रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं है तो उस मनुष्यभव से फायदा क्या उठा पाया? मरे फिर अन्य कुगतियों में जन्म मरण करते रहे, संसार का चक्र लगाया, कौनसा वहाँ फायदा लूटा? तो सर्व दुर्लभ से दुर्लभ है दर्शन, ज्ञान, चारित्र। इस अन्तस्तत्त्व को यदि पा लिया तो सब कुछ पा लिया। सन्तोष यहाँ ही मिलेगा। बाहर में कहीं सन्तोष न मिलेगा। कितनी उम्र हो गयी, कितने ही परिजन थे, कितने ही मित्रजन थे, लेकिन आज क्या रहा? परिजन मित्रजन कितने ही गुजर गए, उनसे मिला क्या? मुसीबत जिन्दगी भर भोगा, पर उसके एवज में इसको मिला क्या सो बताओ। मगर मोह इतना विकट है कि मुसीबत भी भोगते जाते हैं और वे ही मुसीबत के काम प्यारे लग रहे हैं। करना पड़े यह बात अलग है मगर इसको भीतर में उसी से ही रुचि लगी है। यह सोच ही नहीं सकते कि उससे अलग रहकर हम जिन्दा रह सकते कि नहीं। वे पदार्थ हैं। जिन्दा रहना का दूसरा कोई साधन नहीं। इसी परिवार में रहें, राग करें तो हमारा जीवन है अन्यथा नहीं, ऐसा व्यामोह पड़ा हुआ है। तो यहाँ ये सभी चीजें धन वैभव आदिक मिलना तो सुलभ है पर एक यथार्थ ज्ञान का मिलना दुर्लभ है। इस सम्यग्ज्ञान के प्राप्त करने वाले बिरले ही लोग हैं। जिसने इस सम्यग्ज्ञान को पाया वह जान लेगा कि यही सर्वस्व है, इसके सिवाय बाकी जगत के समस्त पदार्थ तुच्छ हैं । जिनकी समझ में यह आ गया उनको शान्ति हैं सन्तोष है, क्योंकि तुच्छ तो है ही, अब उनको

समझते हैं कि ये ही मेरे जीवन के अंग हैं, ये ही मेरे सर्वस्व हैं, उनका उपयोग उस ओर झुक गया तो बाह्यपदार्थों में जब उपयोग भाव गया तो उसको वहाँ मिलेगा क्या ? वे तो बाह्यपदार्थ हैं, उनका उत्पादव्यय उनमें है, उनका परिणमन उनमें है । उनसे मुझे कुछ मिल तो सकता नहीं तो वहाँ हम दुःखी होते हैं । इतना ही क्यों हुआ, इतना क्यों न हुआ, यों कल्पनायें करके यह जीव दुःखी होता है । देखिये लोक में दूसरी आफत यह लगी है कि पड़ोस के लोग,, देश के लोग, धन वैभव के पीछे बढ़ते चले जा रहे हैं, उन लोगों के सामने हम आदर नहीं पा रहे हैं, उनकी बातों को देखकर यह जीव सम्यग्ज्ञान में टिक नहीं पाता । ऐसे जुवारियों के अड्डे में जुवा खेलने वाले व्यक्ति को वे जुवारी लोग उठने नहीं देते, अगर वह उठना भी चाहे कि चलो जो पैसे बच गए उनसे ही गनीमत है, पर वे जुवारी लोग यह कहकर कि बस हो गए, इतनी ही दम थी..., उठने नहीं देते । ऐसे ही यहाँ किसी को ज्ञान भी हो जाय और सोचे कि हमें तो ज्ञान में ही रमण करना है, क्या पड़ी है हमें दुनिया के झंझटों से, इन लोगों से क्या लेना देना है, मगर लोगों के बीच रहते हैं सो उनके संग से प्रायः वह यहाँ से हट ही जाता है । भीतर की वृत्ति से वह अलग हो ही जाता है, तो दूसरी आफत यह लगी हुई है ।

आदरणीय रत्नत्रयभाव में सम्यक्त्व की आद्यता—दुर्लभ चीज है दर्शन, ज्ञान चारित्र । ऐसा जान करके इस संसार बस इन तीन चीजों का ही (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) आदर करें । सम्यक्चारित्र रूप जो परिणाम है, अपने आपके सहज स्वरूप की श्रद्धा होना, उस ही सहज स्वरूप का बोध रहना, इसी सहज स्वरूप में मग्न रहना, यह स्थिति मिले यही सार की चीज है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी चीज मिल जाय, जुड़ जाय, ढेर हो जाय, वह हमारे हित की चीज नहीं है, ऐसा सोचकर इसही रत्नत्रय भाव में महान आदर करना चाहिए, अन्य कोई स्थिति हमारे आदर के योग्य नहीं है । इस प्रकरण में बताया है कि एकेन्द्रिय से लेकर विकास करते-करते रत्नत्रय की प्राप्ति पर्यन्त जो हमारा विकास हुआ है यह दुर्लभ से दुर्लभ बात हुई है । अब दुर्लभ से दुर्लभ जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र पाया है इसकी रक्षा, करें, और इस उपाय से संसार के संकटों से सदा के लिए छूटने की बात बनी लें । सम्यक्त्व क्या है? तो निश्चय में तो परद्रव्य से, परभाव से भिन्न अपनी ही सत्ता से सहज शुद्ध जो चैतन्यस्वरूप है तन्मात्र अपने आपको अनुभवना, मैं यही हूँ, यही है सम्यक्त्व । और व्यवहार में अष्ट अन्न ही सम्यक्त्व है । जैसे ८ अंगों को छोड़कर शरीर और क्या? जैसे पीठ, पेट, दो हाथ, एक मस्तक, दो पैर और एक कमर का भाग, जिस पर हम आप बैठे रहते हैं, ये ८ अंग कुछ भी न सोचें तो शरीर और रहेगा क्या? इन ८ अंगों का समुदाय ही तो शरीर है । इसी प्रकार व्यवहार में ८ अंगों का समुदाय ही तो सम्यक्त्व है और ये ही ८ अंग व्यवहार दृष्टि से व्यवहार सम्यक्त्व बनते हैं और निश्चय दृष्टि से निश्चय सम्यक्त्व होते हैं ।

अष्टाङ्ग सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान व चारित्र में आदर करने की प्रेरणा—नि:शंकित अंग जिनवचनों में शंका न करना, जिनवाणी की बात सर्व प्रमाणिक है, उसमें संदेह न करें, निःशंकित अंग हो गया और निश्चय से आत्मा का जो अजर अमर अजन्मा स्वरूप है, शाश्वत ज्ञानानन्दस्वरूप है उसमें शंका न करना, इसमें कोई नई बात आ ही नहीं सकती, इसमें कोई गड़बड़ होते नहीं, मैं ऐसा अमूर्त चैतन्यस्वरूप हूँ, यही है निश्चय से निःशंकित अंग । निःकांक्षित अंग धर्मधारण करके भोगविषयों की चाह न करना और निश्चय से कोई भी पदार्थ, कोई भी भाव चाहने के योग्य नहीं है । किसी भी भाव में लगाव न रखना, एक अपने चैतन्यस्वरूप में मग्न होने की धुन रहे, लो निश्चय सम्यक्त्व हो गया । धर्मात्माओं से ग्लानि न करना सो निर्विचिकित्सा अंग है और अपने में जो रागद्वेषादिक भाव होते हैं, क्षुधा तृषा आदिक की जो वेदनायें होती हैं उनका भी विषाद न करना, उनका ज्ञाताद्रष्टा रहना, उनमें अपने को दुःखी न बनाना यह निर्विचिकित्सा भाव हो गया । कुपथ को देखकर, कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु को निरखकर उनको भला न मानना, यह श्रद्धान रखना कि सच्चे देव, शास्त्र गुरु ही सारभूत हैं यह अमूढ़ दृष्टि है । और, निश्चय से आत्मा का जो स्वरूप है उस स्वरूप में व्यामोह न करना, अर्थात् उसके विपरीत कुछ न समझना, सही सहज स्वरूप जानना अमूढ़दृष्टि हो गया । निजगुण व पर अवगुण का ढाकना व्यवहार उपगूहन है, अपने गुणों का विकास करना और अपने दोषों को दूर करना अन्त: उपगूहन हो गया । अपने को व पर को धर्म में स्थिर करना स्थितिकरण है, अपने में धर्म की प्रभावना करना सो प्रभावना अंग है । यों ८ अंगों का समुदाय वही सम्यक्त्व है और उसी का परिज्ञान करना सम्यक्ज्ञान है । उसी में उपयोग, रमाना सम्यक्चारित्र है । इनको महत्त्व दें, इनके सिवाय अन्य प्राप्त समागमों को महत्त्व न दें । दुर्लभ से दुर्लभ रत्नत्रय भाव है उसका साधन पाया तो एकचित्त होकर रत्नत्रय की आराधना में लग जाओ । अपनी अमूल्य निधि अपने को मिले एकमात्र यही पुरुषार्थ करो ।

गाथा — ३०२

जो जाणदि पच्चक्खं तियाल-गुण-पज्जएहि संजुत्तं ।
लोयालोयं सयलं सो सव्वण्हू हवे देवो ।।३०२।।

धर्ममूल, धर्ममूर्ति व धर्मफल श्री सर्वज्ञदेव का स्मरण—जो आत्मा तीन कालवर्ती गुणपर्यायों से संयुक्त समस्त लोकालोक को प्रत्यक्ष जानता है वह सर्वज्ञदेव होता है । यह धर्मानुप्रेक्षा चल रही है । धर्म के सम्बन्ध में ज्ञानी चिंतन कर रहा है कि धर्म के मूल सर्वज्ञदेव हैं । जितना भी धर्म का प्रसार है, लोगों को ज्ञान प्राप्त हुआ है उस सबका मूल आधार तो सर्वज्ञदेव है अर्थात् सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि सुनकर गणधरदेव ने उसका अवधारणा किया और गणधरदेव से सुनकर अन्य आचार्यों ने निबद्ध किया और उनकी परम्परा से यह सब धर्मों का ज्ञान चल रहा है तो चूँकि धर्मों के मूल में सर्वज्ञदेव हैं और साक्षात् धर्म की मूर्ति सर्वज्ञदेव हैं । धर्म का फल भी प्रकट वही है, इस कारण धर्मानुप्रेक्षा के वर्णन के प्रारम्भ में सर्वज्ञदेव का स्मरण किया है और उनका लक्षण बताया है । जो प्रभु समस्त द्रव्यों को उनके गुणों को और भूत भविष्य वर्तमान की सभी पर्यायों को जानता है उसे सर्वज्ञ कहते हैं । देव का अर्थ हैं जो परम आनन्द पद में क्रीड़ा करे उसे देव कहते हैं । देव दिव् धातु से बना है जिसका अर्थ है क्रीड़ा करना । जो देवगति में जावें वे भी देव हैं, वे इन्द्रिय सुख में क्रीडा करते हैं अतएव वे, संसारी देव हैं और सर्वज्ञदेव करते हैं परम आनन्दस्वरूप में क्रीड़ा, इस कारण उन्हें देवाधिदेव कहते हैं, जो अनन्त चतुष्टयस्वरूप परमात्मतत्त्व में निरन्तर रमते रहें, उन्हें कहते हैं देव । तो ये देव सर्वज्ञदेव ही हो सकते हैं अन्य और कोई जो सर्वज्ञ नहीं हैं वे देव नहीं हो सकते हैं ।

वीतरागता व सर्वज्ञता से ही देवत्व का अभ्युदय—लोक में जिस चाहे को देव मानने की प्रथा चल रही है, किन्तु उनका चरित्र जब सुनते हैं तो वहाँ सर्वज्ञता की सिद्धि नहीं होती । कभी किसी देव पर विपत्ति आयी तो वह दूसरे की शरण में गया, उसने उसे समझाया, तो ऐसी घटनायें जब यहाँ चरित्र में पायी जाती है तो उनसे सिद्ध होता है कि ये स्वयं सबके ज्ञाता न थे तभी ये संकट में आये । एक कथानक यों बताया जाता कि एक देवता की स्त्री पर कोई पुरुष मुग्ध हो गया, उसने आराधना की देवता की, वह प्रसन्न हो गया । प्रसन्न होने पर कहा कि मांगो वरदान क्या मांगते हो ? तो आराधक ने कहा कि हमको यह वर दीजिए कि मैं जिसके सिर पर हाथ रखूं वह भस्म हो जाय । तो देवता ने कहा—अच्छा ऐसा ही हो जायेगा । पुरुष की नियत तो बदली ही थी । उसने सोचा कि हम इन देवता पर ही हाथ रखें तो ये भस्म हो जायेंगे और इनकी स्त्री हमें मिल जायेगी । सो जब वह पुरुष उस पर हाथ रखने चला तो वह डर कर भागा । विष्णु के पास पहुंचा । विष्णु ने उसकी छल बल से रक्षा की । स्वयं उसकी स्त्री का रूप धारण किया और उस भस्मासुर देव के पास पहुंचा । जब भस्मासुर ने उस स्त्री से प्रेम करना चाहा तो उसने कहा—आप मेरे से यों न मिलो, हमारे पति जब क्रीड़ा करते थे तो ताण्डव नृत्य करते थे । उस नृत्य में एक हाथ कमर पर और एक हाथ सिर पर रखा करते थे, आप भी ऐसा ही कीजिए तब हमसे मिलिये । जब भस्मासुर ने एक हाथ कमर पर और एक सिर पर रखकर तांडव नृत्य किया तो वह स्वयं भस्म हो गया । तो इस तरह छल बल करना, इस तरह के दंदफंद में पड़ना यह कोई भगवान का काम है क्या ? जो सर्वज्ञ होगा वह अपने परम आनन्द स्वरूप में क्रीड़ा कर सकता है ।

देवस्मरण में कृतज्ञता की सिद्धि—जो पुरुष जानता देखता है, समस्त लोकालोक को प्रत्यक्ष एक साथ वही धर्म का मूल है, धर्म की मूर्ति है और धर्म का फल है । यहाँ कोई यह आशंका न करे कि साधुजनों में जो श्रुतकेवली होता है वह भी समस्त काल और लोकालोक को जानता है । तो वह सर्वज्ञ हो जायगा क्या ? ये आशंकायें न करना चाहिए कि सबको जानते के उपाय दो हैं—एक तो श्रुतज्ञान (परोक्ष ज्ञान) और एक केवलज्ञान । केवल ज्ञान ने समस्त लोक और अलोक को जान लिया और श्रुतज्ञान भी जान लेता है, मगर श्रुतज्ञान जानता है परोक्षरूप से, एक-एक पदार्थ को न्यारा करके नहीं । जैसे कोई बड़ा श्रुतज्ञानी हो गया तो वह यों कहेगा कि ३४३ घनराजू लोक है और इससे बाहर अनन्त अलोक है । परोक्षरूप से कहा गया, ऐसा स्पष्ट जानता तो नहीं है कि यह जगह यह है, यह जगह यह है, जैसे आंखों से कुछ न देख लेते हैं इस तरह तो नहीं जानते, मगर केवली भगवान समस्त लोकालोक को स्पष्ट जानते हैं । तो प्रत्यक्ष और परोक्ष में बड़ा अन्तर है । जो प्रत्यक्ष रूप से समस्त लोकालोक को जान ले वह है सर्वज्ञदेव । तो यों सर्वज्ञदेव के प्रसाद से मिला धर्म का स्वरूप सो धर्म के फल को साक्षात् समझने के लिए जो कृतज्ञता जगी, जिनके प्रताप से हमें धर्म का मार्ग मिला है उनका स्मरण करना ही चाहिए । इस कृतज्ञता के कारण इस गाथा में सर्वज्ञदेव का स्वरूप

बताते हुए भाव नमस्कार किया है ।

गाथा — ३०३

जदि ण हवदि सव्वण्हू ता को जाणदि अदिंदियं अत्थं ।
इंदिय-णाणं ण मुणदि थूलं पि असेस-पज्जायं ।।३०३।।

सर्वज्ञ के अस्तित्व की जिज्ञासा—कोई दार्शनिक ऐसे हैं जो सर्वज्ञ को नहीं मानते । उन दार्शनिकों के प्रति कहा जा रहा है कि यदि सर्वज्ञदेव न हों तो अतीन्द्रिय पदार्थ को कौन जानेगा ? इन्द्रिय ज्ञान तो समस्त पर्याययुक्त स्थूल पदार्थ को भी नहीं जान सकता । इन्द्रिय से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अतीन्द्रिय पदार्थ को जानेगा किस तरह ? इससे यह स्वीकार करना चाहिए कि कोई सर्वज्ञ होता है जो कि समस्त अतीन्द्रिय पदार्थों को स्पष्ट जान लेता है । यहाँ कोई दार्शनिक प्रश्न कर रहा है ? जो सर्वज्ञ नहीं मानता । कहता है कि सर्वज्ञ नहीं है यह बात तो स्पष्ट सिद्ध है, क्योंकि सर्वज्ञ पाया नहीं जा रहा, अगर हो तो उसे, हमें आंखों दिखाओ या उसके पास ले चलो । तो सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि उसकी उपलब्धि नहीं पायी जा रही, और किसी भी प्रमाण से सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता, इस कारण सर्वज्ञ की जबरदस्ती सिद्धि करना युक्त नहीं है । दार्शनिकों में जो लोग सर्वज्ञ नहीं मानते उनमें दो ही प्रधान हैं—एक मीमांसक और दूसरे चार्वाक । चार्वाक तो एकदम नास्तिक हैं, वे किसी अमूर्त, अदृश्य पदार्थ को मानते ही नहीं हैं, उनको जो आँखों दिखे उसे ही मानते हैं । मीमांसक भी जीव को तो मानते हैं, पर इतना ही मानते हैं कि वह क्रियाकाण्ड करके, यज्ञ विधान आदिक करके बैकुण्ठ को प्राप्त हो जाय, मगर उस बैकुण्ठ की भी हद होती है । जब समय पूरा हो जाता है तो वहाँ से गिरना पड़ता है, फिर संसार में जन्ममरण करना पड़ता है, इनके सिद्धान्त में केवल एक ही ईश्वर है सदामुक्त, सदाशिव जो कि न कभी संसारी था और न कभी संसारी बनेगा । लेकिन संसार की सारी विडम्बनायें कराता रहता है । तो मीमांसक दर्शन में सर्वज्ञ को नहीं माना, उनकी ओर से यह आशंका हो रही है कि सर्वज्ञ तो है ही नहीं, क्योंकि वह दिखता नहीं और प्रत्यक्ष अनुमान आगम आदिक किसी भी प्रमाण से उस सर्वज्ञ की सिद्धि होती नहीं ।

सर्वज्ञत्व की प्रसिद्धि—जो पुरुष सर्वज्ञ नहीं मानते उनके प्रति समाधान में कहा जा रहा है कि यदि सर्वज्ञ नहीं होता तो अतीन्द्रिय पदार्थ जो इन्द्रिय द्वारा अगम्य है ऐसे सूक्ष्म देशकाल के दूरवर्ती पदार्थों को फिर कौन जानेगा ? सूक्ष्म पदार्थ तो परमाणु आदिक हैं, सो मीमांसक परमाणु आदिक को मानते तो हैं, पर यह बतलाओ कि जो चीज किसी के द्वारा जानी नहीं जा सकती वह सत् कैसे हो सकती है ? तो सूक्ष्म परमाणु आदिक और अन्तरित पदार्थ याने जो स्वभाव से बहुत दूर हैं, अंतरित हैं, ऐसे जीव पुण्य पाप आदिक इनको कौन जानेगा ? यदि सर्वज्ञ न हों, मीमांसक मानते तो हैं इसको जीव भी हैं, पुण्य पाप भी हैं, मगर इनके जानने वाले यदि कोई नहीं हैं तो फिर ये क्या हैं ? कुछ भी नहीं । यदि सर्वज्ञ न हो तो जीव पुण्य पाप आदिक को कौन जान सकेगा? इसी प्रकार कुछ पदार्थ होते हैं काल से अंतरित याने बहुत पहिले समय में हुए । जैसे राम रावण आदिक इनकी चर्चा पुराणों में चलती है, मगर बहुत काल पहिले ये हुए हैं । अगर सर्वज्ञ न हो तो इन्हें जाने कौन और किस तरह इनका चरित्र आज तक चला आ सकता था ? कुछ पदार्थ दूरवर्ती होते हैं जैसे मेरूपर्वत, नरक स्वर्ग

आदिक । इन पदार्थों को भी कौन जानेगा यदि सर्वज्ञ न हो ? यदि सर्वज्ञ न होता तो इन पदार्थों की चर्चा आज हो न सकती थी । इससे सिद्ध है कि सर्वज्ञ है, सबका कोई प्रत्यक्ष ज्ञाता है, क्योंकि ये पदार्थ अनुमेय बन रहे हैं । जिस चीज का अनुमान क्रिया जाता हो उस चीज का कोई स्पष्ट जानने वाला भी होता है । जैसे पर्वत में धुआं देख करके, यह अनुमान किया कि इस पर्वत में अग्नि है धुवाँ होने से । तो जब अग्नि अनुमेय बन गयी तो यह भी निश्चित है कि कोई पुरुष उस अग्नि को साक्षात् जानता भी है । जो उस पर्वत पर रहने वाला पुरुष होगा और उसके निकट कोई पहुंचा हुआ होगा वह तो स्पष्ट जान लेता है कि यह अग्नि है । अथवा वही अनुमाता पुरुष निकट जाकर स्पष्ट जान लेगा कि अग्नि है यह तो जो पदार्थ अनुमेय होते हैं उनका कोई न कोई स्पष्ट ज्ञाता होता है । तो जब ये परमाणु जीव पुद्गल, पुण्य पाप, मेरूपर्वत, नरक स्वर्ग आदिक, राम रावण आदिक ये सब ज्ञेय बन रहे हैं तो उनका कोई प्रत्यक्ष ज्ञाता भी है, यों सर्वज्ञ की सिद्धि होती है । इन्द्रियज्ञान तो अपने नियत विषय को जानेगा, इन सूक्ष्म पदार्थों को नहीं जान सकता, और इन्द्रियज्ञान इन स्थूल पदार्थों को जानेगा सो भी स्थूल पदार्थ में जो-जो परिणतियां हैं वे सब परिणतियाँ सत् नहीं जानी जा सकतीं । कुछ एक-दो घंटे बात जानेगी । ये इन्द्रियाँ जिसे जानती हैं उसे भी पूरे तोर से नहीं जान सकतीं । तब फिर इन समस्त पर्यायों सहित इन लोकालोकवर्ती पदार्थों को सर्वज्ञ ही जान सकता है । इस इन्द्रियज्ञान में सामर्थ्य नहीं है कि इन पदार्थों को जान सके । इस प्रकार सर्वज्ञ भगवान का अस्तित्व सिद्ध होता है । अब यह सुनो कि सर्वज्ञदेव ने जो उपदेश किया है वह धर्म क्या है ? उस धर्म को अंगीकार करने से ही जीव का उद्धार हो सकता है ।

गाथा — ३०४

तेणुवइट्ठो धम्मो संगासत्ताण तह असंगाणं ।
पठमो बारह-भेओ दह-भेओ भासिओ विदिओ ।।३०४।।

सर्वज्ञोपदिष्ट द्विविध धर्म—सर्वज्ञदेव ने जो धर्म का उपदेश किया है वह दो प्रकार के पुरुषों के लिए किया गया है । एक तो गृहस्थ दूसरे मुनि । जो संग में रह रहे हैं संगासक्त हैं, परिग्रह रखे बिना जिनका गुजारा नहीं है उनका धर्म बताया है और जो संगरहित हैं ऐसे साधुपुरुषों का धर्म बताया । दो प्रकार के धर्मों का वर्णन किया । इस प्रसंग में यह भी सोच लेना कि दो प्रकार के धर्म चारित्र की अपेक्षा बताये गए है । पर इन दोनों प्रकार के धर्मों का मूल सम्यग्दर्शन है । सम्यक्त्व न हो तो श्रावक के व्रत भी धर्म न कहला सकेंगे और मुनियों के व्रत भी धर्म न कहला सकेंगे । तो सम्यग्दर्शन का कुछ वर्णन आगे आयेगा, उससे पहिले यह बताया जा रहा कि धर्म गृहस्थों का और साधुओं का दो प्रकार से बताया है सर्वज्ञदेव ने । जिसमें गृहस्थों का धर्म तो १२ प्रकार का बताया है और साधुओं का धर्म १० प्रकार का बताया है । १२ भेद हैं —एक अविरत सम्यक्त्व व ११ प्रतिमायें । ऐसे १२ भेदों वाला धर्म तो श्रावक का है । इसका वर्णन इसी प्रकरण में स्पष्टरूप से किया जायेगा । मतलब यह है कि इन बारह पदों में ५ पापों के एकदेश त्याग का निर्देशन है तारतम्यरूप से । यह तो है गृहस्थों का धर्म । चूँकि वे गृहस्थ हैं सो उनका सर्वदेश त्याग नहीं हो सकता । और मुनियों का धर्म है उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव आदिक १० प्रकार के धर्म उनका पालन । यह है मुनियों का धर्म । इस प्रकार धर्म के दो भेदों की

सूचना करके पहिले श्रावक के जो १२ भेद कहे हैं उन १२ भेदों को एक समीचीन पद्धति से बतला रहे हैं ।

गाथा — ३०५

सम्मद्दंसण-सुद्धो रहिओ मज्जाइ-थूल-दोसेहिं ।
वय-धारी सामाइउ पव्व-वई पासुयाहारी ।।३०५।।

गाथा — ३०६

राई-भोयण-बिरओ मेहुण-सारंभ-संग-चत्तों य ।
कज्जाणुमोय-बिरओ उद्दिट्ठहार विरदो य ।।३०६।।

श्रावक के भेदों में प्रथम प्रकार—पहिला प्रकार है सम्यग्दर्शन का शुद्ध होना । २५ दोषों से रहित शुद्ध निर्मल सम्यक्त्व का जगना यह प्रथम धर्म है । यहाँ बारह भेद बताये जा रहे हैं इस तरह कि ११ तो प्रतिमाएं हैं और एक है सम्यक्त्व । तो सम्यक्त्व को पहिले बताया और ११ प्रतिमायें इसके पश्चात् बतला रहे हैं । यों बारह भेद गृहस्थ धर्म कहे जा रहे हैं । सम्यग्दर्शन कहते हैं आत्मा के सहज स्वरूप के दर्शन होने को, अनुभव होने को । मैं वास्तव में क्या हूँ इसका परिचय हो जाना सो ही सम्यक्त्व है । खुद है और खुद वह है । जो अनादि से है, अनन्तकाल तक रहेगा । पदार्थ का स्वरूप पदार्थ से कभी बिछुड़ता नहीं है । जैसे अग्नि का स्वरूप गर्मी है । तो गर्मी कभी बिछुड़ती नहीं है । सदा काल रहती है और गर्मी बदल जाय तो अग्नि भी खतम हो जाय । तो यहाँ तो अग्नि द्रव्य नहीं है किन्तु पर्याय है, अतएव इस तरह कह देते हैं किन्तु पदार्थों में पदार्थों का स्वरूप त्रिकाल भी न्यारा हो नहीं सकता । मेरा स्वरूप वह है जो मेरे सत्त्व के कारण मुझमें पाया जाय । वह स्वरूप है चैतन्यमात्र । उस स्वरूप पर यदि दृष्टि जाय तो जीव की आकुलतायें सब दूर हो जायें । क्या है ? जो मेरा स्वरूप है सो मुझमें रहेगा, सदा रहेगा, जो मेरा स्वरूप नहीं है वह मुझमें अब भी नहीं है, आगे भी न होगा । जितने बाह्यपदार्थ हैं वे सब मेरे स्वरूप से भिन्न हैं, इनका जो बनता हो सो बनें । इनमें जो बात होती हो सो हो । सम्यक्त्व के कारण ज्ञानी के हृदय में इतना बड़ा साहस जगता है कि वह परपरिणति को निरखकर व्याकुल नहीं होता । जो होता हो सो हो, पर की बात है, उससे मेरा क्या सम्बंध है, यह विश्वास सम्यग्दृष्टि के रहता है ।

सम्यक्त्व की अमीरी—अनुपम आनन्द आता है सम्यक्त्व के उदय होने पर, इसको कोई व्यथा ही नहीं रहती, कभी मरण भी हो, इस देह को छोड़कर जा रहा हो, वहाँ पर भी यह बड़ा प्रसन्न रहता है । क्या है ? मोही जीव ही तो मृत्यु के समय में दुःख मानते, कि बड़े कष्ट से इतना धन कमाया, अब इसे छोड़कर जा रहे हैं लेकिन ज्ञानी तो यह जानता है फिर मैंने कुछ नहीं कमाया, मेरा यहाँ कहीं कुछ नहीं है । केवल हमने परिणाम भर किया था, उस परिस्थिति में हमने नाना तरह के भाव बनाये थे, पर उनसे, मेरा सम्बंध कुछ नहीं । मेरा स्वरूप तो केवल चैतन्यमात्र है । जो है मेरे साथ उसके साथ ही मैं जा रहा हूँ । जो मेरा नहीं है वह मेरे साथ अब भी नहीं है, न कभी साथ रहा और न कभी साथ रहेगा । मेरा वास्तविक स्वरूप तो मेरे साथ ही है, मेरे में पर्याय है, अतएव इस तरह कह देते हैं किन्तु रहेगा । इसी निज स्वरूप को हम देख रहे हैं, वही मेरी दुनिया है, वही मेरे परभव की दुनिया है, वही मेरा सर्वस्व है यों जिनकी प्रतीति है उनको दुःख काहे का ? जिसे दुःख से दूर होना हो वह सर्व प्रयत्न करके सम्यक्त्व उत्पन्न करे । सम्यक्त्व के हुए बिना कोई पुरुष अमीर नहीं कहा जा सकता । वे सब गरीब हैं जिनको सन्तोष नहीं है । उनको सहज आनन्द का अनुभव नहीं जग सकता जिनको निरन्तर आकुलता रहती है, आगे अंधकार ही अंधकार बसा है, सत्य स्वरूप समझ में नहीं आता,

वहाँ विह्वलता का क्या ठिकाना ? भले ही कोई करोड़पति हो जाय, फिर भी यदि सम्यक्त्व न हो तो फिर भी वह महा गरीब है । उसे शान्ति सन्तोष का अवसर नहीं मिल सकता । प्रभु का जो आनन्द है उसकी झलक नहीं हो सकती इसलिए वह गरीब है । और कोई कितना ही गरीब हो लौकिक दृष्टि में, उसने यदि अपने आत्मा के स्वरूप का दर्शन कर लिया है तो जान लो कि उसको सारा वैभव तृणवत है । जैसे जीर्ण तृण है उससे कौन मुहब्बत करता है? बल्कि उससे तो सभी लोग उपेक्षा करते हैं । तो इसी तरह जिस ज्ञानी ने यह समझ लिया कि मेरे स्वरूप से बाहर जो कुछ है बाहर ही है, वह मेरे काम में जरा भी आने वाला नहीं है, ऐसी प्रतीति उसके चित्त में बसी है । जिसके बल पर वह अमीर कहलाता है, वास्तविक धनी है ।

श्रावक का प्रथम भेद विशुद्ध सम्यग्दृष्टि—अपने आपके सहज स्वरूप का अनुभव होना, प्रतीति होना सो सम्यग्दर्शन है । वह शुद्ध कब है, कैसे शुद्ध है, जिसमें कोई मूढ़ता नहीं । कोई लोग ऐसा सोचते हैं कि इस पर्वत से गिरकर मरे तो बैकुण्ठ हो जाये, इस नदी में नहावे तो बैकुण्ठ हो जायगा । यह मूढ़ता ही तो है । रागी द्वेषी कुगुरुवों के बाहरी चमत्कार देखकर उनमें आसक्त हो जाते हैं, ये ही सच्चे गुरु हैं, रागीद्वेषी गुरुओं को निरखकर विकल्प करके वहाँ भी भक्ति रहा करती है, तो ज्ञानी जीव मूढ़ताओं से रहित हैं, उसके किसी भी प्रकार का मद उत्पन्न नहीं हो सकता । जाति, कुल, वैभव, प्रतिष्ठा आदिक किसी भी चीज का घमंड नहीं होता । ८ प्रकार के भेद बताये गए हैं । अच्छी जाति में उत्पन्न होने का घमंड, अच्छे कुल का घमंड, ज्ञान का घमंड, पूजा प्रतिष्ठा मिलती हो उसका गर्व शरीर में बल विशेष हो उसका गर्व कुछ ऋद्धि चमत्कार हो उसका गर्व, तपश्चरण का घमंड, शरीर सुन्दर हो उसका घमंड, ये ८ प्रकार के मद सम्यग्दृष्टि पुरुष में नहीं होते, और न वह कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु या उनके सेवकों में अपनी प्रीति करता है । जहाँ शंका आदिक कोई दोष नहीं । यों पच्चीस दोषों से रहित सम्यक्त्व का पालन करे, वह है श्रावक का प्रथम धर्म ।

सम्यग्दृष्टि की निःशङ्कता व निराकांक्षता—सम्यग्दर्शन में शंका आदिक कोई किञ्चित् दोष हो, तो वह सम्यग्दर्शन विशुद्ध नहीं कहलाता है । अपने आपके स्वरूप में कभी संदेह हो जाय, किसी प्रकार का भय हो जाय कि अब मेरी जिन्दगी किस तरह चलेगी, मेरा परलोक कैसे होगा ? शरीरवेदना का क्या परिणाम होगा, अथवा अभी मरण तो न आयेगा आदिक किसी भी प्रकार का भय हो तो वह सम्यक्त्व का दोष है । जिस जीव को सम्यक्त्व हो गया उसको क्या भय ? जिसने सबसे निराले ज्ञानमात्र अपने स्वरूप को निर्णय में ले लिया उसको अब शंका क्यों होगी ? यह मैं स्वरक्षित हूँ क्योंकि सत् हूँ, जो सत् है वह कभी मिटता नहीं और उसमें किसी दूसरे का सम्बन्ध नहीं, ऐसा जिनकी प्रतीति में है उनको क्या शंका ? उसी तरह जिनेन्द्र भगवान् के वचनों में भी कहीं शंका नहीं है । उसने खूब परीक्षा कर ली है । स्याद्वाद की कसौटी पर कसकर कि जो स्वरूप जैन शासन में बताया गया वह प्रमाण सिद्धस्वरूप है । सम्यग्दृष्टि जीव को कभी भोगों की आकांक्षा नहीं रहती। भोग भोगता है, इच्छा होती है, मगर ऐसा कुछ नहीं है कि धर्म करके इच्छा की जाती हो। जैसे जो अतिव्यामोही पुरुष हैं वे पूजा आदिक करके पुत्र चाहेंगे विवाह चाहेंगे, ऐसी वृत्ति सम्यग्दृष्टि की नहीं होती । चूंकि वह गृहस्थी में रह रहा है दुकान में जायेगा, वहाँ सोचेगा कि आप हो, इतना सोचने से सम्यक्त्व नहीं बिगड़ता, किन्तु धन में ही आसक्ति हो जाय, प्रत्येक उपाय से धन की ही इच्छा बनाये तो समझो वहाँ सम्यक्त्व बिगड़ गया ।

सम्यग्दृष्टि की निर्विचिकित्सा—सम्यग्दृष्टि जीव कभी भी अपनी किसी परिस्थिति में घबड़ाहट नहीं लाता कि क्या करूँ, इस प्रकार की वेदना अनुभव में नहीं लाता, क्योंकि वह जानता है कि जो सुख दुःख के प्रसंग आते हैं ये अहेतुक हैं ।

मेरा स्वरूप तो नित्यानित्यात्मक है । यह आत्मा किन तत्त्वों से बना, इसका स्वयं आकार क्या है ? तो आकार है ज्ञान और आनन्द । ज्ञान और आनन्दस्वरूप से रचा हुआ यह मैं आत्मा हूँ । तो मूल में भीतर में मेरे को कोई कष्ट ही नहीं है, आनन्दस्वरूप मेरा है । जब मैं अपने स्वरूप से हटकर बाहर में कुछ निहारता हूँ तो मेरा स्वरूप विकृत हो जाता है । ज्ञानी को किसी क्लेश में म्लानता नहीं होती । अपने आपमें रुचि होने से वह अपने स्वरूप को निहारता है । इसके फल में बाहर में इतनी समता हो जाती कि उसे सब जीव अपने समान नजर आते हैं, और साधारणतया उन सबकी सेवा तो रहती ही है, पर धर्मात्माओं की सेवा में रहें और धर्मात्माओं को दस्त कय आदिक हो फिर भी रंच भी ग्लानि नहीं करता, क्योंकि धर्म में उसे बड़ा अनुराग है । जैसे यहाँ मातायें अपने बच्चे की टट्टी, नाक आदिक के पोंछने में ग्लानि नहीं होती, क्योंकि उस बच्चे से प्रेम रखती हैं, इसी प्रकार धर्मात्मा पुरुष किसी धर्मात्मा की सेवा करने में कोई ग्लानि नहीं करता ।

सम्यग्दृष्टि का अमूढत्व व उपगूहन—सम्यग्दृष्टि जीव को अपने आपके स्वरूप के बारे में पूर्ण सावधानी रहती है । मूढ़ता उसके अन्दर नहीं है, क्योंकि उसने साक्षात् अनुभव कर लिया अपने स्वरूप को । जैसे जिस पुरुष ने कुछ बात आंखों से देख ली, उसके विरुद्ध वह मानता नहीं है । वह समझता है कि मैंने यह सब अपने आखों देखा । कैसे अन्य बात मान ली जाय ? तो आंखों देखी भी बात झूठ हो सकती है, मगर अपने अनुभव में उतरी हुई बात कभी झूठ नहीं हो सकती । ऐसी भी घटनायें हैं कि आंखों देखी बात भी झूठ निकल आये, मगर अपने हृदय में, अपने अनुभव में जो बात उतर आये, वह झूठ नहीं होती । ज्ञानीपुरुष ने बाह्यपदार्थों की उपेक्षा के बल से, अपना दिल में किसी भी पर को न बसाने के उपाय से अपने आपमें ऐसा परमविश्राम पाया है कि जिससे अपने आपके सहज सत्यस्वरूप का अनुभव हो गया है । तो अब वह उसके विपरीत किसी के बहकावे में आकर अपने स्वरूप की श्रद्धा नहीं छोड़ सकता । ज्ञान जीव तो ऐसा दृढ़ रहता है, पर अज्ञानी व्यामोही जीव अपने आपके स्वरूप की बात भी क्या जाने ? कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु के कुछ थोड़े से चमत्कारों को देखकर वहाँ ही एकदम भक्ति बन जाती है । ज्ञानी पुरुष अपनी उस ज्ञाननिधि को इस तरह गुप्तरूप से निरख-निरखकर तृप्त रहता है, जैसे किसी दरिद्र पुरुष को कहीं निधि मिल जाय तो उसे एकान्त में ले जाकर निरख-निरखकर खुश रहता है । सबके बीच तो रखता नहीं, क्योंकि उसे कोई लूट सकता है, तो वह एकान्त में जाकर अपनी निधि निरखकर तृप्त रहता है । ज्ञानी जीव अपने उस ज्ञान को गुण को उन्नति को लोगों को यों नहीं बताते कि बता देने से फिर गुण हल्के हो जायेंगे, ओछे बन जायेंगे, क्योंकि जब अपने मुख से कह दिया तो यहाँ उन गुणों का बोझ न रह सकेगा । तो ज्ञानी पुरुष उस ज्ञाननिधि को या गुणविकास को बाहर नहीं दिखाना चाहता । वह तो अपने उपयोग को अपने आपमें रख करके वहीं तृप्त रहा करता है । जब कि मोही जीव गुण न हों तो भी अपने मुख से गुण बखानते रहते हैं और दूसरों के दोष निरखते रहते हैं । यह, वृत्ति ज्ञानी पुरुष की नहीं होती । उसे तो एक काम पड़ा हुआ है किसी भी प्रकार इन बाह्य उपद्रवों में, शरीरबन्धन से, कर्मबन्धन से, विकल्पबन्धन से मुक्त हो जाऊँ, और अपने आपके स्वरूप में रमकर सन्तुष्ट हो जाऊँ । उसे बाहर की विडम्बनायें नहीं सुहाती ।

सद्दृष्टि का स्थितिकरण, वात्सल्य व प्रभावन—ज्ञानी पुरुष की यही भावना रहती है कि मैं अपने धर्म में ही सदा स्थिर रहूं । चूंकि जहाँ रागद्वेष उठाने पड़ते हैं फिर भी उसका यही प्रयत्न रहता है कि मैं इनसे हटकर अपने आपकी इस ज्ञानानुभूति में ही तृप्त रहूं । और, किसी दूसरे धर्मात्मा को विचलित होते देखता है तो उसे उपदेश देकर या अन्य जिस किसी भी प्रकार हो उसको धर्म में स्थित करता है । अज्ञानी पुरुषों के धर्मात्माओं में वात्सल्य नहीं होता । अज्ञानी को वात्सल्य उनमें होता है जिनमें मोह है । घर के बच्चों पर, स्त्री आदिक पर चाहे सारा धन खर्च हो जाय, चाहे जान भी देनी

पड़े तो सदा तैयार रहते हैं लेकिन धर्म पर या धर्मात्मा पर कोई विपदा आये तो उसमें साथी नहीं बन सकते हैं । उन धर्मात्माजनों पर खर्च करेंगे भी तो थोड़ासा मन बहलावा के ढंग से । ज्ञानी पुरुष धर्मात्माओं के प्रति निष्कपट वात्सल्य रखते हैं । उनका वात्सल्य धर्मात्माजनों से घर के बच्चों से भी अधिक रहता है । वैसे भी आप देखें—घर के बच्चे लोग इसके हित में क्या कारण बन सकते हैं ? और धर्मात्माजन इसके हित में कारण बनते हैं ? इसीलिए धर्मात्मा पुरुषों को निरपेक्ष बन्धु कहा गया है, किन्तु घर के लोग तो खुदगर्ज बन्धु हैं । अर्थात् जिनसे कुछ लाभ हो सकता है उनको तो यह मोही जीव गैर मानता है और जिनसे कुछ लाभ नहीं, जिनके पीछे अपनी सारी जिन्दगी लगा देते हैं, जीवनभर बड़े-बड़े कष्ट सहते हैं, उनको अपना मानते हैं, परधर्म और धर्मात्माओं के प्रसंग में इसको वात्सल्य नहीं उमड़ता । ये अज्ञानियों के दोष हैं । अज्ञानी जन धर्म की प्रभावना को नहीं चाहते । न अपने में धर्म की बड़वारी चाहते हैं न दूसरों में धर्म की बड़वारी चाहते हैं । और प्रभावना करेंगे तो दोषों की । लेकिन ज्ञानी पुरुष सत्यधर्म की प्रभावना करते हैं, उपदेश से, ज्ञान से, आचरण से, सर्वप्रकार से धर्म की प्रसिद्धि करते हैं । तो सम्यग्दर्शन होना यह श्रावक का मूल धर्म है । अन्त: पद्धति में ये १२ भेद बताये जा रहे हैं, उनमें प्रथम भेद सम्यग्दर्शन की शुद्धि होना बताया है ।

द्वितीय श्रावक—श्रावक का दूसरा भेद है पहिली प्रतिमा । ११ प्रतिमायें और उससे पहिले सम्यक्त्व का होना यों बारह भेद श्रावक के बताये गए हैं । उसमें पहिला प्रकार तो बताया जा चुका है । दूसरा है दर्शन प्रतिमा का धारी श्रावक । यह मद्य, मांस, मधु, आदि जो स्थूल दोष हैं उनका त्यागी होता है, ५ उदम्बरफल व अन्य अभक्ष्यों का इनका परिहार किये रहता है, कंदमूल की चीजें नहीं खाता, चमड़े में रखी हुई चीजों को भी नहीं खाता । पहिली प्रतिमाधारी श्रावक भी दार्शनिक है, उसका भोजन भी व्रतियों की तरह शुद्ध होता है, व्रत ग्रहण नहीं किया इतनी ही कमी है । मगर सम्यग्दर्शन के होने पर प्रवृत्ति व्रतियों की भाँति हो जाती है । उससे भी यह परीक्षा हो जाती कि इस मनुष्य का सम्यक्त्व के साथ कितना सम्बन्ध है ? यह मनुष्य की बात कही जा रही है । तिर्यञ्च सम्यग्दृष्टि हो उसमें तो बाह्य आचार में कुछ कमी रह जायेगी, किन्तु मनुष्य सम्यग्दृष्टि हो तो उसकी वृत्ति शुद्ध होगी, क्योंकि उसका इतना विशिष्ट मन है, इतना विशिष्ट सामर्थ्य हैं कि अपनी विशुद्धि को निभा सकता है । तो श्रावक का दूसरा भेद है पहिली प्रतिमा का धारण करना ।

तृतीय श्रावक—तीसरा प्रकार श्रावक है द्वितीय प्रतिमाधारी श्रावक । ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत, ऐसे बारह प्रकार के व्रत होते हैं । मोटी हिंसा का त्याग, याने स्थावर जीवों की हिंसा से बचत गृहस्थों को नहीं होती, उद्यमी, विरोधी हिंसायें भी गृहस्थों से होती हैं, मगर संकल्पी हिंसा का त्याग कर देता है । गृहस्थ लोग पूर्ण सत्य नहीं बोल सकते क्योंकि आरम्भ परिग्रह, व्यापार आदिक के कार्यों में पूर्णतया सचाई पर टिकता नहीं है । तथा व्यापार आदिक कार्यों में सत्य बोले भी तो उसे भी परमार्थत: असत्य कहा गया है, क्योंकि वह आत्मा की बात नहीं है । और भी कई प्रसंग ऐसे होते हैं जिनमें असत्य बोलना पड़ता है, पर गृहस्थों को चाहिए कि स्थूल असत्य का त्याग हो । चोरी का त्याग हो, अणु ब्रह्मचर्य का पालन हो याने अपने स्त्री अथवा पति के सिवाय अन्यत्र सम्बंध न रखना । पाँचवाँ व्रत है परिग्रह का परिमाण करे, इन ५ अणुव्रतों को जो धारण करें वह तृतीय श्रावक कहलाता है। इस अणुव्रत की रक्षा के लिए ३ गुण व्रत धारण करता है। मैं जन्म पर्यन्त इतनी दूर से अधिक न जाऊंगा, इतनी दूर का व्यापार न करूँगा, यों आजन्म मर्यादा का निभाना दिग्व्रत है । उसमें भी दो-दो चार-चार दिन का नियम लेकर और भी इधर उधर आना जाना कम करना देशव्रत हैं । बिना प्रयोजन किए जाने वाले कार्यों को अनर्थदण्ड कहते हैं, जो उनका त्यागी होता है यह व्रत प्रतिमाधारी श्रावक । जैसे तोता, कुत्ता, बिल्ली, कबूतर आदिक पालना, यह भी उसके लिए वर्जित है, कुलीन पुरुषों को ये भी चीजें न पाना

चाहिए । इन तोता, मैना आदिक के पालने से फायदा कुछ नहीं मिलता । इन जीवों को व्यर्थ कष्ट देना है । अगर आजीविका में या धर्म वृद्धि के कार्यों में कुछ फायदा मिलता हो तो बताओ । कुछ फायदा नहीं मिलता । ऐसे व्यर्थ के कार्य ज्ञानी पुरुष नहीं करते । उसी के साथ-साथ और भी अनेक बातें हैं । जैसे—बिना प्रयोजन बहुतसा जल बखेरना, बिना प्रयोजन पेड़ों की टहनियाँ तोड़ना आदि । ऐसी अनर्थ की बातें ज्ञानी पुरुष नहीं किया करते । इन अणुव्रतों की और गुणव्रतों की रक्षा के अभ्यास के लिए चार शिक्षाव्रतों का पालन करना होता है । तीनों समय सामायिक करना । सामायिक में विचार क्या चलता है? वहां तो आत्मतत्त्व के चिन्तन का विचार चलता है। और उसी आत्मतत्त्व का चिंतन बढ़ाने के लिए जाप करना, पाठ करना, बारह भावनायें भाना आदिक जो-जो भी कार्य सामायिक में किए जाते हैं उन सबका लक्ष्य है निर्विकल्प ज्ञानस्वभावमय अपने आत्मतत्त्व का चिंतन बनाना । प्रोषधोपवास करना, याने ७ दिन में एक दिन ऐसा अभ्यास रखना है कि जहाँ खाने तक का विकल्प न करें और धर्मध्यान में बहुतसा समय गुजारे । यह श्रावक भोगोपभोग का परिमाण करता है, खाने पीने की आराम की चीजों का नियम कर लेना, मैं इतनी ही चीज खाऊंगा, इतने ही आराम के साधन रखूँगा यों भोगोपभोगपरिमाण होता है । अतिथि सम्विभाग व्रत—मुनि, क्षुल्लक, ऐलक आदिक पात्रों को भोजन कराकर फिर भोजन करना, ऐसी मन में धारणा कर लेना कि मैं जो अतिथि को भोजन देकर खुद भोजन करूँगा यदि कदाचित अतिथि न मिले तो भी उसकी भावना कर लेना यह है श्रावक का अतिथि सम्विभाग व्रत । तृतीय प्रकार के श्रावक का यह द्वादश व्रत का नियम हो जाता है ।

चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ, सप्तम, अष्टम, नवम श्रावक—सामायिक प्रतिमा का पालक चौथा श्रावक है । निरतिचार सामायिक करने का व्रत होता है इस चतुर्थ प्रतिमाधारी श्रावक का प्रोषधोपवास अष्टमी और चतुदर्शी का उपवास करना यह है पंचम श्रावक का व्रत । छठा है ५ वीं प्रतिमाधारी श्रावक । जहाँ सचित जल, फल, धान्य आदिक का त्याग हो जाता है । उसमें दया का विशेष संचार हो जाता है । देखिये—यद्यपि परिस्थितिवश यह श्रावक जल गर्म करेगा फिर भी उसके अन्दर दया की इतनी विशेषता है कि उसके अन्दर पाये जाने वाले जीवों के प्रति वह दया का भाव रखता है । वह सचित्त को अचित्त इसलिए करता है कि उसकी म्याद बढ़ जाय और कामोत्तेजकता न रहे तो वह इतना दयालु हो गया है कि वह सदोष चीज को जिसमें एकेन्द्रिय का भी घात है उसे भक्षण नहीं कर सकता । ७ वाँ श्रावक है छठी प्रतिमाधारी श्रावक । वह रात्रि में किसी भी प्रकार का न भोजन करता है, न कराता है, न करने की अनुमोदना करता है । और वह दिन पूर्ण ब्रह्मचर्य रखता है, ८ वाँ श्रावक है सप्तम प्रतिमाधारी । इस सप्तम प्रतिमा में पूर्ण ब्रह्मचर्य का नियम रहता है । मैथुन का पूर्णरूपेण नव कोटि से त्याग होता है । ९ वाँ श्रावक है अष्टम प्रतिमाधारी । वह आरम्भ का त्यागी होता है । घर में किए जाने वाले आरम्भ परिग्रह व्यापार आदि के कार्यों को त्याग देता है । हाँ यदि वह सर्विस किए हुए हो तो वह पेन्सन लेता रहेगा, किन्तु नई कमाई कुछ न करेगा । यदि पहले का कमाया हुआ धन न रहे, पेन्सन भी न मिले तो उसे कहीं ऐसा भाव नहीं होता है कि वह फिर कमाई का कार्य कर सके । वह तो आगे प्रतिमा में बढ़ जायेगा, क्षुल्लक अथवा ऐलक हो जायेगा है । यह है ९ वाँ श्रावक ।

दसवां, ग्यारहवां व बारहवां श्रावक—दसवां श्रावक है ९ वां प्रतिमाधारी । जहाँ पर आवश्यक वस्त्र के अलावा समस्त परिग्रहों का त्याग हो गया वह है परिग्रहत्यागप्रतिमाधारी । यह घर द्वार, धन, धान्य आदिक सब कुछ त्याग देता है । बच्चे लोग अगर कहें कि अब तो तुम्हारा यहाँ कुछ नहीं रहा । तुम यहाँ से जावो तो वह यह न कहेगा कि हम नहीं जाते यह तो मेरा घर है । वह तो उठकर वहाँ से चला जायेगा । तो परिग्रह के त्याग की बात क्यों जरूरी है किसी कल्याणार्थी को

कि जितनी बाधा आ रही है आत्म उन्नति में वह परिग्रह के संग से आ रही है, और परिग्रह का प्रसंग एक तो होता है आवश्यक प्रसंग में और एक होता है अनावश्यक प्रसंग में । तो आज लोग अनावश्यक धनसंचय के प्रसंग में लग गए, और क्यों लगे ? पर्यायबुद्धि से । देह को माना कि यह मैं हूँ । ये लोग समझ जायें कि यह भी एक खास आदमी हैं । कितना अज्ञान अंधेरे में बढ़ गए । जिसके पास जितना धन है वह आवश्यकता से कई गुना अधिक मिला है लेकिन संतोष नहीं होता । और, कल्पना करलो कि आज जितना धन है उससे चौथाई ही धन होता तो क्या जीवित न रहते ? जीवित रहने के लिए कितना धन आवश्यक है सो सोच लीजिए । अधिक तो है ही, मगर तृष्णा ऐसी लगी हुई है कि जो धन है पास में उसका भी सुख नहीं ले पाते । दुःखी रहते हैं । तो यह ९ वीं प्रतिमाधारी श्रावक समस्त प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर देता है, सिर्फ थोड़े से कपड़े पास में रहते हैं । ११ वाँ श्रावक है दसम प्रतिमाधारी । वह अनुमतित्यागी होता है । ९ वीं प्रतिमा तक तो वह अनुमति भी देता था पर १० वीं प्रतिमा में अनुमति का भी त्याग है । समय पर जो भी बुला ले जाय, भोजन करा दे, पर वह किसी को अनुमति नहीं दे सकता । बारहवां श्रावक है ११ वीं प्रतिमाधारी । जो उद्दष्ट का त्यागी है, वह बिना दी हुई कोई चीज ग्रहण नहीं करता । हां यद्यपि कोई रोज अशुद्ध खाता हो, विधिपूर्वक न खाता हो, और एक दिन भी वह सब घर के लिए शुद्ध भोजन

बनाये तो उसमें से ये क्षुल्लक ऐलक आदि दूसरे को ग्रहण कर लेते हैं और अगर वे समझ जायें कि इसने तो यहाँ सिर्फ मेरे लिए भोजन बनाया है, बाकी सभी लोगों के लिए दूसरी जगह चूल्हा जलेगा, तो ऐसे बने हुए आहार को वें साधुजन नहीं ग्रहण करते हैं । इस तरह श्रावक के बारह भेद हैं । इन बारह प्रकार के श्रावकों का धर्म सर्वज्ञदेव ने बताया है । अब इनमें से जो प्रथम भेद है सम्यग्दर्शन का उस सम्यग्दर्शन के बारे में विशेष विवरण करेंगे । सम्यक्त्व की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, उसका क्या साधन है ? कैसे जीव को सम्यग्दर्शन होता है ? सम्यग्दर्शन के बारे में कुछ विशेष विवरण किया जायेगा, क्योंकि सर्व धर्मों का मूल सम्यक्त्व है । सम्यक्त्व नहीं है तो व्रत, तपश्चरण, संयम आदि बाहर में कल्पना कर ली जाय, किन्तु अन्त: जिस प्रकार से धर्म का लाभ होना चाहिए, कर्मक्षय होना चाहिए वह कुछ भी नहीं वन सकता । अत: अब सम्यग्दर्शन का वर्णन करेंगे ।

गाथा — ३०७

चदुगदि-भव्वो सण्णी सुविसुद्धो जग्गमाण-पज्जत्तो ।
संसार-तडे णियदो णाणी पावेइ सम्मत्तं ।।३०७।।

कल्याणक सम्यक्त्व का निर्देश—इस जीव का कल्याण करने वाला भाव सम्यग्दर्शन है । जीव आकुलता पाते हैं अपने आपके स्वरूप का सही श्रद्धान पाये बिना । जब अपने आपका पता नहीं है कि मैं सबसे निराला स्वत: ज्ञानस्वरूप और आनन्दमय हूँ, मैं अपने आपमें अपना ही परिणमन कर पाता हूँ, किसी अन्य वस्तु से मेरा सम्बंध नहीं है, मैं स्वयं आनन्दमय हूँ । मेरे को बाहर में करने योग्य काम कुछ नहीं है, बल्कि विकल्प भी करना योग्य नहीं है, ऐसी स्थिति में यह आत्मा स्वयं कल्याणस्वरूप है, जब इस तत्त्व का पता नहीं रहता जीव को तो बाहरी मायाजालों में इसका उपयोग फंसा है और यह इसी से दु:खी होता है । जैसे स्वप्न में यह देख रहे हैं कि यह सिंह आया, यह हाथी आया, यह मगर आया, उसने खाया, ऐसी बातें जब स्वप्न में देखते हैं तो कुछ न होने पर भी वह बड़ा दु:खी है, इसी प्रकार मोह में इस जीव का बाहर कुछ न होने पर भी विकल्प के कारण ये दु:खी रहा करते हैं । वह दु:ख मिटे ऐसा उपाय कोई बनाये तो सच्ची बुद्धिमानी इसमें है, इसी को कहते हैं सम्यग्दर्शन । जैसा आत्मा का सहजं सत्य स्वरूप है उस रूप में अपने को मान लेना कि मैं तो यह हूँ । यह है सम्यक् का दर्शन ।

विपरीताभिनिवेशरहित होने से सम्यक्त्व की कल्याणरूपता—देखिये—जितने भी सुखदु:ख हैं वे अपने आपको कुछ मानने के कारण हैं । जैसे घर गृहस्थी में जब लड़के प्रतिकूल चलते हैं, या बड़े खर्चीले हो जाते हैं तो पिता बड़ी हैरानी में पड़ जाता है । तो वह हैरानी में क्यों पड़ता? उसने मान रखा कि मैं इसका पिता हूँ और मुझे यह सब करना है । तो भीतर में जो मैं बाप हूँ ऐसी बुद्धि बनी है उस बुद्धि के कारण, उस तरह की तरंग उठ गयी जिससे कि वह दु:खी रहा करता है । तो हर स्थितियों में आप यही पाइयेगा कि जो कुछ हमें सुख दु:ख होते हैं वे हमारे ज्ञानकल्पना के आधार पर होते हैं । तो जब जीव अपने को इस तरह मानता होगा कि मैं तो निर्विकल्प निस्तरंग ज्ञानमात्र शुद्ध ज्ञानस्वरूप आनन्दमय स्वभाव हूँ, मैं कृतकृत्य हूँ, मुझे बाहर में कुछ करना ही नहीं है । यह जो कुछ किया जा रहा है वह कषायों की प्रेरणा से किया जा रहा है । ये कषायें तो मेरे लिए दु:ख रूप हैं । मैं तो अपने सत्य ज्ञानस्वरूप को लखूंगा । अगर ऐसा सत्य आग्रह कर लिया, तो उसे जगत में फिर क्या क्लेश ? भले ही सभी लोग मानें कि इसकी तो कोई इज्जत नहीं, कोई इसे ज्यादह मानता नहीं, तो इन बातों में क्या रखा ? कोई भी जगत में ऐसा उपाय नहीं है कि सभी लोग मुझे मान सकें,

सभी लोग मुझे अच्छा कह सकें । और, कुछ करने की जरूरत भी क्या है ? सभी लोग प्रतिकूल रहें तो मेरा क्या बिगाड़ है और सभी लोग अनुकूल बन जायें तो वे मेरा क्या सुधार कर देंगे ? मेरा सुख दुःख, मेरी शान्ति अशान्ति तो मेरे ज्ञानभाव की परिणति पर निर्भर है । तो इन सब बातों से उपेक्षा करके एक इस प्रकाश में प्रयत्न करना चाहिए कि मैं अपने का जैसा ज्ञानानंदस्वरूप हूँ, अनुभव कर लूं । इसी को कहते हैं सम्यग्दर्शन । तो सम्यग्दर्शन को कौन जीव प्राप्त करता है, इसका वर्णन इस गाथा में किया जा रहा है ।

नरकगति व तिर्यञ्चगति में सम्यक्त्व की पात्रता—सम्यक्त्व को चारों गति के भव्यजीव उत्पन्न कर सकते हैं, नारकी भी सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकते, जो घोर दुःख में पड़े हुए हैं, जिनकी बड़ी तीव्र वेदनायें हैं, उनमें रहने वाले नारकी भी सम्यग्दर्शन उत्पन्न कर लेते हैं । भला बतलाओ कि बाहर में तो दुःख भोग रहा है और भीतर में सम्यक्त्व की वासना प्रतीति होने से अन्तरङ्ग में तृप्त रहता है । कैसी कला है कि इतने कठिन । शारीरिक क्लेश और भीतर में इतना अद्भुत आनन्द उन नारकियों में कि जिस आनन्द को मिथ्यादृष्टि चक्री भी नहीं पा सकता है । तो सम्यक्त्व की बहुत बड़ी महिमा है । सम्यक्त्व को नारकी जीव भी उत्पन्न कर सकते हैं, पशु पक्षी भी उत्पन्न कर सकते हैं । जो बोल नहीं सकते, जो दूसरों को अपने भाव नहीं बता सकते, जो दूसरों की भाषा भी नहीं समझ सकते, यदि कोई साधु उपदेश दे रहा हो उन पशु पक्षियों को तो साधु की मुद्रा, आकार प्रकार को देखकर वे सब समझ जाते हैं, मगर उन भाषाओं को न समझ सकेंगे । फिर भी उन पशुपक्षियों में इतनी विशेष योग्यता हो सकती है कि वे सम्यक्त्व उत्पन्न कर लें । जिस समय श्रीरामचन्द्रजी ने वन में आहार दिया था मुनिराज को और जटायु ने अनुमोदना की थी, उसकी उस अनुमोदना से ही उस जटायु का जीवन सफल हो गया था । अनेक दृष्टान्त ऐसे आते हैं कि जहाँ पशु पक्षियों को सम्यक्त्व उत्पन्न हो गया । वह हाथी जो भरत के जमाने में था उसे अपने कोई संस्कार से बोध उत्पन्न हुआ तो सर्व प्रकार के भोजन का परित्याग कर दिया था, और एक शुद्ध आत्मतत्त्व के स्मरण में उसने अपना उपयोग लगाया था । उसने समाधिकरण किया । ऐसे अनेक दृष्टान्त मिलते हैं कि बंदर, नेवला, सूकर, सर्प आदिक बहुत से पञ्चेन्द्रिय जीव सम्यक्त्व उत्पन्न कर लेते हैं । तो ऐसा अनुपम सम्यग्दर्शन कि जिससे संसार के समस्त दुःख टल जाते हैं ऐसे सम्यग्दर्शन को तिर्यञ्च भी प्राप्त कर सकते हैं ।

मनुष्यगति व देवगति में सम्यक्त्व की पात्रता—अब मनुष्यों की बात देख लो, इनके लिए तो सम्यक्त्व प्राप्त कर लेना बड़ी आसान चीज होना चाहिये । सच्चा ज्ञान पाना, अपने आत्मा की सच्ची सुध ग्रहण कर लेना मनुष्यों के लिए कितनी आसान चीज है । उन पशुपक्षियों की अपेक्षा हम आपका कैसा पुण्योदय मिला है, कैसी सुविधायें मिली हैं, पर इन रागद्वेष के साधनों में रहकर यह जीव भूल जाता है । तो मनुष्य पर बड़ी जिम्मेदारी है । इस समय वह ऐसा भी प्रयत्न कर सकता है कि सदा के लिए संसार के संकट समाप्त कर दे । और ऐसा भी प्रयत्न कर सकता है कि संसार में बहुत काल तक रुले, निगोद और एकेन्द्रिय में भी जन्म धारण कर लें । तो यहाँ अपनी बड़ी जिम्मेदारी समझकर विवेकपूर्वक चलने का यहाँ काम है । देवगति के जीव भी सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकते हैं। देवगति के जीव संसारीजीव कहलाते हैं । इनका शरीर दिव्य है, वैक्रियक शरीर है, इन्हें कमाना नहीं पड़ता, किसी प्रकार के असि मसि आदिक कर्म नहीं करने पड़ते । हजारों वर्षों में भूख लगती, कंठ में अमृत झर जाता है, उससे भूख की शान्ति हो जाती है और अनेक पखवारों में श्वांस लेते हैं । श्वांस लेना भी तो एक दुःख का कारण है । कितने पुण्यवान् जीव हैं वे, लेकिन उस पुण्य क्रीड़ा में, देवियों की क्रीड़ा में रमते रहते हैं, वे भी प्रायः सम्यक्त्व नहीं प्राप्त कर पाते । उनमें ऐसी योग्यता अवश्य हैं कि जब वे समवशरण में जाते हैं, रास्ते में किसी साधुसंत का उपदेश मिल जाता है यो देवर्द्धिदर्शन होता है या अन्य योग्य साधन

मिलते हैं तो वे सम्यक्त्व उत्पन्न कर लेते हैं । उनमें योग्यता अवश्य है सम्यक्त्व उत्पन्न करने की और अनेकों देव सम्यक्त्व उत्पन्न कर लेते हैं ।

चातुर्गतिक भव्य संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त, जागृत, जीव के सम्यक्त्व लाभ की पात्रता—सम्यक्त्व चारों गति के जीव उत्पन्न कर सकते हैं, पर वे संज्ञी होने चाहिएँ । तिर्यञ्चों में जो जीव संज्ञी हैं, मन वाले हैं वे ही सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं, संज्ञी के साथ-साथ विशुद्ध परिणाम वाला भी होना चाहिए । तीव्र कषाय में खोटी लेश्या में सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता और वह जागृत होना चाहिए । स्वप्न में भी सम्यक्त्व है लेकिन एक बात समझ लेना चाहिए कि भले ही सोते हुए में सम्यग्दर्शन उत्पन्न न हो मगर जिस जीव को सम्यग्दर्शन हो गया है वह सोते हुए में भी स्व का अनुभव कर सकता है । इतनी बड़ी महिमा है उस अनुभव की । जैसे किसी को स्वप्न में बाहरी पदार्थ दिखते हैं ऐसे ही ज्ञानी पुरुष स्वप्न में आत्मस्वरूप को तकता है । सोते हुए में सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता, तो जागृत अवस्था में ही सम्यग्दर्शन हो सकता है । जो पर्याप्त हो उसी के ही सम्यग्दर्शन हो सकता । जीव दो प्रकार के होते हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त । जो अपर्याप्त हैं वे पैदा होकर तुरन्त मर जाते हैं, उनका शरीर भी पूर्ण नहीं बन पाता और मरण कर जाते हैं, याने उत्पन्न होते हैं दो एक सेकेण्ड में मर जायें ऐसे अपर्याप्त जीव सम्यग्दर्शन को उत्पन्न नहीं कर सकते । जो पर्याप्त होगा वही सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करेगा । अब अपनी बात सोच लीजिए कि हम सैनी हैं, विशुद्ध परिणाम वाले भी हैं, जागृत अवस्था है पर्याप्त हैं, फिर क्यों न ऐसा उद्यम, करें कि सम्यक्त्व उत्पन्न कर लें । ये रागद्वेष के समागम प्राप्त होते हैं, मोह ममता के भाव बहुत जागृत होते हैं, पर ये मेरे आत्मा के मित्र नहीं, हितकारी नहीं, किन्तु अनिष्ट के ही कारण बन रहे हैं । जिनसे भी प्रीति जोड़ रहे हों वे हमारे अनर्थ के ही कारण बनेंगे, हित के नहीं । लेकिन ये मोही जीव जिन जिनमें मोह होता उनमें ही आसक्त रहते हैं । उनसे पृथक् अपने को अनुभव नहीं कर सकते । तो ऐसा जीव सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है ।

निकटसंसारी के सम्यक्त्व का लाभ—एक बात और साथ में समझना चाहिए कि जिनका संसार तट निकट आया है वे सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करते हैं । संसार कबसे चला है ? इसकी कोई आदि नहीं है, इसी कारण बताया है कि यह संसार अनादिकाल से चला आया, कितने ही जन्म मरण किए पर जिनका अन्त नहीं । तो ऐसे अनादि अनन्त जन्म मरण करते हुए यदि आज एक ऐसा मनुष्यभव मिला है कि जहाँ हम अपने आत्मा

की सावधानी बना सकते हैं तो इसका सदुपयोग क्यों नहीं कर लिया जाता ? जब जैनशासन मिला, इतना पवित्र धर्म प्राप्त हुआ, कुलीन हुए, फिर भी अपने हित की बात न बनायी जा सकती हो तो यह कितनी खेद की बात है ? इसको बताया है कि जीव ने अनन्त पुद्गल परिवर्तन किये । एक पुद्गल परिवर्तन का बहुत लम्बा काल होता है । एक पुद्गल परिवर्तन का यह अर्थ समझिये कि जैसे किसी जीव ने कोई परमाणु ग्रहण किया शरीररूप अथवा कर्मरूप । अब वह परमाणु नवीन है, दूसरे समय में फिर ग्रहण किया तो नया ही ग्रहण करे, तीसरे समय में फिर ग्रहण करे तो नया ही ग्रहण करे । ऐसे अनन्त बार नवीन-नवीन परमाणु ग्रहण हो जायें तब एक बार ग्रहण किया हुआ भी ग्रहण कर ले, फिर अनन्त बार अग्रहीत ग्रहण हो जाय, तब एक बार फिर ग्रहीत को ग्रहण करे, इस तरह होते-होते जब अनन्त बार अग्रहीत ग्रहण हो जाय तो एक मिश्र को ग्रहण करे याने इसमें अनगिनते वर्ष हो जाते हैं । कितने अनन्त कि जो अवधिज्ञान के विषय से परे हैं । यों अनन्त बार मिश्र ग्रहण कर ले यों सभी पूर्ण हो जाय इतने अनगिनते वर्षों का नाम है अर्द्धपुद्गल परिवर्तन । तो जब अर्द्धपुद्गल परिवर्तन काल शेष रहता है संसार में रहने का तब वहाँ सम्यग्दर्शन की पात्रता होती है । इतनी सब बातें प्राप्त हों तो जीव को सम्यग्दर्शन होता है ।

सम्यग्दर्शन का अर्थ—सम्यग्दर्शन का प्राय: सभी जगह वर्णन है, और अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार किसी न किसी रूप में किया गया है । मगर यह शब्द स्वयं अपना सही स्वरूप बता देता है । सम्यग्दर्शन में सम्यक् शब्द पड़ा है, सम्यक् मायने जो अच्छा है । अच्छा कौन है ? जो निरपेक्ष हो और किसी के साथ न फंसा हो, जो किसी के साथ न मिला हो, प्योर हो, केवल हो, उसका दर्शन हो वही सम्यग्दर्शन कहलाता है । जब चौकी पर कूड़ा पड़ जाता है तो उसे कहते हैं कि यह मलिन हो गया । अब उसकी मलिनता दूर करने के लिए यह उपाय करते हैं कि कूड़ा बिल्कुल हट जाय, केवल चौकी रह जाय, तो केवल रह जाने का नाम ही, सम्यक्पना कहलाता है । तो में आत्मा केवल क्या हूँ । खाली मैं ही मैं क्या हूँ, इस प्रकार के कैवल्य का दर्शन करने का नाम है सम्यग्दर्शन । तो जिस काल में सम्यक्दर्शन होता है, बाहरी पदार्थों की उलझी दृष्टि सब खतम हो जाती है, केवल अपने स्वरूप का उपयोग रहता है, उस समय इसको जो आनन्द प्राप्त होता है, या इसकी जो अपनी अलौकिक स्थिति होती है उसकी तुलना में तीन लोक का वैभव भी न कुछ चीज हैं । यह तीन लोक का वैभव आखिर डेला पत्थर ही तो है, बाह्यपदार्थ ही तो है । उससे मेरे आत्मा का कौनसा आनन्द आ जायगा ? तो समस्त तीन लोक के वैभव भी मिलकर या भूत भविष्य के समस्त संसारी जीव जितना सुख भोगते हैं वे सारे सुख भी उस तुलना को प्राप्त नहीं कर सकते । ऐसा वह सम्यग्दर्शन कैसे प्रकट होता है, किस प्रकार का प्रकट होता है, इसका वर्णन करते हैं ।

गाथा — ३०८

सत्तण्हं पयडीणं उवसमदो होदि उवसमं सम्मं ।
खयदो य होदि खइयं केवलि-मूले मणूसस्स ।।३०८।।

जीव के साथ कर्मों का बन्धन—जीव के साथ अनेक कर्म प्रकृतियां लगी हुई हैं और ये प्रकृत्या लग गयी हैं और उन कर्मों की स्थितियां भी होती हैं । यदि इस मुझ जीव के साथ कोई मुझसे विपरीत विजातीय चीज न लगी हो तो हम नाना तरह के विषम परिणमन नहीं कर सकतें जैसे पानी अपने आप स्वभाव से शीतल है, पर उसके गरम किए जाने पर थोड़ा गरम, अधिक गरम, उससे भी अधिक, ये जो विषमतायें हैं वे यह सिद्ध करती हैं कि इसके साथ कोई गर्म चीज,

इसके स्वभाव के विरुद्ध चीज लगी हुई है, इसी तरह जीव में क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक की नाना परिणतियां दिखती हैं और वे कषायें भी अपनी सीमा में नाना प्रकार के भेद वाली हैं ।

इतनी विचित्र परिणतियां जो जीव में चलती हैं उनसे ही यह सिद्ध है कि इस जीव के साथ कोई विजातीय चीज लगी है तब इसके नाना परिणमन हो रहे हैं । विजातीय चीज भी बहुत सूक्ष्म होना चाहिए क्योंकि जीव अमूर्त है, इस अमूर्त के साथ जो भी विजातीय का बन्धन होगा वह सूक्ष्म बन्धन होगा, ऐसा सूक्ष्म किन्तु मूर्तिक कोई विजातीय परपदार्थ लगा है जिसको कर्म नाम से कहते हैं । कर्म की बात सभी लोग स्वीकार करते हैं कि जीव के साथ कर्म लगे हैं । जैसे कर्म हैं वैसे सुख दुःख भोगने पड़ते हैं, मगर वे कर्म क्या चीज हैं इसका स्पष्ट अर्थ जैनशासन में मिलता है । कर्म एक सूक्ष्म वर्गणायें हैं, और वे इतनी सूक्ष्म हैं कि पहाड़, बज्र आदिक से नहीं टकरा सकते, पर वे हैं मूर्तिक । वे ऐसी ही जाति के हैं और वे जीव के साथ संसार अवस्था में सदा रहते हैं । जब जीव कषाय करता है, विकल्प करता है तो ये ही कर्मवर्गणायें कर्मरूप बन जाती हैं । और, जब वे कर्मरूप बने तो उसी समय उनमें वह सब व्यवहार हो जाता है कि इतने दिनों तक जीव में रहेंगे और इस तरह-तरह से बनेंगे और उनके उदय के समय जीव स्वयं ऐसा फल प्राप्त किया करेगा । ये सब व्यवस्थायें तुरन्त बन जाती हैं ।

१४८ कर्मप्रकृतियों में सम्यक्त्वघातक सात प्रकृतियाँ—कर्मप्रकृतियाँ १४८ हैं । जिनका भिन्न-भिन्न काम है । कुछ कर्मप्रकृतियों के उदय से शरीर में रचनायें होती है । कुछ कर्मप्रकृतियों के उदय से ज्ञान का आवरण होता है । तो जैसे-जैसे वह आवरण हटता है वैसे-वैसे इसका ज्ञान बढ़ता है । कुछ कर्मप्रकृतियों के कारण इस जीव को शरीर में रुके रहना पड़ता है । कुछ प्रकृतियों के उदय से जीव ऊँच नीच कुल में उत्पन्न होते हैं, कुछ प्रकृतियों के उदय से सांसारिक सुख दुःख हुआ करते हैं, यह बेसुध हो जाय, उल्टा चले, खोटे मार्ग में चले, ये सब बातें इन कर्मप्रकृतियों के उदय में हुआ करती हैं । तो उन १४८ प्रकृतियों में से ७ प्रकृतियाँ ऐसी हैं कि जो जीव के सम्यग्दर्शन को नहीं होने देतीं । उनका नाम है अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति । अनन्तानुबंधी कषाय उसे कहते हैं जों बहुत काल तक जीव के साथ संस्कार बनाये रखे । जैसे—ऐसा क्रोध जग जाय कि मैं तो इससे बदला लेकर ही रहूंगा, चाहे जितना समय लग जाय । यहाँ तक कि वह क्रोध का संस्कार दूसरे भव में भी जाय, उसे कहते हैं अनन्तानुबंधी क्रोध । सर्पों के बारे में यह बात प्रसिद्ध है कि कोई मनुष्य यदि सर्प को छेड़ दे तो वह ऐसा क्रोध का संस्कार बना लेता है कि १२ वर्ष तक भी उस पुरुष को ढूंढ़कर वह डसता है । तो देखिये—तिर्यञ्चों में भी ऐसा अनन्तानुबंधी क्रोध होता है । इनमें भी समझ है, इनमें भी कषाय की तीव्रता है । इटावा की एक घटना है कि किसी ने कुछ लड्डू लाकर हाथी के महावत को दिया और कह दिया कि लो ये लड्डू, इस हाथी को खिला देना । सो उस महावत ने हाथी को न खिलाकर स्वयं ही, खा डाले व रख लिये, तो उस हाथी को इतना क्रोध आया कि अपनी सूंड़ में महावत को लपेटकर भींतों में पटक-पटक कर मार डाला । तो इन तिर्यञ्चों में भी ये तीव्र कषायें चलती हैं । जो क्रोध ऐसा हो कि भविष्य में भी अपना संस्कार बनाये ऐसे क्रोध को कहते हैं—अनन्तानुबंधी क्रोध । इसी प्रकार अनन्तानुबंधी मान, माया, लोभ आदि कषायें भी होती हैं । कहो ऐसी मान कषाय जग जाय कि जिसका संस्कार अगले भव में भी जाय, कहो ऐसी मायाचारी की जाय कि जिसका संस्कार बहुत काल तक चले, अथवा कहो इस तरह का लोभमयी (लालचमयी) संस्कार बन जाय कि जो संस्कार बहुत काल तक चले, ये सब अनन्तानुबंधी कषायें हैं । इन कषायों में रहते संते इस जीव को अपने आत्मा की सुध नहीं हो सकती । इसी प्रकार मिथ्यात्व—जो विपरीत परिणाम करा दे,

सम्यक्मिथ्यात्व, जो मिथ्या, सम्यक् (मिलवा) परिणाम करा दे, और सम्यक् प्रकृति—जो सम्यग्दर्शन का दूषण बना दे, ऐसी हैं ये तीन प्रकृतियाँ । यों सात प्रकृतियाँ सम्यक्त्व का घात करती हैं । इन ७ प्रकृतियों के उपशम से उपशम सम्यक्त्व होता है, मायने ७ प्रकृतियाँ दब गई, थोड़ी देर को सम्यग्दर्शन हो गया । प्रकृतियाँ उखड़ेगी तो सम्यग्दर्शन मिट जायगा । ७ प्रकृतियों से क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है । ये ७ प्रकृतियाँ न रहें तो शुद्ध सम्यग्दर्शन सदा रहेगा । इस सम्यक्त्व की चर्चा अब आगे चलेगी ।

उपशमसम्यक्त्व का लाभ—यह जीव अनादिकाल से कर्मबन्धन से बंधा हुआ है । तो कर्म के उदय से इस जीव की कलुषतायें अनादि से चली आ रही हैं, ऐसी स्थिति में इन ७ प्रकृतियों का उपशम कैसे हो सकता है ? इसके उत्तर में काललब्धि आदिक कारण को ही बताया जा सकता है । प्रथम तो जब जीव का संसार कुछ कम अर्द्धपुद्गल परिवर्तन काल शेष रहता है तब सम्यक्त्व की पात्रता होती है । यह एक काललब्धि है और अगर अर्द्धपुद्गल परिवर्तन से अधिक काल है, जीव का संसार में रहने का तो उसके प्रथमोपशम सम्यक्त्व नहीं बन सकता है । दूसरी काललब्धि यह है कि जब कर्मों में उत्कृष्ट स्थिति होती है या जघन्य स्थिति होती है तब औपशमिक सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता । उत्कृष्ट स्थिति में तो योग्यता नहीं । जघन्य स्थिति बहुत ऊँचे साधुजनों के होती, वहाँ औपशमिक की बात ही क्या है ? तो औपशमिक सम्यक्त्व कब होता है कि जब अंत: कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण स्थिति के कर्म बँधते हैं तब वहाँ प्रथमोपशम सम्यक्त्व होने की योग्यता है ।

एक सागर बहुत बड़ा काल है और उसका प्रमाण उपमा से जाना जाता है । एक दो हजार कोश का लम्बा चौड़ा गड्ढा हो और उसमें कोमल रोम के छोटे-छोटे टुकड़े, जिनका कि दूसरा टुकड़ा न हो सके, भर दिए जाये, और उसमें ऊपर से हाथी फिरा दिये जाये जिससे कि वे सभी रोम दब जायें । फिर प्रत्येक १०० वर्ष में एक रोम निकाला जाय । तो सारे रोम निकालने में जितना समय लगे उसका नाम है व्यवहारपल्य । उससे असंख्यात गुना होता है उद्धारपल्य, उससे असंख्यात गुना होता है अद्धापल्य और एक करोड़ अद्धापल्य में एक करोड़ अद्धापल्य का गुणा करने से जो समय आयेगा उसका नाम है एक कोड़ाकोड़ी अद्धापल्य, ऐसे १० कोड़ाकोड़ी अद्धापल्य का नाम है एक सागर ऐसे एक कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति बँधे तब जीव में सम्यक्त्व उत्पन्न होने की योग्यता होती है । फिर वहाँ प्रायोग्यलब्धि बने, फिर और कम स्थिति बंधे, ऐसे जब ३४ बंधापसरण हो जाते हैं तब वहां करणलब्धि प्राप्त होती है और उपशमसम्यक्त्व की योग्यता बनती है । करणलब्धि

के मायने इतने ऊंचे परिणाम कि जो कभी नहीं हुए और एक विशिष्ट काल के लिए हो रहे हैं अध:करण, अपूर्वकरण, अनवृत्तिकरण । तो अध:करण का जब अंतिम समय आता है तो चारों गतियों के कोई भी जीव अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक् मिथ्यात्व, इन ७ प्रकृतियों का उपशम करके प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है ।

औपशमिक सम्यक्त्व व क्षायिक सम्यक्त्व का निर्देश—सम्यक्त्व की उत्पत्ति में निमित्त कारण तो होता है कर्म का उपशम आदि और बाह्य कारण होते हैं अनेक, जैसे जिनबिम्ब का दर्शन, साधुवों का सत्संग, वेदना का अनुभव आदि । ऐसे बाह्य कारण मिले और अन्तरङ्ग कारण सम्यक्त्वघात सात प्रकृतियों का उपशम प्राप्त हो तो उपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है, क्षय हो तो क्षायिक सम्यक्त्व व क्षयोपशम हो तो क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है, उपशम सम्यक्त्व में ये कर्म बिल्कुल दब जाते हैं। तो यों समझिये कि जैसे तैल में नीचे गंदगी बैठ जाय तो तैल ऊपर से पूरा निर्मल होता है लेकिन उसकी गंदगी शीशी में नीचे बैठ जाती है । अगर उस शीशी को हिला दिया जायें तो वह सारा तैल उस कीचड़ से फिर मलिन बन जाता है, इसी प्रकार जीव की ये ७ कर्मप्रकृतियां दबी हैं तो उस समय सम्यग्दर्शन है, निर्मल है, लेकिन वे उखड़ जायें तो सम्यक्त्व मलिन ही नहीं बल्कि मिट भी जायेगा। लेकिन क्षायिक सम्यक्त्व में ७ प्रकृतियों का क्षय होता है, अत: यह सम्यक्त्व कभी नहीं मिटता है । जैसे शीशी में तैल की गंदगी नीचे बैठी हे तो तैल का साफ भाग निकालकर दूसरी शीशी में रख लिया जाय तो फिर उस साफ तैल के गंदा होने की सम्भावना नहीं है, इसी प्रकार जहाँ कर्म हैं ही नहीं उनका क्षय हो गया तो उनका क्षायिक सम्यग्दर्शन सदा के लिए निर्मल रहता है और क्षयोपशम सम्यक्त्व में होता यही है कि उन ७ प्रकृतियों में से कुछ प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय है । कुछ का उपशम है और कुछ का उदय है, तो ऐसी स्थिति में वह क्षयोपशम सम्यक्त्व कुछ मलिन रहता है, मगर सम्यक्त्व है । जैसे वही शीशी में रखा हुआ तैल थोड़ासा हिलाने पर कुछ मलिन रहता है, कुछ निर्मल भी रहता है इसी प्रकार क्षयोपशम सम्यक्त्व भी कुछ मलिन रहता है । सम्यक्त्व ३ प्रकार के होते हैं । इस सम्यक्त्व के समय में जब कि वह उत्पन्न होता है, प्रतिसमय गुण श्रेणी निर्जरा होती है, कर्म कई गुना खिरते रहते हैं और वहाँ इतने कर्म खिर जाते हैं कि अनन्त संसार नहीं रहता । उन खिरने वाले कर्मों के प्रमाण की बात देखी जाय तो इतने कर्म खिरेंगे कि आगे खिरने के लिए थोड़े से कर्म शेष रह जाते हैं । इस मनुष्य में तीन प्रकार के सम्यक्त्व प्राप्त करने की योग्यता है । वैसे चारों गतियों में उपशम सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तो होता ही है पर क्षायिक सम्यक्त्व को मनुष्य ही उत्पन्न कर सकता है । भले ही हम आप आजकल नहीं उत्पन्न कर सकते, लेकिन यह योग्यता मनुष्यों में ही बतायी गयी है । केवलीभगवान् श्रुतकेवली निकट हों तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से क्षायिक सम्यक्त्व बनता है । इस तरह इन ७ प्रकृतियों के उपशम और क्षयोपशम होने से औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व होता है यह यहाँ बताया गया है । अब क्षायोपशमिक सम्यक्त्व किस तरह होता है, उसका निरूपण करते हैं ।

गाथा — ३०९

अणउदयादो छण्हं सजाइ-रूवेण उदयमाणाणं ।

सम्मत्त-कम्म-उदये खयउवसमियं हवे सम्मं ।।३०९।।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की संभूति—सम्यक्त्व का घात करने वाली ७ प्रकृतियाँ घातियाकर्म की हैं और इनमें दो तरह के कर्म होते हैं—सर्वघातीस्पर्धक, देशघातीस्पर्धक । जो समस्त सम्यक्त्व को नष्ट कर दे वह सर्वघाती है और जों सम्यक्त्व को तो न नष्ट करे किन्तु उनमें दोष पैदा कर दे, थोड़ा घात करे उसे देशघाती कहते हैं तो सर्वघाती स्पर्धक का यदि उदयाभावी क्षय हो अर्थात् उदय में आये इसमें ही तत्काल बदल जाय, उसका प्रभाव नहीं आ सके और आगामी जो उदय में आ सकता है, उनका उपशम हो और देशघाती का उदय हो ऐसी स्थिति में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है । अनन्तानुबंधी का वहाँ विसंयोजन होता है, याने अन्य-अन्य रूप से वह उदय में आता है । इस कारण सम्यक्त्व का घात नहीं होता और सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होने से उसमें चल, मलिन, अगाढ़ दोष उत्पन्न होता है । यों क्षयोपशम की स्थिति होने पर जीव के क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है, अब उपशम सम्यक्त्व रहता है अन्तर्मुहूर्त । यों समझिये कि ४-५ सेकेण्ड रहता है और क्षायिक सम्यक्त्व सदाकाल रहता है, जब से हुआ तब से सदा रहेगा और सिद्ध हो गए वहाँ भी क्षायिक सम्यक्त्व रहेगा । लेकिन संसार अवस्था में कुछ अधिक ३३ सागर पर्यन्त ही वह रह सकता, उसके बाद उसका निर्वाण हो जायेगा । क्षायोपशमिक सम्यक्त्व ६६ सागर काल तक रह जाता है । यों सबसे उत्कृष्ट सम्यक्त्व तो है क्षायिक सम्यक्त्व और वर्तमान निर्मलता की दृष्टि से उपशम भी है मगर उपशम सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है, क्षायिक सम्यक्त्व कभी नष्ट नहीं होता । यों ये सम्यक्त्व इस जीव ने अनेक बार पाये और मिट गए । पर क्षायिक सम्यक्त्व होने के बाद फिर कभी मिटता नहीं है । तो अब बतलाते हैं कि ऐसी कौन-कौन सी चीजें हैं जिन्हें जीव ने अनेक बार प्राप्त की, पर क्षायिक सम्यक्त्व चारित्र पाये बिना इस जीव का संसार से उद्धार नहीं हो सका ।

गाथा — ३१०

गिण्हदि मुंचदि जीवो वे सम्मत्ते असंख-वाराओ ।
पढम-कसाय-विणासं देस-वयं कुणदि उक्कसं ।।३१०।।

उपशम सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, विसंयोजन, देशव्रत का असंख्यातों बार ग्रहण व त्याग—उपशम सम्यक्त्व और क्षयोपशम सम्यक्त्व को इस जीव ने असंख्याते बार ग्रहण किया, और छोड़ा । इसी प्रकार अनन्तानुबंधी कषाय का विसंयोजन भी इस जीव ने असंख्यात बार किया और छोड़ा । और, देश, संयम अणुव्रत, श्रावक के व्रत ये भी असंख्याते बार इस जीव ने प्राप्त किये । भव्य जीव इन चारों को अधिकाधिक पल्य के असंख्यातवें बार ग्रहण करता और छोड़ता । पल्य का असंख्याते बार अनगिनते बार हैं, लेकिन इसके बाद में वह जीव क्षायिक सम्यक्त्व व क्षायिक चारित्र प्राप्त करके मुक्त हो जाता है । हां क्षायिकसम्यक्त्व अवश्य ऐसा है कि उसे यदि कोई प्राप्त कर ले तो फिर अधिक से अधिक ३ भव वह और धारण कर सकेगा । और, कोई कारणवश यदि ३ भव में, मुक्त न हो सके तो चौथे भव में मुक्त हो ही जायगा । यों क्षायिक सम्यक्त्व होने पर यह जीव चार भव से अधिक नहीं रह सकता संसार में और शेष चीजों को प्राप्त करके यह संसार में रहता भी

है । अब यह बतलाते हैं कि सम्यग्दर्शन में श्रद्धान इस जीव को किस प्रकार से होता है ?

गाथा — ३११

जो तच्चमणेयंतं णियमा सद्दहदि सत्तभंगेहिं ।
लोयाण पण्ह-वसदो ववहार-पवत्तणट्ठं च ।।३११।।

तत्त्व की अनेकान्तमयता—जो लोगों के प्रश्न के वश से व्यवहार चलाने के लिए सप्तभङ्गी के द्वारा अनेकान्तरूप तत्त्व का श्रद्धान करते हैं वे साधु सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं । पदार्थ कैसे हैं ? जैसे जीव नित्य है तो एक दृष्टि ऐसी आती है कि जीव अनित्य है । जीव चूंकि सदा रहता है, उसका कभी विनाश नहीं होता, इस कारण नित्य है, किन्तु उसमें परिणतियां प्रतिक्षण नवीन रहती है । तो जो परिणति हुई वह आगे नहीं रहती, इस कारण वह अनित्य है । तो जीव द्रव्यदृष्टि से नित्य है, पर्यायदृष्टि से अनित्य है और क्रम से दोनों दृष्टियों से नित्य अनित्य है । एक साथ कहा जाय तो कहा नहीं जा सकता इसलिए अवक्तव्य है, और अवक्तव्य होने पर भी नित्य समझ में आता है । उत्पादव्यय समझ में आने पर भी, अवक्तव्य होने पर भी, नित्य-अनित्य दोनों तरह विदित होते हैं ।

यों ७ भङ्ग होते हैं किसी का जवाब देने में, तो इस तरह अनेकान्त रूप से जो की तत्त्व श्रद्धा करता है उसको कहते हैं शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव । जैसे पहिले जीव को ही सिद्ध करें कि है या नहीं तो सप्तभंगी विधि से सिद्ध होता है कि जीव है । क्या है ? उसमें अपना द्रव्य है अपना द्रव्य है, अपना क्षेत्र है, अपना काल हैं, अपना भाव है । तो अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से जीव है और पर में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से जीव नहीं हैं, अर्थात् जीव पररूप नहीं है । किसी भी पदार्थ की सत्ता सिद्ध इसी तरह होती है । यह चौकी चौकी के रूप से है और यह चौकी भींत पत्थर आदिक के रूप से नहीं है । अब इन दो बातों में अगर एक न मानी जाय तो दोनों खतम हो जायेगी । जैसे चौकी अपने चौकी के रूप से है, यह न माना जाय तो चौकी क्या रहेगी ? चौकी पत्थर भींत आदिक के रूप से नहीं है, अगर यह न माने तो अर्थ होगा कि पत्थर भींत के रूप से है, तब चौकी क्या रहेगी ? तो किसी भी पदार्थ का अस्तित्व इसी प्रकार सिद्ध होता कि वह अपने स्वरूप से है और परस्वरूप से नहीं है । तो ये दो भङ्ग हो गए । अपने स्वरूप से अस्तित्व परस्वरूप से नास्तित्व-इन दोनों को क्रम से बोल करके कहा जाय तो इसमें दोनों धर्म सिद्ध होते हैं, और दोनों को एक साथ नहीं कह सकते, इस कारण अवक्तव्य सिद्ध होता है । तो जब ये चार भङ्ग हो गए तो शेष के तीन भङ्ग भी यहाँ लग जाया करते हैं । तो यों पदार्थ अनेकान्त स्वरूप हैं ।

एकान्ताग्रह में व्यवहार व मोक्षमार्ग की असिद्धि—अनेक दार्शनिकों ने जो अपना-अपना दर्शन बनाया है वह एकान्त कुछ पकड़कर ही बनाया गया है । जैसे जीव सदा रहता है या प्रतिक्षण मिटता रहता है ? एक ऐसा प्रश्न हुआ तो किन्हीं दार्शनिकों ने तो यह कहा कि जीव सदा रहता है वही का वही । उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं होता, तो किसी दार्शनिक ने यह कहा कि जीव तो क्षण-क्षण में नया-नया होता है । जैसे क्रोध किया, अब क्रोध के बाद यह क्रोधी तो रहता नहीं, दूसरी कषाय में आ गया, तो इस दार्शनिक ने यह मान लिया कि जो क्रोध

करने वाला जीव था वह दूसरा था, अब मान करने वाला जीव दूसरा हो गया। लेकिन स्याद्वादी यह निर्णय देता है कि जीव तो वही है, पर परिणति बदल गयी । तो द्रव्यदृष्टि से जीव नित्य है और पर्यायदृष्टि से जीव अनित्य है । स्याद्वादी यदि न मानें तो लोगों का व्यवहार भी नहीं बन सकता । यह लेनदेन जो चल रहा है वह स्याद्वाद के बल पर ही तो चल रहा है । जिसको उधार दिया उससे हम दुबारा कब मांग सकते ? जब इतना निर्णय हो कि यह वही मनुष्य है जिसे हमने उधार दिया था । जब उसकी नित्यता ज्ञात हो तब ही तो लेनदेन का व्यवहार चलेगा और यदि वह ऐसा नित्य हो कि जरा भी परिणमन उसमें नहीं है तब भी व्यवहार क्या चलेगा ?

व्यवहार की प्रवृत्ति स्याद्वाद के बल पर ही हो सकती, मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति भी स्याद्वाद के ढंग से होती है । मैं हूँ, सदा रहूंगा और मेरे में प्रति समय कोई न कोई अवस्था रहेगी । तब हमें मुक्त होने का उद्यम करना चाहिए क्योंकि मैं सदा तो रहूंगा, मिटूँगा तो नहीं । और हमारी कोई न कोई अवस्था रहेगी । तो संसार की चारों गतियों की अवस्था बनाये रहें उसमें तो हमारी बरबादी है, अंत: हमको ऐसा पुरुषार्थ करना चाहिए कि इन चारों गतियों का यह जन्म मरण छूटे । यह अभिलाषा कब हुई ? जब हमने यह जाना कि मैं कथंचित नित्य हूँ और कथंचित अनित्य हूँ । यदि सदा एकसा ही रहने वाला हूँ तो मोक्ष पाने की क्या जरूरत ? और यदि मैं क्षण-क्षण में नया-नया ही बन रहा हूँ तो मोक्ष पाने की क्या जरूरत ? जब एक शरीर में जुदे-जुदे आत्मा होंगे तो पाप करेगा कोई दूसरा आत्मा और उसका फल भोगेगा कोई दूसरा आत्मा । पर ऐसा होता नहीं । जैसे एक का किया हुआ पाप दूसरा नहीं भोगता, इसी प्रकार एक देह में जो अनेक आत्मा उत्पन्न हो रहे, जैसा कि बौद्धजन मानते हैं, तो एक ने किया पाप, दूसरा कोई भोगे । और जब भोग न सके तो किसी को मानने की जरूरत ही क्या है ? यदि सर्वथा नित्य माने तो मोक्ष धर्म नहीं बनता और सर्वथा अनित्य माने तो भी मोक्ष नहीं बनता । जब नित्यानित्यात्मक है पदार्थ में जीव, तब ही मोक्षमार्ग में और धर्म में कदम चल सकती है ।

गाथा — ३१२

जो आयरेण मण्णदि जीवाजीवादि णव-विहं अत्थं ।
सुद-णाणेण णएहिं य सो सद्दिट्ठी हवे सुद्धो ।।३१२।।

सम्यग्दृष्टि की तत्त्वविषयक यथार्थ मान्यता—सम्यग्दृष्टि जीव आदरपूर्वक जीव अजीव आदिक ९ प्रकार के अर्थों को श्रुतज्ञान और नयों को यथार्थ जानता है, उसको कहते हैं शुद्ध सम्यग्दृष्टि । जीव, अजीव, आश्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप, ये ९ प्रकार के पदार्थ माने गए हैं । जीव किसे कहते ? जहां चेतना हो । जीव स्वयं सत् है, वह अपने आप चैतन्यस्वरूप है । और, अपने ही स्वभाव के कारण अपने में अपनी परिणति बनाता रहता है । सर्व पदार्थों से निराला है। अपने आपको भी देखिये— इसी तरह मैं जीव सर्व पदार्थों से निराला ज्ञानस्वरूप हूं और अपने में अपना उत्पादव्यय करता रहता हूं। मेरा अन्य किसी पदार्थ से कोई सम्बंध नहीं है, इस तरह जीव तत्त्व की श्रद्धा करना सो सम्यग्दर्शन है। जीव के साथ संसार में अनादि परम्परा से कर्म का बन्धन लगा हुआ है। वे कर्म अचेतन हैं लेकिन वे स्वयं अपने आपमें स्वतंत्र सत् हैं, उन कर्मों का परिणमन उनमें ही होता है। उनकी परिणति मुझमें नहीं होती। मेरा कर्म में अत्यन्ताभाव है। कर्म का मुझमें अत्यन्ताभाव है

।केवल निमित्तनैमित्तिक भाव से ऐसा हो रहा है कि कर्म का उदय होने पर मुझमें रागादिक भाव होते और रागादिक भाव होने पर कर्म में कर्मत्व का बन्धन होता है । तो यों बन्धन लग गया है पर वस्तुत: कर्म का परिणमन कर्म में हैं, मेरा परिणमन मुझमें है । यों कर्म की सब बातों को समझना यह कर्म की सच्ची श्रद्धा है । आश्रव—जब जीव राग भाव करता है तो उसका निमित्त पाकर कर्म में कर्मपना आ जाता है, यही आस्रव है और उन कर्मों में स्थित हो जाता है । कि यह इतने वर्षों तक कर्म बना रहेगा, यह बंध कहलाता है । जब जीव का मोह उपशान्त होता है, ज्ञान वैराग्य में जीव चलता है तो कर्मों का बन्धन रुक जाता है, यही संवर है और पहिले बँधे हुए कर्म झड़ जाते हैं, यह उसकी निर्जरा है और संवरपूर्वक निर्जरा होते-होते कभी कर्म बिल्कुल निकल जाते हैं आत्मा से यही उसका मोक्ष है । अब रहे पुण्य और पाप, ये आस्रव के भेद हैं । जो कर्म बंधे हैं उनमें कुछ तो होते पुण्यकर्म कुछ होते पापकर्म । पुण्य के उदय में इन्द्रिय सुख की सुविधा मिलती है, पाप के उदय में असुविधायें मिलती हैं, लेकिन ज्ञानी पुरुष जानता है कि न तो पुण्य से मेरा निस्तारा होगा और न पाप से । पुण्य पाप से रहित केवल ज्ञानस्वरूप मैं अपने आपका अनुभव करूँ तो इस अनुभव के द्वारा ही मेरा संसार से निस्तारा हो सकता है ।

गाथा — ३१३

जो ण य कुव्वदि गव्वं पुत्त-कलत्ताइ-सव्व-अत्थेसु ।
उवसम-भावे भावदि अप्पाणं मुणदि तिण-मंत्तं ।।३१३।।

ज्ञानी पुरुष की वास्तविक अमीरी—जो पुरुष पुत्र कलत्र आदिक सर्व पदार्थों में घमंड नहीं करता है और अपने को उपशम भाव में भाता है व वर्तमान व्यक्तरूप अपने को तृणवत् मानता है, वह पुरुष सम्यग्दृष्टि है । वही इन बाह्य सब पदार्थों का तृणवत् सारहीन मान सकता है । जिसने सर्व पदार्थों से निराला अपने आपमें सहज ज्ञानमात्र अपने आपकी प्रतीति की है और जिसकी यह धुन बनी है कि यह मैं इस निज स्वरूप में समा जाऊं । मेरा ज्ञान इस ज्ञानस्वभाव को ही जाना करे, यही एक मात्र आवश्यक है यह जानकर जिसकी धुन अपने आपमें बन गयी है वह पुरुष जगत के वैभवों का क्या मूल्य करेगा ? आत्मा का कल्याण पाने के लिए आनन्द इसी बात में है, यही कुञ्जी जिसको प्राप्त हो गयी है वह अपने अन्दर तृप्त रहता है और अपने को अमीर अनुभव करता है । जिसे कुछ न चाहिए हो वही तो अमीर कहलाता है । वैभव के रहने पर वैभव के कारण अगर अमीर बताया जाय तो इसको कोई सिद्ध नहीं कर सकता । इसकी परिभाषा नहीं बनाई जा सकती कि अमीर कौन है ? लखपति अमीर जँचता है हजारपतियों को, करोड़पति अमीर जंचता है लखपतियों को सभी लोग अपने से अधिक धनिकों को देखकर अपने को गरीब अनुभव करते हैं । अमीर तो वह है जिसको कुछ न चाहिए हो । इस परिभाषा में से आप अमीरपने का निश्चय कर सकते हैं । जिस जीव को दुनिया में परमाणुमात्र भी बाह्यसंग न चाहिए, जिसने सारभूत अपने ज्ञानस्वरूप का अनुभव किया है और जाना है कि यही मेरा सर्वस्व है और यह अनुभवा कि इसके अतिरिक्त मुझे और कुछ न चाहिए वास्तव में अमीर वह है । जो लोगों को निरखकर लोगों से अपने बड़प्पन की आशा रखते हों या मैं इन लोगों में कुछ अच्छा कहलाऊं ऐसी भावना

रखते हो तो उनके तो मिथ्या अज्ञान का अंधकार बना हुआ है । रही यह बात कि जरूरत माफिक चाहिए यह सब कि जहाँ रहते हैं उसे बीच हमारी सही पोजीशन रहे, इसकी आवश्यकता तो है । तो जो पुरुष अपने मोक्षमार्ग में चल रहा है उसके इतना पुण्य अवश्य होता है कि लौकिक पोजीशन भी उसके यथायोग्य बनी रहती है । उसके लिए अलग से कुछ उद्यम नहीं करना होता है । कोई उद्यम करके धनार्जन नहीं कर पाता । उदय हो तो उसका साधन बनता है, तो वास्तविक अमीर वह है जो संसार में कुछ भी पदार्थ चाहता नहीं ।

ज्ञानस्वरूप का आदर करने वालों का स्पष्ट प्रतिबोध—भीतर में जिसकी यह धुन है कि मेरा ज्ञानस्वरूप मेरे ज्ञानस्वरूप में समा जाय बस इसी में ही पूर्ण आनन्द है । कोई यदि यह कहे कि इस तरह की स्थिति बनायेंगे तो मरण हो जायेगा । यह शल्य की बात नहीं, इस स्थिति में मरण भी हो जाने दें इसी में आनन्द है ? कोई यों शंका करेगा कि खुद-खुद में समा गया तो फिर बाह्य का कुछ ध्यान ही न रहेगा । फिर तो घर बिगड़ेगा, तो रहने दो, बिगड़ने दो, बिगड़ता कुछ नहीं है, तुम्हारा तो भला हो जायेगा, आनन्द हो जायेगा । किसी भी क्षण यदि यह अपने स्वरूप में समा जाय और इसको बाहर में कुछ भी पता रहे तो इसका बिगाड़ नहीं है, किन्तु उद्धार ही है । तो ऐसा जानकर जो सम्यग्दृष्टि जीव बाह्य कलत्र पुत्र मित्रादिक में किसी प्रकार का गर्व नहीं करता, मेरे इतने बच्चे है, ऐसा घर है, ऐसा धन वैभव है, ऐसी पोजीशन है । अरे ये सब तृण मात्र चीजें हैं, किसका गर्व है ? जिसको जो मिल गया, मिल गया, उदय है, मगर सारभूत कुछ नहीं है । बड़ी से बड़ी पोजीशन जिनको मिल जाय वहां भी हित और सार नहीं मिलता है । तो जो बाह्यपदार्थों को असार जानकर उनमें गर्व नहीं करता वह पुरुष सम्यग्दृष्टि है । शत्रु मित्र सभी में समान परिणाम रहता है । वह शान्त भाव की भावना रखता है, शुद्ध परिणाम रूप से परिणमता है और अपने प्राप्त पोजीशन को तृणवत् मानता है । गर्वहीन पुरुष का यह लक्षण है कि वह अपने मायामयरूप को तृण मात्र समझता है, जिसे कहते हैं कि न कुछ । अपने को न कुछ मानने का अर्थ यह हैं कि इस पर्याय को वह न कुछ मानता है । ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव के बाह्यपदार्थों से परम उपेक्षा रहती हैं, मैं अकिञ्चन हूँ इस प्रकार की भावना रहती है । मेरा बाहर में कहीं कुछ नहीं है, मैं केवल मैं ही हूँ इस प्रकार का उसका स्पष्ट प्रतिबोध रहता है।

गाथा — ३१४

विषयासत्तो वि सया सव्वारंभेसु वट्टमाणो वि ।
मोह-विलासो एसो इदि सव्वं मण्णदे हेय ।।३१४।।

मोहविलास की हेयता—विषयों में आसक्त होने वालों का, समस्त आरम्भों में प्रवृत्ति करने वालों का देखो यह मोह का विलास कितनी विडम्बना करने वाला है, ऐसा समझकर इन सबको वह हेय समझता है । लोग विषयों में आसक्त हो रहे हैं तो वहाँ यह निरखना है कि यह जीव तो जीव में है, ये बाह्यविषय विषय में हैं, इसका उससे कुछ भी सम्बंध है नहीं, फिर भी अपने आपके प्रदेश में रहते हुये ये मोही जीव कितना अपने को निर्धन निःसार अनुभव कर रहे हैं ? बाहर में सुख की आशा करते हैं और सुख मानते हैं । जो अपने को अपने सहज आनन्द से लबालब भरा हुआ मानता है वह रीता नहीं है, वह तृप्त है, भरा हुआ हैं आनन्दमय है । जिस जीव को अपने उस सहज परमआनन्द की खबर नही है ऐसा पुरुष ही बाहर से सुख की आशा रखता है । लोग व्यर्थ घबड़ाते हैं कि मुझ पर बड़ी विपदा आयी है । अरे विपदा बाह्यपदार्थ से नहीं आती । अपने आपकी सुध भूलें हैं इसलिए घबड़ाते हैं और मानते हैं कि मुझ पर बाह्यपदार्थों से यह

विपदा आयी हुई है। जब इस अमूर्त जीव में किसी भी बाह्यपदार्थ का प्रवेश नहीं हो सकता तो विपदा कहा आ जायगी ? जिसको शरीरवेदना से कुछ पीड़ा होती है और अपने में विपदा अनुभव करते हैं उनका भी यही हाल है । इस अमूर्त जीव में इस शरीर से कुछ भी विपदा नहीं आ सकती है । लेकिन दृढ़ता नहीं है, इतना ज्ञानप्रकाश नहीं है अतएव जैसे साधारणजन किसी बाह्यपदार्थ से अपने में विपदा मानते हैं तो यह भी इस शरीर की वेदना से अपने में विपदा पाकर दुःखी होते हैं । जिन साधुओं का ऐसा चरित्र है कि जिन्हें शेरनी ने भखा, स्यालिनी ने भखा, जिनके शिर पर अंगीठी जलाई गई, जो घर में बंद करके जला दिए गए, लेकिन उनको केवलज्ञान हुआ । कहीं विपदा के समय में विपदा का अनुभव करते हुए में केवलज्ञान हो सकता है ? शुद्ध आनन्द की प्राप्ति शुद्ध आनन्द के अनुभव से ही हो सकती है । उन साधुजनों को परमआनन्द था, तृप्ति थी । वे अपने स्वरूप को स्पष्ट निरख रहे थे, जहाँ किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है ऐसे अपने स्वरूप को जान रहे थे, उन्हें केवलज्ञान हुआ । तो शरीर से उन्हें कुछ विपदा आयी क्या ? यहाँ हम आप जो कभी थोड़ा कायरपने की बातें करने लगते हैं—''शरीर अच्छा होगा तो सब धर्मसाधन होगा, शरीर पर ही सब कुछ धर्म करना आधारित है,'' ये कमजोरी की स्थिति की बातें हैं, जब दृढ़ता नहीं है तो यह कथन भी कथंचित् सत्य है कि शरीर स्वस्थ होगा तो धर्मसाधन करते बनेगा, मगर यह शाश्वत सत्य नहीं जिनको इतना स्पष्ट भेदविज्ञान जग गया कि यह मैं ज्ञानमात्र अमूर्तआत्मा, स्वतंत्र निरापद हूँ, इसमें बाह्य से कुछ नहीं आता और मुझे किसी बाह्य की कुछ चाह नहीं है, बाह्य की धुन नहीं है, जो जीने की भी आशा नहीं रखता, किसी भी बाह्य तत्त्व को अपना परमात्मा नहीं मानता, ऐसी दृढ़ प्रतीति वाले जीव को शरीर वेदना से भी कोई बिगाड़ नहीं होता ।

अपने निरापदस्वरूप को निरखने वाले के बिगाड़ की असंभवता—बताया यहाँ यह जा रहा है कि ज्ञानी जीव अपने निरापद स्वरूप को निरख रहा है । इस कारण सबको हेय समझता है । लोग सोचते हैं कि अभी कुछ थोड़ा और जिन्दा रह जावें, अभी इतना काम और करने को पड़ा है घर, दूकान, परिवार समाज आदि का तो ऐसा सोचने वाला व्यक्ति अभी मोह में है । अभी मैंने धर्म नहीं कर पाया, अभी मैंने ज्ञानार्जन नहीं किया, धर्म को अच्छी तरह नहीं कर पाया, मुझे अभी जीवन की जरूरत है, ऐसा सोचने वाला व्यक्ति यद्यपि उतना मोही नहीं है, किन्तु उसका भी यह मोह का ही प्रलाप है । जो उद्यत हैं, तैयार हैं, पुरुषार्थी हैं, मोक्षमार्ग के सुभट है, उनका तो यह निर्णय है कि मेरा कारण इसी समय आ जाय तो आ जाय, कोई फिक्र नहीं है । यह तो बड़ी अच्छी बात है कि हम सावधान हैं और हमारी दृष्टि इस निजस्वरूप में जा रही है, हमें उस धुन का आनन्द मिला है । ऐसी स्थिति में किसी का मरण हो तो उसका बिगाड़ क्या ? रही यह बात कि जिस सम्पर्क में रह रहे हैं वह बिछुड़ जायगा, तो बिछुड़ा हुआ तो अभी भी है । अब उनका क्या होगा, ऐसी शंका न रखना, क्योंकि सभी जीवों का अपना-अपना पुण्य पृथक-पृथक है । बड़े घराने के बच्चे बड़े लाड़प्यार से पाले जाते हैं फिर भी बड़े दुर्बल रहते हैं और भिखारियों के बच्चे जो मिट्टी के डलों पर लोटते हैं वें खूब हृष्ट पुष्ट रहते हैं, तो सबका अपने-अपने ढंग में उदय न्यारा-न्यारा है । किसी बालक को अगर कोई जंगल में फेंक दे, पर उसका उदय अनुकूल है तो देवता उसकी रक्षा करते हैं । ऐसे अनेक उदाहरण पुराणों में मिले हैं और एक उदाहरण तो अभी कुछ ही वर्षों पहिले का है जब कि भारत देश छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था । बुन्देलखण्ड में एक राजमाता राज्य करती थी उनके अपने पति के मर जाने के बाद तो तभी उस राजमाता पर किसी मुगल ने आक्रमण कर दिया । उससे मुकाबला करने के लिए वह राजमाता युद्ध के लिए निकल पड़ी, पर उन दिनों उसके पेट में गर्भ था, बच्चा उत्पन्न होने के दिन थे, उस युद्धस्थल में ही उसका पेटदर्द शुरू हो गया, अब राजमाता सोचने लगी कि बच्चा यदि यहाँ पैदा होता है तो हत्यारों द्वारा यह मार डाला

जायगा, इसलिए युद्धस्थल को छोड़कर वह बाहर की ओर भागी । रास्ते में ही बच्चा पैदा हो गया, उसे एक झाड़ी में फेंककर वह राजमाता कहीं दूर निकल गई । ७ दिन के बाद वह राजमाता लौटकर आती है तो अपने बच्चे को खूब हृष्ट पुष्ट खेलता हुआ पाती है । हुआ क्या था कि जिस जगह वह बच्चा फिक गया था उसी के ठीक सामने ऊपर एक मधुमक्खियों का छत्ता लगा हुआ था । सो शहद की एक-एक बूंद उस बच्चे के मुख में प्रवेश कर रही थी । उसी से बच्चा पुष्ट रहा । तो देखिये कैसा उसका उदय था ? सबका उदय न्यारा-न्यारा है । तो किसकी फिक्र करना ? अगर किसी के पाप का उदय है तो कितना ही आप उसे सुख सुविधायें प्रदान करें पर वह ज्यों का त्यों दुखिया रहेगा ।

ज्ञानी की दृष्टि में अमीरी और गरीबी—सम्यग्दृष्टि पुरुष तो ऐसा अनुभव करता है कि यहाँ मेरे पर तो कोई भार नहीं है, मैं तो एक अमूर्त ज्ञानमात्र हूँ, इस मुझ पर किसी पर से कोई विपदा नहीं आती । ऐसा निरापद ज्ञानमात्र अपने आपको निरखता है । यहाँ हम आप इतना साहस नहीं बनाते हैं कि यहाँ किसी भी पड़ोसी, देशवासी, मित्रजन आदि से अपने बड़प्पन की चाह न रहे । यह हिम्मत नहीं, जगती कि सर्व से उपेक्षा करके अपने आपके स्वरूप में समा सकते हैं। चाहे सारा जहान प्रशंसा करे तो उससे इस जीव को लाभ क्या मिलता, अथवा सारा जहान इस जीव की निन्दा करे तो भी इसका बिगाड़ क्या होता ? जिसने अपने उस ज्ञानानन्दस्वरूप का अनुभव किया है वह अमीर है और जिनकी दृष्टि बाहर ही बाहर डोल रही है वे गरीब हैं । बाहर में उनको कैसी ही स्थिति मिली हो, वे गरीब हैं । ज्ञानी पुरुष जानता है कि कैसा ये मोही प्राणी इन विषयों में आसक्त हो रहे हैं । खुद-खुद में है, विषय-विषय में है, किसी से कुछ सम्बंध नहीं है पर अपने आपके भीतर न समाकर बाहर में कुछ आशा बना करके ये मोही प्राणी दुःखी हो रहे हैं । आरम्भ परिग्रह के कार्यों में लगे हुए ये जीव कितना दुःखी हैं । ये दूकान, ये कारखाने, ये बड़े-बड़े वैभव जो मिले हैं ये इस जीव के क्या लगते हैं ? इस जीव को समझने वाला यहाँ है कौन ? यह अज्ञानी प्राणी परवस्तुओं की आशा कर करके अपने में रीता बन गया । यह अपने ज्ञानानन्दस्वरूप की सुध नहीं रख रहा । तो बाहर में इतना आरम्भ परिग्रह में वृत्ति रखना यह तो मोह का विलास है । लोग तो बड़े आदमियों को (धनिकों को) देखकर यह विचार बनाते हैं कि ऐसे ही ठाठ, ऐसी ही अमीरी हमें भी मिले, पर सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष इन ठाठबाटों को देखकर उन पर दया कर रहा है कि ये बेचारे कितने दुःखी हैं ? अपने आपके स्वरूप से बाहर इनका ज्ञान दौड़ रहा है, अहो इन बेचारों की बड़ी दयनीय स्थिति है । तो देखिये—ज्ञान और अज्ञान की धारा में ज्ञानी और अज्ञानी में कितना अन्तर है ? ज्ञानी पुरुष इन सब बाह्य प्रसंगों को हेय समझता है ।

गाथा — ३१५

उत्तम गुण-गहण रओ उत्तम-साहूण विणय संजुत्तो ।
साहम्मिय-अणुराई सो सद्दिट्ठी हवे परमो ।।३१५।।

ज्ञानी पुरुष की दृष्टि और वृत्ति—जो उत्तम गुणों के ग्रहण में रत हैं, उत्तम साधुवों के विनय से संयुक्त हैं, साधर्मी जनों में जो अनुराग रखते हैं वही सत्यदृष्टि वाले उत्कृष्ट पुरुष कहलाते हैं । श्रम भी क्या करना है ? वीतरागता, शुद्ध ज्ञानप्रकाश, जिनका सम्बंध समस्त सदाचार से है ऐसे उत्तम गुणों के ग्रहण की ही जिनकी धुन बन गई है ऐसे वे पुरुष उत्तम मुनि श्रावक आदिक के जो गुण हैं उनमें रुचि रखते हैं, इसी कारण वे साधर्मी जीवों में विनयपूर्वक रहते हुए उनकी सेवा करते हैं । जिनको साधु के गुणों पर दृष्टि होगी, भक्ति उनके ही जगेगी, साधुवों की वास्तविक सेवा वे ही कर सकेंगे और अपने आपमें गुणों को वे ही बढ़ा सकेंगे जिनको दूसरे के गुण भी उत्तम दिख रहे हैं और अपने आपका स्वरूप भी नजर में आ रहा है । ऐसे पुरुष सम्यग्दृष्टि होते हैं । सम्यग्दृष्टि के ये बाह्य चिन्ह बताये जा रहे हैं ।

अज्ञानियों की दयनीय स्थिति—वे पुरुष तो दयनीय स्थिति के हैं जो मानते हैं कि ये मेरे बच्चे हैं, यह मेरी स्त्री है, इनके लिए मेरा तन, मन, धन, वचन सर्वस्व है, बाकी जीव तो गैर हैं, ऐसा, जिनका भाव बना है वे तो गरीब हीन दयापात्र पुरुष है, वे बड़ी विपदा में पड़े हुए है, वे संसार के भँवर में डूब रहे हैं, उनको कोई प्रकाश प्राप्त नहीं हो रहा है । उनका जीना भी मरना है, उनके जीवन से उनको क्या लाभ ? उनके जीवन से दूसरों को क्या लाभ ? जो इतने मोही हैं, जो घर के लोग हैं वे ही जिनको सब कुछ नजर आते हैं, और जगत के जीव गैर नजर आते हैं । इस जीव पर अनादि वासना से ऐसा मोह पड़ा हुआ है कि जिसके कारण इसको सन्मार्ग प्राप्त नहीं होता । उस प्रसंग को धिक्कार है जिसकी यह द्वैतबुद्धि भीतर से उत्पन्न होती है और कभी भी यह भावना नहीं बना पाता कि जैसे अन्य जीव सब गैर हैं इसी प्रकार घर में बसने वाले जीव भी गैर हैं, मुझसे निराले हैं । यदि घर के परिवारजनों की भाँति दूसरे पर भी प्रेम नहीं उमड़ाया जा सकता है तो इस ओर से भी समानता का भाव लेवें कि जैसे जीव के जीव गैर हैं उसी प्रकार ये घर के जीव भी गैर हैं, गैर मानें तो सबको और अपने स्वरूप के समान माने तो सबको । जो पुरुष इन जीवों में इतना भेद डाल देते हैं कि ये ही मेरे सब कुछ हैं, इनके लिए हीं मेरा जीवन है वे पुरुष, दयनीय हैं, दीन हैं, हीन हैं, संसारी है, जन्म मरण की परम्परा करने वाले हैं । ऐसी दयनीय दशा धनिकों की प्राय: करके हो जाती है, क्योंकि जहाँ संग है प्रसंग है वहाँ ही यह मोह पुष्ट होता है । यह नियम की बात तो नहीं कह रहे लेकिन ये बाह्य प्रसंग ऐसे ही हैं कि अनेक अवगुणों को हृदय में बसा दें, गरीब भी हैं और वे भी उपयोग ऐसा रखते हैं, तृष्णा करते हैं तो वे भी धनिकों की तरह ही दयनीय हैं ।

यथार्थ द्रष्टा की सम्पन्नता—जो अपने को ज्ञानानन्दस्वरूप अनुभवता है और यह निर्णय किए हुए है कि, इस मुझ आत्माराम को बाह्यपदार्थ की किसी की आवश्यकता नहीं है । मैं अपने आपमें ही निरन्तर रत रहूं, उसी में तृप्त रहूं, ऐसी जिसकी कामना है वही पुरुष उत्कृष्ट है, सम्यग्दृष्टि है । जो साधर्मी जनों में अनुराग रखते हैं,

जैनधर्म के आराधक पुरुषों में जिनका वात्सल्य है वे पुरुष सम्यग्दृष्टि हैं । जिनधर्म के मायने जो रागद्वेष रहित भगवान ने तत्त्व बताया है उस तत्त्व की ओर जो लगे है वे कहलाते हैं जैनधर्म के आराधक । केवल जैनकुल में उत्पन्न होने से वे जैनधर्म के आराधक न कहलाने लगेंगे । अथवा जो जैन मजहब में पैदा नहीं हुए वे जैनधर्म के आराधक न बन सकेंगे, यह भी नियम न होगा । जिनकी वस्तुस्वरूप के यथार्थ दर्शन से प्रीति है, ज्ञान और वैराग्य में जिनका उमंग है वही पुरुष जैनधर्म का आराधक है । ज्ञानी पुरुष अपने आपको ज्ञानानन्दवैभव से सम्पन्न अनुभव करता है इसी कारण वह अमीर है, और जिनको आत्मस्वरूप की सुध नहीं है वे चाहे चक्री भी हो जायें, वे चाहे कितना ही कुछ वैभव प्राप्त कर लें फिर भी दयनीय हैं, गरीब है, क्योंकि उन्हें संतोष मिल ही नहीं सकता ।

गाथा — ३१६

देह-मिलियं पि जीवं णिय-णाण-गुणेण मुणदि जो भिण्णं ।
जीव-मिलियं पि देहं कंचुव-सरिसं वियाणेइ ।।११६।।

देहमिलित भी जीव का निजज्ञानगुण से भिन्नरूपतया बोध—जो भव्य जीव देह से मिले हुए भी अपने आत्मा को भेदविज्ञान के द्वारा भिन्न जानता है वह जीव सम्यग्दृष्टि है । यह जीव अनादि से अब तक शरीर में बंधा हुआ चला आया है । शरीर ५ प्रकार के कहे हैं—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण । तैजस और कार्माण से तो सदा बँधा हुआ यह जीव आया, किसी भी क्षण इनसे अलग न हो सका । जैसे जब मनुष्य का मरण होता है तो उसका देह यहीं रह जाता है, मगर जीव के साथ तैजस और कार्माण शरीर जाता है तो मरने पर यह जीव अकेला जाता हो सो नहीं । तैजस व कार्माण शरीर वहाँ भी रहता है रास्ते में और जहाँ जन्म लेता है वहां फिर नया शरीर मिलता है । तो शरीर यों दो प्रकार के कह लीजिये—सूक्ष्म और स्थूल । तो इस प्रसंग में सूक्ष्म शरीर तो समझिये तैजस और कार्माण और स्थूल शरीर हुए ये औदारिक, वैक्रियक, आहारक । आहारक भी सूक्ष्म है, पर इससे भी सूक्ष्म तैजस कार्माण हैं तो यह जीव देह के मिला हुआ सदा रहता है जब तक इसकी मुक्ति न हो, पर औदारिक आदिक शरीरों से कभी मिला हुआ रहता है । कभी उसे छोड़ देता है, पर निग्रह गति पूर्ण होने पर दूसरा शरीर अवश्य मिल जाता है । तो यहाँ इस देह में मिले हुए जीव को भी भेदविज्ञान से यों जानना है कि शरीर न्यारा है, में न्यारा हूँ । भेद की पहिचान लक्षण से होती है । तो शरीर का लक्षण जुदा है और मुझ आत्मा का लक्षण जुदा है । शरीर अचेतन है, जानने समझने वाला नहीं है । जीव चेतन है, यह जानता और समझता है ।

जीव की देह से भिन्नता के सम्बन्ध में शंका व समाधान—कुछ लोग ऐसी आशंका कर सकते हैं कि जीव न तो कभी दिखा और न उसका कोई स्पष्ट लक्षण मिला तो जीव क्या है उनकी मान्यता में ? ये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, ये शरीर है, ये पेंच पुर्जा सब इकट्ठे मिल गए तो इसमें फिर कोई जानने देखने वाली ताकत उत्पन्न हो गयी, और वे दृष्टान्त दे सकते हैं कि जैसे घड़ी के पेंच पुर्जे न्यारे-न्यारे रखे हैं तो नहीं चलते हैं और जब उन्हें फिट कर देते हैं तो वह चलने लगते हैं । ऐसे ही पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि ये अलग-अलग रह रहे तो

इनमें जानने वाला नहीं बनता और इकट्ठे हो जायें, फिट बैठ जायें तो जानने की बात बनने लगती है । ऐसा कहने पर इस जीवतत्त्व के निषेध की आशंका कर सकते हैं, लेकिन जब लक्षणों पर विचार करते हैं तो यह आशंका युक्त नहीं बैठती । भले ही घड़ी के पेंच पुर्जे मिल गए तो घड़ी चलने लगी, तो जो वहाँ चलना है वह पेंच पुर्जों की ही तो क्रिया है । सो पेंच पुर्जे जिस रूप में हैं उसी रूप की क्रिया बनेगी । पर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये तो जानने देखने वाले नहीं हैं । तो इनके मेल से विजातीय बात कैसे बन जायेगी ? जिसमें जो धर्म है उससे वह ही धर्म प्रकट हो सकता है । तो जानन देखनहार कोई तत्त्व इस शरीर से पृथक् है । जिसमें सुख-दुःख की बुद्धि होती है, अनेक वितर्क विचार उठते हैं, ऐसा यह जीव इस शरीर से निराला है ।

देह से भिन्न जीव के परिज्ञान में सम्पन्नता—तो औदारिक शरीर से संयुक्त हुये भी आत्मा को अपने ज्ञान गुण के बल से जो भिन्न जानता है वह सही दृष्टि वाला है । जीव का गुण है ज्ञानदर्शन और शरीर का धर्म है रूप, रस, गंध, स्पर्श । तो यों स्व और पर का भेदज्ञान कराने वाले ज्ञानगुण के द्वारा जो जीव को पृथक् रूप समझता है वह सम्यग्दृष्टि है । दूसरी निरख यों चलती है ज्ञानी की कि यह शरीर इस प्रकार है जैसे कि किसी पुरुष का कोट कुर्ता वगैरह । कोट कमीज आदिक में, पैन्ट आदिक में पूरा पुरुष समाया है, लेकिन पैंट कोट आदि भिन्न चीजें हैं और वह पुरुष भिन्न चीज है, यह दृष्टान्त प्रसिद्ध दृष्टान्त है, जिसे कोई मना नहीं कर सकता । कपड़ा अलग है, पुरुष अलग है । इसी प्रकार इस शरीर में जो जीव रह रहा है तो शरीर कोट आदिक की तरह जीव से निराला है और यह जीव (पुरुष) देह से निराला है । तो जो जीव से मिले हुए शरीर को कोट कमीज की तरह जानता है कि जैसे सफेद पीला हरा आदिक किसी रंग का वस्त्र पहिन लिया तो वह वस्त्र ही तो हरा, पीला है, पुरुष हरा पीला नहीं हो जाता, इसी प्रकार जीव के आश्रित जो शरीर है उसमें जो रूप रंग आदिक हैं वे शरीर के हैं, जीव के नहीं हो जाते । तो यों जो शरीर से निराला जीव को जानता है वह सम्यग्दृष्टि है । संतोष, आनन्द, अनाकुलता आदि भी इसी कला में प्राप्त होते हैं । जब अपने आपको ज्ञानस्वरूप अनुभव किया, मैं ज्ञानमात्र हूँ, परिपूर्ण हूँ, सम्पन्न हूँ, स्वरक्षित हूँ, अमर हूँ, निरापद हूँ, मुझ में किसी दूसरी चीज का प्रवेश नहीं, जब इस विचार पर दृढ़ रहता है कोई पुरुष, तो उसके अनेक संकट दूर हो जाते हैं, और जिनको अपने आत्मा का बोध नहीं है वे संसार की किसी भी स्थिति में पहुंच जायें वे तृप्त, संतुष्ट, अनाकुल नहीं हो सकते ।

गाथा — ३१७

णिज्जिय दोष देवं सव्व-जिवाणं दयावरं धम्मं ।
वज्जिय गंथं च गुरुं जो मण्णदि सो हु सद्दिट्ठी ।।३१७।।

परमात्मदेव में क्षुधा तृषा दोष की अनुपपत्ति—जो पुरुष देव, धर्म और गुरु को जैसा उनका स्वरूप है उस ही स्वरूप को मानता है वही समीचीन दृष्टि वाला है । देव तो निर्दोष हुआ करते हैं । दोष १८ प्रकार के बताये गए हैं, जो संसारी जीवों में पाये जाते हैं वे अठारहों प्रकार के दोष जहाँ पर न हों वे भगवान कहलाते हैं । वे १८ प्रकार के दोष कौन-कौनसे हैं, उनका नाम सुनते हुए यह भी विवेचन करते जाना चाहिए कि हाँ ऐसा कौन हो सकता है ? पहिला दोष है क्षुधा । जिसके भूख लगती हो वह भगवान कैसे ? बहुत से लोग भगवान के चरित्र में अनेक घटनायें बताते हैं कि इसने अमुक के बेर खाये, इस भगवान ने अमुक का भोजन किया । भले ही पूर्व अवस्था में आहार किया है, लेकिन जबसे परमात्मपन प्रकट हो जाता है तब से उनका आहार नहीं होता । भूख उनके नहीं होती । भूख भी तो वेदना है । यदि क्षुधा लगे तो

इसके मायने यह है कि प्रभु को पीड़ा हुई । जिसमें पीड़ा हो वह हम संसारियों से विलक्षण कैसे हो सकता है ? तो जिसमें क्षुधा दोष पाया जाय वह देव नहीं है । अर्थात् पूज्यनीय, आदर्श, उपासनीय देव नहीं है । दूसरा दोष है तृषा । प्यास का दोष भी पीड़ा करने वाला दोष है, क्षुधा और तृषा में इतना अन्तर है कि क्षुधा तो बीच की पीड़ा है और प्यास छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी पीड़ा है । यों समझिये कि हल्की भूख । हो तो उसमें वेदना को सह सकते हैं, तेज भूख हो तो वह भी प्यास के मुकाबले में वेदना सही जा सकती है । क्षुधा के यदि दो नम्बर हैं तो तृषा के चार नम्बर हैं । प्यास तो मंद, मंदतर । और तीव्र, तीव्रतर होती है पर भूख के दो ही प्रकार हैं—हल्की भूख और तेज भूख । इस प्रकार भूख के तो दो दर्जे हैं और प्यास के चार दर्जे हैं । ऐसी भूख और प्यास की वेदनायें जिसमें लगी हों वह प्रभु कैसे कहा जा सकता है ?

परमात्मदेव के भय, द्वेष, राग, मोह की अनुपपत्ति—तीसरा दोष है भय । जिन देवों के चरित्र में भय की बात बतायी जाती है कि अमुक देवता डरा और डर कर दूसरे के पास पहुंचा । उसने उसकी रक्षा की । तो ऐसा भगवान जीव परमात्मा नहीं कहा जा सकता । प्रभु ज्ञानमात्र आनन्दमय होते हैं । यदि वे शरीरसहित हों तो भी उनका दिव्य शरीर पर की बाधा से रहित, और शरीर रहित परमात्मा हैं सिद्ध प्रभु तो वे भी निर्बाध हैं । तो जो देव है, परमात्मा है उसके भय नहीं हो सकता । चौथा दोष है द्वेष । जिस जीव में द्वेष भाव जगता है वह परमात्मा नहीं हो सकता । विरोध हो, द्वेष हो, बैर हो, ऐसी कलुषतायें जिसके परिणाम में आयें उसे देव कहा जा सकता है क्या ? जो लोग देव की घटनायें बताते हैं कि अमुक देवता ने अमुक का संहार किया तो द्वेष भाव होने के कारण उनको प्रभु न कहा जा सकेगा । ५ वाँ दोष है राग । जिसके चरित्र में राग भरी बातें हों, भगवान हैं, भगवती हैं और दोनों पति पत्नी साथ-साथ रहते हैं, वार्तालाप होता है और यहाँ तक बता डालते हैं कि उनके बच्चे भी होते हैं तो परमात्मा के स्त्री हों और बच्चे हो यह बात सम्भव नहीं है । जो लोग भक्ति भी करते और देव का स्वरूप भी यों मानते वे अज्ञान अंधेरे में पड़े हैं, जो अपने ही समान रागी द्वेषी देवताओं को मानते हैं । कहते तो हैं ऐसा लोग कि भगवती फते करे लेकिन भगवती का अर्थ तो भगवान की परिणतियों से है असल में । जो भगवान की विशुद्ध परिणति है वह विजय करे, अर्थ तो यह है, लेकिन जिसने भगवान के चरित्र ही ऐसे गढ़ रखे हों—उनका विवाह होता है, स्त्री होती है, वे दोनों साथ रहते हैं..., तो ऐसा मानने वाले लोग उस तत्त्व तक कहाँ पहुंचेंगे ? वे तो सीधा किसी स्त्री को ही भगवती मानेंगे । तो जो रागद्वेष से रहित है वही पुरुष देव (प्रभु) कहा जा सकता है । छठा दोष है मोह । मोह का अर्थ है अज्ञान, बेसुधी । जैसे गृहस्थ लोग घर गृहस्थी में स्त्री में मोह रखते हैं, बेसुध रहते हैं इसी तरह कुछ लोग देवताओं का ऐसा चरित्र गढ़ देते हैं कि वे भगवान अपनी पत्नी के साथ रहते हैं मोह करते हैं... वे पुरुष अज्ञान अंधेरे में हैं, उन्होंने देव का स्वरूप ठीक समझा नहीं । देव का स्वरूप समझने के लिए खुद अपने आपमें कुछ निर्मलता जगानी होगी, क्योंकि समझने वाला जब खुद निर्मल होगा, उसका उपयोग विशुद्ध होगा तो उसमें भगवान के स्वरूप की झाँकी आवेगी । तो जो पुरुष खुद ज्ञानबल के द्वारा बाह्यपदार्थों की उपेक्षा करके अपने आपमें विश्राम लेता है उसको खुद से ही उत्तर प्राप्त होता है अनुभव के रूप में कि भगवान ऐसा ज्ञानमात्र और अनाकुल स्वरूप होता है ।

परमात्मदेव की चिन्तारहितता—७ वाँ दोष है चिंता करना । चिंता तो चिता से भी बढ़कर बतायी गई है, अर्थात् जैसे कोई पुरुष मरे, चिता पर जाय तो उसके सम्बंध में जैसे दूसरे लोग कुछ दुःख की कल्पना कर सकते हैं—वहाँ क्या दुःख है, किन्तु चिन्ता में निरन्तर कठिन से कठिन दुःख है । भला सब जीव निराले हैं, यह आत्मा अकेला है, अकेला ही

जन्मता है अकेला ही मरता है, अकेला ही पुण्य पाप करता है और अकेला ही फल भोगता है । इसका किसी दूसरे से कोई सम्बंध नहीं है, लेकिन मोही जीव ने किसी स्त्री को, पुत्र को मान रखा कि ये मेरे हैं, घर के दो चार व्यक्तियों में अपना उपयोग लगा देने से उसने अपना कितना महान घात किया है, अपने ज्ञान गुण पर प्रहार किया है और उससे फिर नाना चिंतायें आ जाया करती हैं । जिस पुरुष को अपने एकत्व से प्रीति है उस पर चिंतायें सवार नहीं होतीं । जो अपने को अकेला ज्ञानमात्र निरखता है उस पर चिंताओं का क्या अवकाश ? भगवान समाधि के बल पूर्ण विशुद्ध होते हैं और अपने ज्ञानस्वरूप के अनुभव में निरन्तर रहते हैं इस कारण वे चिंता से सर्वथा रहित हैं ।

परमात्मदेव में जरा की अनुपपत्ति—८ वाँ दोष है बुढ़ापा । बुढ़ापा को महारोग में गिना गया है । जहाँ इन्द्रियाँ शिथिल हो जातीं, शरीर शिथिल हो गया, जठराग्नि भी मंद हो जाती है, अनेक रोग उखड़ पड़ते हैं, कोई उनको पूछने वाला भी नहीं होता है बेकारसा जानकर । जहाँ बाहरी भी अनेक वेदनायें हैं । ऐसी जरा जिसके पायी जाय उसे क्या देव कह सकते हैं ? कुछ लोग किसी देवता का रूप वृद्ध के रूप में मानते हैं । उस तरह का चेहरा दिखाते हैं और कहते हैं कि यह अमुक देव है । तो जिसके बुढ़ापा हो वह देव नहीं हो सकता । यदि कोई बूढ़ा मुनि भी केवलज्ञान प्राप्त कर ले तो केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद, वह बूढ़ा न रहेगा । उसका शरीर युवक के समान पूर्ण पुष्ट और कांतिमान हो जायगा । यह केवलज्ञान का अतिशय है । किसी पुरुष के पैर आदिक में यदि किसी प्रकार का रोग हो, और समाधि के बल से वह परमात्मा हो जाय तो किसी भी तरह का रोग टेढ़े मेढ़े ये कुछ नहीं रह सकते । जो लोग अरहंत परमात्मा के दर्शन करें और उन्हें वे दिखे टेढे मेढे रोगी, तो वहाँ । उस प्रभु के प्रति भक्ति कहाँ जागी ? उनका परमौदारिक दिव्य देह होता है, जहाँ धातु उपधातु मलिनता आदिक से रहित स्फटिक मणि की तरह विशुद्ध शरीर हो जाता है । एक यह अतिशय बताया गया है अरहंत प्रभु का कि उनके शरीर की छाया नहीं पड़ती । क्यों पड़े छाया ? जब उनका शरीर स्फटिक मणि की तरह निर्मल हो गया, तो यहाँ भी देख लो—कोई शुद्ध काँच हो तो धूप में रखे जाने पर उसकी छाया जमीन में नहीं पड़ती । हाँ अगर छाया पड़ती है तो समझ लीजिए कि अभी वह काँच पूर्ण विशुद्ध नहीं है, कहीं न कहीं उसमें मल अवश्य लगा है । फिर भगवान का परमौदारिक दिव्य देह स्फटिक मणि की तरह पूर्ण स्वच्छ है, इसी कारण उनके देह की छाया नहीं पड़ती । तो जिनका देह जरा से रहित है वे प्रभु सशरीर परमात्मा हैं, और सिद्ध भगवान के शरीर ही नहीं है तो जरा आदिक का कोई अवकाश ही नहीं है ।

परमात्मदेव में रोग व मरणदोष का अभाव—९ वां दोष है रोग । शरीर में रोग करोड़ों प्रकार के बताये गए हैं । रोम-रोम में अनेक दोष पाये जाते हैं, केवलज्ञान होने से पहिले कोई शरीर ऐसा न मिलेगा मनुष्यों का जो समस्त रोगों से रहित हो, चाहे वह कितना ही पुष्ट बलवान हो । बहुत से रोग नहीं हैं इसलिए कह देते हैं कि यह मनुष्य निरोग है, लेकिन कोई भी औदारिक देह ऐसा नहीं है कि जिसमें कोई न कोई रोग न पाया जाय । जहाँ रोग हो वह देव नहीं कहा जा सकता । १० वाँ दोष है मृत्यु । देव का मरण नहीं होता । मरण नाम है उसका जिसके बाद जन्म लेना पड़ता है । सशरीर परमात्मा देह से छूट जाता है तो आयु का क्षय तो होता है, उसका इस दृष्टि से मरण नाम भी कहा है, लेकिन वह है पंडितपंडितमरण । तो आयु का वियोग हुआ इस दृष्टि से मरण नाम रख दिया, लेकिन वास्तव में मरण उसी का ही नाम है कि जिसके बाद शरीर में जन्म लेना पड़ता है । भगवान की मृत्यु नहीं है और इसी कारण भगवान के जन्म भी नहीं है । सर्व कर्म जहाँ छूट गए, फिर अन्य शरीर में जाने की बात ही नहीं रहती । कुछ लोग मानते हैं कि भगवान का अवतार होता है । पर अवतार शब्द का अर्थ है—उतारना, गिरना, हल्की स्थिति में आना । अवतार कोई आदर्श अर्थ नहीं

रखता है, लेकिन लोग अवतार को बड़ी ऊंची निगाह से देखते हैं कि यह भगवान का अवतार है । भला भगवान को क्या कष्ट था जो कि जन्म लेने आये ? जो जन्म लेने आये वह देव नहीं है । ज्ञान और आनन्द ही प्रभु का स्वरूप है । इस मर्म को जो नहीं समझते हैं वे मन गढ़ंत कथायें गढ़ते हैं और अंधेरे में ही पड़े रहते हैं । ज्ञानप्रकाश उन्हें प्राप्त नहीं होता ।

परमात्मदेव में स्वेद, खेद, मद, रति, विस्मय, जन्म, निद्रा विषाद का अभाव—११ वाँ दोष है पसेव आना । शरीर में जब पसीना आता है तो कितना म्लान हृदय हो जाता है । अशुचि, मलिनता, दुर्गन्ध, न सुहाये, ये सब गंदगियाँ आ जाती हैं । सशरीर परमात्मा के शरीर तो होता है, पर वह दिव्य शरीर होता है वहाँ पसेव का कोई काम नहीं है । १२ वाँ दोष है खेद । प्रभु के खेद नहीं होता । किसी भी समय किसी शंका में आ जायें, वियोग हो जाय, घबड़ा जायें, यह बात प्रभु में नहीं हो सकती । जिसकी ये घटनायें बतायी जाती हों वह प्रभु नहीं माना जा सकता । १३ वाँ दोष है मद घमंड । प्रभु तो विशुद्ध ज्ञाता दृष्टा निराकुल परम आनन्दमय अवस्था वाले होते हैं । उनके अभिमान नहीं होता । घमंड तो वहां आये जिसमें कभी कुछ थोड़ी सी चीज पा ली हो, किन्तु जिनका विशालरूप है, विशाल सम्पन्नता है, परिपूर्णता है उनको मद कहाँ से आयेगा ? कषाय ही नहीं है, उस प्रकार के कर्म ही नहीं हैं, विशुद्ध ज्ञानानुभूति प्रकट है वहाँ घमंड नहीं ठहर सकता । १४ वाँ दोष है रति । रति प्रवृत्ति से सम्बन्ध रखती है । जहाँ रति की जा रही हो, प्रवृत्ति की जाती हो वहाँ देवत्व नहीं माना जाता है १५ वां दोष है विस्मय (आश्चर्य) । जहाँ सकलज्ञान उत्पन्न होता है, तीन लोक के समस्त पदार्थों को स्पष्ट जानते हैं उनको आश्चर्य किस बात पर हो ? आश्चर्य तो वहाँ होता है जो पहिले जानता नहीं है और कुछ अद्भुत बात जानने में आये, आकस्मिक बात जानने में आये । जो चीज थी नहीं और सामने उपस्थित हो वहाँ ही आश्चर्य उत्पन्न होता है, पर प्रभु के ज्ञान में तो जो पर्याय अनादिकाल से है, अनन्तकाल तक है, जो कुछ भी है, तीन लोक तीन काल के पदार्थ वे सब प्रतिभात हुए हैं । उन्हें आश्चर्य का अवकाश नहीं होता । १६ वां दोष है जन्म का । भगवान को जन्म भी नहीं लेना पड़ता । १७ वां दोष बताया गया है निद्रा याने नींद का आना । कुछ लोग कहते हैं कि भगवान सौ जाते हैं । अरे जो सो जाये वह तो बेसुध हो गया । जब कमजोरी होती है, थकान होती है तभी तो सोया जाता है । सोना कोई गुण की चीज नहीं है । भगवान में यह निद्रा का दोष नहीं पाया जता । १८ वां दोष है विषाद । रंज और दुःख का अनुभव करना विषाद है । इन १८ प्रकार के दोषों से जो रहित हो वही भगवान कहा जा सकता है।

परमात्मदेव की निर्दोषता व गुणसम्पन्नता—जो पुरुष देव, शास्त्र, गुरु का सत्यरूप में श्रद्धान करता है वह सम्यग्दृष्टि जीव है । देव तो होता है निर्दोष, जिसमें दोष जरा भी न हो और गुण पूरे प्रकट हो गए हों उसी का नाम देव है, उत्कृष्ट आत्मा । परमात्मा का भी अर्थ यह है कि जो परम आत्मा हो सो परमात्मा । परम के मायने उत्कृष्ट । जो आत्मा उत्कृष्ट हो गया है उसका नाम परमात्मा है । परमात्मा शब्द से ही अनेक बातें स्पष्ट हो जाती हैं । वह आत्मा उत्कृष्ट है, इसके मायने यह हैं कि वह कोई अनुत्कृष्ट सदोष अधूरे गुण वाला था । वही जीव अब निर्दोष और गुणसम्पन्न हो गया । इससे यह सिद्ध होता है कि जो परमात्मा हैं वे भी कभी कर्मों से लिप्त थे और कर्मों को काट करके भगवान हुए हैं । परम आत्मा परम का अर्थ है जिसमें अपना लक्षण उत्कृष्ट प्रकट हो गया है । परा मा लक्ष्मी यत्र स परम: । जिसमें उत्कृष्ट लक्ष्मी प्रकट हुई है उसे परम कहते हैं । अर्थात् वह गुणसम्पन्न है, गुणों से पूरा वही हो सकता है जिसमें दोष न रहा हो । ऐसे परमात्मा में जो दो तीन शब्द (पर मा आत्मा) लिखे हैं, वे शब्द बहुतसी बातों को ध्वनित करते हैं । जो निर्दोष हो, गुणसम्पन्न हो उसे परमात्मा कहते हैं । हम सदोष हैं और गुणों में अधूरे हैं यही हम स्वभाव में परिपूर्ण हैं और पुरुषार्थ

करें तो हमारे दोष भी सब समाप्त हो सकते हैं तथा गुण पूरे प्रकट हो सकते हैं ।

अन्तस्तत्त्व के समाधान से मानवजीवन की सफलता—आज मनुष्यजीवन पाया तो इस जीवन में एक ही उद्देश्य बनायें कि मैं अपने आपके स्वरूप का दर्शन करता रहूं जिससे कि दोष सब खतम हो जायें और हमारे गुण यथार्थ रूप में प्रवृत्त हो जायें । इसमें ही शान्ति मिलेगी । यही हमारा उत्कृष्ट काम होगा । इसके अतिरिक्त अन्य काम चाहे किसी प्रकार बनें, बिगड़ें परिणमें, उसमें कुछ भी हर्ष विषाद न करें । मैं तो एक ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूँ, मुझे किसी पर से मतलब क्या है । आज अनेक लोग प्रीतिपूर्वक व्यवहार करते हैं, कदाचित् वे सबके सब नाराज हो जायें तो उससे मेरा कुछ बिगाड़ नहीं है । किसी भी जीव से मेरे आत्मा में कोई गुण प्रकट नहीं होता । मैं अपने आपको अपनी दृष्टि में लिए रहूं तो मैं ही स्वयं समृद्धिशाली बन जाता हूँ । यों तो सारा जहान चाहे मेरी निन्दा करे, पर उससे मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं होता । जो भी अनिष्ट बातें हैं उन सबका भी मैं स्वागत करता हूँ, पर मेरे में बसे हुए परमात्मा के स्वरूप का दर्शन बना रहे, यही एक सच्चा पुरुषार्थ है कि जिसके बल से हमारा कल्याण हो सकता है । तो जब कोई जीव अपने आपके स्वरूप का निश्चय करके यहाँ ही रमता है, तृप्त रहता है वह जीव कर्मों के बन्धन से छूटता है और परमात्मा बन जाता है ।

आत्मा का उत्कृष्ट पद—लोग चाहते हैं कि मैं कोई ऊंचा से ऊंचा बन जाऊँ, मगर यह तो निर्णय करें कि संसार में ऊंची कौनसी चीज है ? क्या धनिक बन जाना अथवा कुछ देशों का प्रधान (राष्ट्रपति) बन जाना ये कोई सर्वोत्कृष्ट बातें हैं ? अरे जरा भीतर में इसका निर्णय तो करो । ये तो सब बाहरी बातें हैं । देव भी मरकर एकेन्द्रिय बन जाता है । राजा भी मरकर कीड़ा मकौड़ा बन जाता है । यहाँ का बड़ा होना कोई बड़प्पन की चीज नहीं है । ऊंची चीज तो है अपने आपमें वह निर्दोषता प्रकट हो जाय कि जिसके बाद कभी निम्नदशा न हो । यह मोहजाल यह लोगों का परिचय, ये तो सब व्यामोह की बातें हैं । इनमें कोई बड़प्पन की बात नहीं है । इन बाहरी बातों का ख्याल छोड़कर अपने आपमें बसे हुए परमात्मस्वरूप को देखो, इस ही उपाय से निर्दोषता प्रकट हो सकती है । जो निर्दोष है, सर्वगुण सम्पन्न है उसे परमात्मा कहते हैं । ऐसे परमात्मा से नेह लगाना, उसके प्रति भक्ति उमड़ना यह सबसे बड़ा भारी आत्मा का शृङ्गार है, शोभा है । इस ही भक्ति उपासना के बल पर यह जीव आनन्दमग्न होता रहता है । जिसको अपने आपके अनुभव की बात प्रकट हुई है उसको ऐसी धुन बनती है, कि सर्व वैभव को त्याग दें, सर्व परपदार्थों की उपेक्षा करके निर्ग्रन्थ दिगम्बर वनवासी हो जाये । ये सांसारिक सुख कोई सुख नहीं हैं । ये तो साक्षात् दुःखरूप हैं । यहाँ के जिन कार्यों में मौज माना जाता है उन कार्यों के करने में भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालों में दुःख भरा रहता है । सभी लोग जानते हैं कि इस सांसारिक वैभव के उपार्जन से पहिले कितना कष्ट होता है, वर्तमान में उसकी रक्षा करने में कष्ट होता है और बाद में उसका वियोग होने पर कष्ट होता है । तो फिर ऐसी विभूति में क्या लगाव रखना ?

ज्ञानी का निर्णय और साहस—ज्ञानी के तो यह निर्णय रहता कि उदयानुसार जो आता है आये, जाता है जाये । हर स्थितियों में हम अपनी व्यवस्था बना लेंगे । मुझे ऐसी लाज नहीं है कि कोई लोग ऐसा सोचने लगेंगे कि देखो यह अभी तक तो ऐसी ठाठ से रहते थे और अब ऐसी गिरी स्थिति में रह रहे हैं । ज्ञानी पुरुष के ऐसा साहस रहता है । ज्ञानीपुरुष किसी भी स्थिति में हर्ष विषाद नहीं मानता । वह तो आत्मदर्शन, आत्म आराधना के काम को सबसे अच्छा समझता है । यहाँ की चीजें तो सब उदयाधीन हैं—देखिये बड़े-बड़े साधु संतों पर बड़े-बड़े उपसर्ग आये, पापोदय वहाँ भी नहीं छूटता है । सिंह भख रहा, है, शिर पर अंगीठी जलाई जा रही है, स्यालिनी भख रही है आदि—ऐसे कठिन उपसर्ग सहन करने पर भी वे साधु आत्माराधना में ही रत रहते हैं । वे उपसर्ग उनका कुछ भी बिगाड़ कर सकने में समर्थ नहीं होते । वे उन

उपसर्गों को समता से सहन करके कर्मों की निर्जरा करके केवलज्ञानी हुए । तो यहाँ बाहरी प्रसंग कैसे ही आये उनकी जरा भी चिंता मत रखो, चित्त में ऐसा निर्णय रखो कि जैसी भी स्थिति सामने आ जायेगी उसी में अपनी व्यवस्था बना लेंगे । यहाँ की स्थितियों में रंच भी दुःख न मानकर अपने अन्दर में ऐसा अन्त:पुरुषार्थ करना है कि जिससे संसार का आवागमन छूट जाय ।

धर्मपालन की दिशा—जो पुरुष परिपूर्ण गुणसम्पन्न आत्मा को ही भगवान (परमात्मा) मानता है वह सम्यग्दृष्टि है । लोग तो धर्म के सम्बन्ध में नाना कल्पनायें बनाते हैं । धर्म करना तो सभी चाहते हैं, मगर कितनी विडम्बना बन गई है कि कोई लोग तो पेड़, नदी, पर्वत आदिक को देवता मानकर पूज बैठते हैं । बहुत से लोग तो अनेक पशुओं को भी पूजते हैं । यों कैसी-कैसी विडम्बनायें धर्म के नाम पर बन गयीं । और, ये हमारे देवता मांस खायेंगे, ऐसी श्रद्धा रखकर जीवों की हत्या करते हैं, और खुद मांस को देव देवी आदि का प्रसाद समझकर भक्षण करते हैं । तो यह धर्म कहाँ हुआ ? यह तो अधर्म हुआ । लोग धर्म के नाम पर रागद्वेष, विषयकषाय आदि के अनेक कार्य करते हैं । धर्म के सम्बंध में लोगों की यह कितनी उल्टी श्रद्धा है । यदि धर्म का संक्षेप में लक्षण जानना है तो यों जान लीजिए कि मेरा जो सहजस्वरूप है ज्ञानज्योति प्रतिभासमात्र, उस प्रतिभासस्वरूप अपने आपमें उपयोग रखना बस यही है धर्मपालन । अब जो इस आत्मा के धर्म में आये नहीं हैं, या जिनको इसका अभ्यास नहीं है, उनका काम कैसे बने? धर्म करने के उपाय लोकव्यवहार में नाना प्रकार के बताये गए हैं—पूजा करना, स्वाध्याय करना, सत्संग में रहना, तप करना, त्याग करना आदिक । कोई पुरुष इन अनेक बातों को तो करे, रहे इन्हीं विकल्पों में, पर यह पता न हो कि मुझे ये काम किसलिए करना है, इन कार्यों के किये जाने का उद्देश्य क्या है, तो समझो कि उसने धर्मपालन नहीं किया । ये सब बातें इसीलिए हैं कि मैं अपने उस निराकुल निर्धिकल्प प्रतिभास स्वरूप को जानूं और वहाँ ही ज्ञान लगाकर, दृष्टि लगाकर तृप्त रहूं, निराकुल रहूं, इतनी बात पाने के लिए हम पूजन, सत्संग, स्वाध्याय आदि करते हैं, इस प्रयोजन को हमें कभी न भूलना चाहिए ।

धर्मपालन के प्रयोजन की पूरकता में ही धर्मपालन की वास्तविकता—आत्मदर्शन के प्रयोजन को (लक्ष्य को) दृष्टि में रखते हुए व्यावहारिक धर्म कार्यों में लगें तब तो ठीक है अन्यथा वह एक विडम्बना मात्र रहेगी । जैसे एक कथानक में बताते हैं कि किसी सेठ ने प्रीतिभोज किया तो उसने यह सोचकर कि लोग हमारी ही पातल में खा जाते हैं और उसी में छेद कर जाते हैं, दाँत खोदने के लिए सींक निकालकर । सो खाने के साथ-साथ एक-एक सींक भी चार-चार अंगुल की परोसवा दिया । अब सेठ तो गुजर गया । जब उस सेठ के लड़कों ने पंगत किया तो उन्होंने सोचा कि हम तो पिताजी से चौगुनी बढ़िया पंगत करेंगे, सो पिता ने तो बनवायी थीं दो प्रकार की मिठाइयाँ, लड़कों ने ८ प्रकार की मिठाइयां बनवायी, पिता ने ४ अंगुल की सींक परोसी थी तो लड़कों ने एक-एक बिलस्त की लकड़ियाँ परोसीं । जब उन लड़कों के लड़कों ने पंगत की तो उन्होंने सोचा कि हम तो अपने पिता से भी चौगुनी अच्छी पंगत करेंगे । सो अनेक प्रकार की मिठाइयाँ बनवायीं और साथ ही डेढ़-डेढ़ हाथ का एक-एक डंडा भी परोसवाया । भला देखिये—उस सींक को साथ में परोसने का प्रयोजन न जानकर डेढ़-डेढ़ हाथ का डंडा परोसने की नौबत वहाँ आ गई । तो ऐसे ही समझ लीजिए कि बिना प्रयोजन को ध्यान में रखे रूढ़िवश जो धार्मिक क्रियायें की जा रही हैं वे सब दिल बहलावा मात्र रह जाती हैं । उन धार्मिक क्रियाओं को करके जो फायदा लूटा जाना था वह नहीं लूटा जा सकता । तो जितने क्षण हम आपके उस निर्दोष परिपूर्ण गुणसम्पन्न आत्मस्वभाव की ओर दृष्टि आती है उतने समय तो समझिये कर्म कट रहे हैं धर्मपालन हो रहा है और इसे छोड़कर जो बाहरी बातों में जलूस, शोभा, सजावट आदिक में लगे रहते हैं, लक्ष्य का पता नहीं है तो ऐसी स्थिति में जैसे

और-और काम किए वैसे ही यह भी काम हो गया । तो यह लक्ष्य दृढ़ रहना चाहिए कि मुझे इस जीवन में करने लायक काम केवल एक ही है दूसरा कुछ नहीं । वह काम है अपने आत्मा के ज्ञानस्वरूप को जानूं, उसे ही दृष्टि में लिए रहूं और उसमें ही तृप्त रहा करूँ, इसके अतिरिक्त अन्य जो भी काम करने पड़ते हैं वे करने तो पड़ते हैं, पर उनका करना योग्य नहीं है । करने योग्य काम तो एक यह आत्म आराधना ही है ।

आत्मधर्म—जो मेरे आत्मा का स्वभाव है वही मेरा धर्म है । आत्मा का स्वभाव है केवल ज्ञाता दृष्टा रहना, रागद्वेष से रहित रहना । ऐसा बन सके तो समझिये कि हम धर्म कर रहे । उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, आदिक १० प्रकार के जो धर्म बताये गए हैं वे धर्म हैं । यदि हमारी क्षमा आदिकरूप परिणति बनती है तो हम धर्म पालन कर रहे हैं । धर्म है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र । आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप का विश्वास होना, उसी को उपयोग में लेना और उसही रूप प्रवर्तन करना । यदि यह बात मुझमें बन रही है तो धर्मपालन हो रहा है । धर्म है दया । दूसरे जीवों को दुःखी देखकर दया का भाव आता है, दया का भाव तब आता है जब कि दूसरे की तरह अपने को समझा जा रहा हो और अपने समान दूसरे को भी समझा जा रहा हो । जैसे जाड़े में ठिठुरने वाले किसी पुरुष की काँपती हुई आवाज को आप सुनते हैं तो आपको उस समय जाड़े के दुःख का अनुभव होता है, आपके अन्दर जाड़े का दुःख उत्पन्न होता है तो आपको दया आती है कि इसे कोई कपड़ा दे देना चाहिए, ऐसे ही जब आप किसी भूखे पुरुष को देखते हैं तो उस समय आपको भूख की वेदना का अनुभव होता है तभी उस पर दया उत्पन्न होती है और आप उसे रोटी देते हैं । तो दूसरे जीवों पर दया करने में भी खुद का सम्बन्ध बना । और अपने आपमें दया उत्पन्न हुई कि हमको पाप न करना चाहिए, नहीं तो इसमें मेरे परमात्मस्वरूप का घात है । मुझे मिथ्यात्व में, मिथ्याज्ञान में, मिथ्या आचरण में नहीं रहना चाहिए, क्योंकि उसमें मेरे ही ब्रह्मस्वरूप का घात है । तो यों जो अपनी दया कर रहा है, पर की दया कर रहा है वह धर्मपालन कर रहा है । धर्म वही है जहां, दया बसी हो, और अपने आपके स्वरूप का श्रद्धान, ज्ञान, आचरण पड़ा हो, इसके अलावा जो अन्य प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं वे अधर्म हैं । बलि करना, सरागी देवों की उपासना करना आदि ये तो अधर्म की बातें हैं ।

निर्ग्रन्थ गुरु में ज्ञानी की आस्था—सम्यग्दृष्टि जीव वह है जो निर्दोष और परिपूर्ण गुणसम्पन्न आत्मा को देव मानता है और दयामयी धर्म को धर्म समझता है और निर्ग्रन्थ जनों को अपना गुरु मानता है । ग्रन्थ (परिग्रह) २४ प्रकार के होते हैं, १४ अन्तरङ्ग परिग्रह और १० बाह्य परिग्रह । इस जीव की बरबादी परिग्रह के संग में है । यदि ज्ञानबल से परिग्रह का भीतर में लगाव त्याग दे तो उसे ज्ञानप्रकाश मिलेगा और अपना कल्याणमार्ग मिलेगा । मिथ्यात्वभाव रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, हँसना, रोना, शोक करना अथवा वियोग करना आदि ये सब अन्तरङ्ग परिग्रह हैं । इन परिग्रहों में जो लगा हुआ है जीव उसको प्रभुस्वरूप नहीं सुहाता । सिद्ध परमेष्ठी अथवा गुरु महाराज इन भीतरी परिग्रहों के लगाव से पृथक् हैं और बाह्य में धन, धान्य, क्षेत्र, वस्त्रादिक किसी भी प्रकार का परिग्रह नहीं है, केवल एक शरीरमात्र उनका परिग्रह है, सो उसे भी वे अपनाते नहीं हैं, अतएव वह भी परिग्रह नहीं है । ऐसे परिग्रहरहित निर्ग्रन्थ गुरु कहलाते हैं, ऐसा जो श्रद्धान करते हैं वे सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं । देव, शास्त्र, गुरु की यथार्थ श्रद्धा जिसे नहीं है वह धर्ममार्ग में बढ़ नहीं सकता है ।

आत्मदर्शी के आकुलता का अभाव—सबसे पहिले विश्वास निर्मल बनाना है । किसी के बहकावे में न आयें कि फलाने देव की उपासना करने से धन मिलेगा, सुख साधन मिलेंगे । अरे ज्ञानी पुरुष तो संसार की सुख सुविधाओं को चाहता ही नहीं है । सांसारिक सुख मिले चाहे न मिलें, हमारा गुजारा हर स्थितियों में चल जायेगा । जब कभी शरीर में फोड़ा फुँसी होती है और उसे कोई फोड़ता है, आपरेशन करता है तो भीतर में पहिले अपना ऐसा कड़ा दिल बनाना पड़ता

है कि फोड़ने दो इन्हें, यह तो मेरे भले के लिए है, ऐसा ही साहस करके यहाँ भी हर स्थितियों में रहना है । अपने ज्ञान और दिल की वृत्ति से ही सब सारा अन्तर हो जाता है । कोई पुरुष इस बात पर दृढ़ हो जाय कि यहाँ पर जो कुछ होता हो होने दो, मैं तो शरीर से निराला ज्ञानस्वरूप यह आत्मा यह सामने हूँ, यही मैं हूँ । इस अमूर्त आत्मा में कोई कुछ प्रवेश नहीं कर सकता। यों देह से निराले

ज्ञानमात्र आत्मा की ओर दृष्टि रखे कोई तो उसे बाहरी बातों से कोई आपत्ति आयेगी क्या ? जब कोई पुरुष अपने ज्ञानभाव में दृढ़ नहीं रहता है तो वह स्वयं अपनी कल्पना से विपदायें मान लेता है । हम अपने में व्यर्थ की कल्पनायें न बनायें और अजर, अमर, सरल जो मेरा ज्ञानस्वरूप है बस उसकी ही प्रीति रखें तो फिर यहाँ कोई दुःख नहीं है । ज्ञानी जीव अपने आत्मस्वरूप में और देव, शास्त्र, गुरु के निर्णय में इतना निःशंक है कि उसको कोई कितना ही बहकाये, मगर वह श्रद्धा से विचलित नहीं हो सकता । रेवती रानी को अभव्यसेन ने कितना चमत्कार दिखाया, ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदिक बन गया तिस पर भी उनकी उपासना उसने नहीं किया । यहाँ तक कि तीर्थंकर का झूठा समवशरण तक दिखाया फिर भी उस रेवतीरानी ने समझ लिया कि २४ तीर्थंकर तो हो चुके यह २५ वाँ तीर्थंकर कहा से आ गया? यह तो मायाजाल प्रतीत हो रहा है, सो उसने उसकी भी पूजा उपासना नहीं किया । तो यों श्रद्धान रहता है ज्ञानीपुरुष का कि न उसके अपने आत्मस्वरूप में गल्ती है और न देव, शास्त्र, गुरु के स्वरूप के निर्णय में गल्ती है ।

गाथा — ३१८

दोस-सहियं पि देवं जीव-हिंसाइ-संजुदं धम्मं ।
गंथासत्तं च गुरुं जो मण्णदि सो हु कुद्दिठी ।।३१८।।

कुदृष्टि के सदोष देव की आराधना—जो जीव दोषसहित आत्मा को तो देव मानता है, जीव हिंसा आदिक से सहित को धर्म मानता है और परिग्रहों में आसक्त को गुरु मानता है वह मिथ्यादृष्टि है । जिसकी दृष्टि खोटी हो उसे कुदृष्टि कहते हैं । वस्तु का जिस प्रकार स्वरूप नहीं है या जो पर्याय जिस रूप नहीं है उसको उस रूप से समझना यह ही उसकी विपरीत दृष्टि है । जिन पुरुषों में क्षुधा तृषा रागद्वेष भय मोहादिक १८ दोष पाये जाते हैं उनको देव मानना अथवा कुछ दोष नहीं है, ऐसा स्वीकार करके भी कुछ दोषों को मानना ऐसे दोष से संयुक्त पुरुष को देव नहीं कह सकते । जो दोषसहित पुरुष को देव मानते हैं वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं । जैसे अनेक लोगों की कल्पनायें हैं कि भगवान के साथ उनकी स्त्री व उनके बच्चे आदि भी होते हैं, वे भगवान घर में भी रहते हैं, लोगों से बातें भी किया करते हैं और जहाँ चाहे चोरी से दूध दही भी खा आयें, किसी भी प्रकार अपने को कौतूहल बताये, तो यह उनकी विपरीत दृष्टि है । इसी प्रकार जीव हिंसा आदिक प्रवृत्तियों से सहित प्रवृत्तियों को धर्म मानें सो भी मिथ्यात्व है । अनेक पुरुष अनेक प्रकार के यज्ञों की कल्पनायें करते हैं । बकरा, थोड़ा, गाय, हाथी आदिक की बलि करके अनेक प्रकार के यज्ञ मानते हैं । उनमें उन जीवों की बलि किया करते हैं । और मानते हैं कि हमने धर्म किया । कितना महान अज्ञान अंधेरा है कि धर्म तो अपने भगवान आत्मा में विराजमान शुद्ध तत्त्व है जिसकी दृष्टि करना धर्मपालन है, उसे तो जानते नहीं हैं और अपने ही जीवों के समान चैतन्यस्वरूप वाले इन पशु पक्षी आदिक पर्यायों में आये हुए को होम देते हैं, बलि कर देते हैं । यह महान मोह का विलास है । कुछ लोग देवी देव में, पितर आदिक की श्रद्धा किया करते हैं, श्राद्ध मानते हैं । हम अमुक देव देवी को भेंट चढ़ायें या अमुक नदी को भेंट दें तो वह भेंट दी हुई चीज हमारे पिता के पास पहुंच जायगी । या जो चीज हम इन पण्डों को दे दें वह चीज हमारे पिता के पास पहुंच जायगी, ऐसी मिथ्या कल्पना करते हैं और ऐसी प्रवृत्ति करते हैं वह भी मिथ्यात्व है । भला जब वह बाप जीवित था तब तो सुख से पानी तक भी नहीं दे सके और मरने के बाद उनके पास गाय, पलंग, वस्त्र आदि पहुंचा रहे हैं तो यह कितनी मूढ़ता है ? तो जो जीव हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदिक से भरी हुई, परिग्रहों की आसक्ति वाली प्रवृत्तियों को धर्म मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि जीव हैं ।

कुदेवत्व का आशय व उसकी आराधना का दुष्परिणाम—लोग अनेक घटनाओं में यह कल्पना भी कर डालते हैं कि

देखो भगवान होकर भी यह झूठ बोलना पड़ा, तो ऐसा झूठ बोलना भी धर्म है । भगवान होकर भी उन्होंने चोरी की तो इस तरह के चोरी करने में क्या पाप है ? अथवा भगवान होकर भी अनेक स्त्रियों में, गोपियों में, परस्त्रियों में रमे तो परस्त्री रमण क्या पाप है ? तो कुदेव की घटना की बात कह-कहकर अपने आपमें पाप की वासना बनाते हैं वह सब अधर्म है । यद्यपि वस्तु दृष्टि से वह कुदेव नहीं है । जिसे लोगों ने कुदेवरूप से मान डाला है वह कुदेव नहीं है । वह तो जो है सो है । जैसी उनकी स्थिति थी, लेकिन यहाँ के लोग उनको देव मानते हैं बस यह कुदेवपना सिद्ध होता है । जैसे जो भी अपने जमाने में ऐसे पुरुष हुए हैं, जिन्होंने शंख, चक्र, गदा आदिक शस्त्रों को लिया था, जिन्होंने मानी हुई राधा गोपी आदिक को अङ्गीकार किया था, तो वे तो जो थे सो ही हैं । वे अपने समय के एक पुण्य वाले पुरुष थे । उन्होंने क्या किया, यह बात भी आज लोग स्पष्ट नहीं समझ पाते हैं, पर उनके सम्बन्ध में उन्हें रागी द्वेषी बताकर फिर उन्हें देव माने तो यह कुदेवपने की बात आती है । तो इससे यह सिद्ध होता है कि कुदेवपने की सिद्धि भगवान के अभिप्राय के कारण है । वह तो जो है सो है । देव है तो देव है, देव नहीं है तो नहीं है । कुदेवपने की क्या बात ? यदि कोई भगवान हो, गया तो भगवान है और न हो सका केवलज्ञानी तो संसारी है, अब कुदेवपने की बात उनमें नहीं है, लेकिन जो जीव रागी द्वेषी को भी देव मानते हों तब कहना पड़ता है कि वह तो कुदेव है । जैसे यहाँ भी महावीर भगवान वीतराग सर्वज्ञ हैं, जो हैं सो है, लेकिन कोई भक्त पुरुष ऐसी भक्ति करे और ऐसा स्वरूप जाने कि यह महावीर किसी को पुत्र देते हैं, धन देते हैं, मुकदमा जिताते हैं तो अब उस भक्त की दृष्टि ने उन्हें कुदेव बना डाला । पर क्या वे कुदेव हैं ? या तो कोई देव है या देव नहीं है । कुपने की बात वस्तु में नहीं डटी है या वह पुरुष जो रागी द्वेषी है और अपने को यह सिद्ध करे कि देव हो या दुनिया में यह बात फैले कि मैं देव हूँ तब भी उन्हें कह सकते कि वे कुदेव हैं । कुदेवपने की बात तो बना करके हुआ करती है वस्तु में नहीं है ।

कुगुरु की आराधना का मिथ्यात्व—जो जीव रागी द्वेषी पुरुष को कुदेव मानते, जीव हिंसा आदिक प्रवृत्तियों से सहित आचार को धर्म मानते वे पुरष मिथ्यादृष्टि हैं, इसी प्रकार जो पुरुष परिग्रह में तो आसक्त हैं, खेत रखे हैं, मकान बनाये हैं, बैल, घोड़ा, हाथी आदिक रखे हैं, गद्दियाँ हैं, जायदाद हैं, स्त्री पुत्रादिक हैं, जैसा कि अनेक लोग अभी भी यह ख्याल करते हैं कि बहुत से ऋषि जंगलों में रहते थे, उनके पत्नी होती थी, बच्चे बच्चियां होती थीं फिर भी ऋषि कहलाते थे । तो ऐसे ये सारे ख्याल मिथ्या हैं, जो परिग्रह में आसक्त पुरुष को गुरु मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं । देव वही हो सकता है जो निर्दोष हो, धर्म वही हो सकता है जिसमें स्वपर दया बसी हो, गुरु वही हो सकता है जो परिग्रह से रहित विशुद्ध हो, इसके अतिरिक्त अन्य को देव, धर्म, गुरु माने तो वह मिथ्यादृष्टि है ।

गाथा — ३१९

ण य को वि देदि लच्छी ण को वि जीवस्स कुणदि उवयारं ।
उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणदि ।।३१९।।

अन्य के द्वारा अन्य जीव का उपकार लक्ष्मी वितरण आदि किये जाने की अशक्यता—कोई पुरुष ऐसा मानते हैं कि देव लक्ष्मी को देते हैं और लक्ष्मीपति, याने लक्ष्मी नाम की कोई स्त्री है, उनके वे पति हैं । ये लक्ष्मीपति देव हैं, ऐसी मुद्रा बनाकर उनकी भक्ति करते हैं कि ये उपकार करते हैं, तो ऐसा ख्याल भी मिथ्या है । कोई भी देव अन्य कोई भी लक्ष्मी को नहीं देता है । कोई भी पुरुष जीव का उपकार नहीं करता है । उपकार और अपकार तो शुभ अशुभ कर्म के उदय से हुआ करते हैं । अनेक प्रकार के लोगों ने नाम रख रखे हैं देव के—हरि, हिरण्यगर्भ, गजानन, मूषकवाहन, अथवा बहुत से आज के परिकल्पित नाम—व्यंतर, काली, चण्डी, क्षेत्रपाल, आदिक । ज्योतिषी देवों के नाम पर लोग देवता की कल्पना करते हैं सूर्य, चन्द्र, गृह आदिक ये कोई भी स्वर्ण, रत्न, धन धान्य आदि, लक्ष्मी को नहीं देते हैं, यदि कोई देव लक्ष्मी को देने लगें तो फिर लोग व्यापार क्यों करें ? सभी लोग एक ही काम में लग जायें, बैठे रहें, आराधना करें, देव उन्हें लक्ष्मी दे जायें पर ऐसा हो नहीं सकता है । और कदाचित ऐसा हो भी जाय तो यों समझना चाहिए कि कोई व्यंतर आदिक सहाय बन गया उस लक्ष्मी प्राप्ति में तो जैसे ये मनुष्यजन लक्ष्मी प्राप्ति में निमित्त हो जाते हैं वैसे ही वे भी हो गए, पर कब हुए ? जब स्वकीय पुण्य का उदय हो । तो अपने ही शुभ कर्मों का उदय उसमें निमित्त हुआ, अन्य कोई निमित्त नहीं हुआ ।

वैभवलाभ में पुण्यकर्म का निमित्तत्त्व—एक बार किसी राजा ने अपने मंत्रि से एक बहुत बढ़िया घोड़ा लाने को कहा । मंत्री को एक नगर के किसी सेठ का घोड़ा बहुत अच्छा दिखा । मंत्री ने सेठ से राजा के लिए घोड़े की माँग की, तो सेठ बड़ा खुश हुआ कि चलो अच्छी बात है जो हमारी कोई चीज राजा के काम तो आयी । सो वह स्वयं उस घोड़े को लेकर मंत्री के साथ गया । राजा को सेठ ने घोड़ा भेंट किया । राजा सेठ पर बहुत प्रसन्न हुआ और कहा—ऐ सेठजी तुमसे हमें बड़ा स्नेह है । जब कभी तुम्हारे दिनों का फेर हो तो हमारी याद अवश्य करना । समय की बात-कुछ ही वर्षों में वह सेठ दरिद्र हो गया, उसी राजा के पास जाकर निवेदन किया, अपना हाल कह सुनाया, तो राजा ने उस सेठ को एक मकान दिलवा दिया और खर्च के लिए कुछ बकरियाँ दे दीं । और कह दिया कि अपना समाचार प्रत्येक दो तीन दिन बाद में देते रहना । सो सेठ राजा के पास प्रत्येक दो तीन दिन बाद जाता और यह रिपोर्ट देता कि आज तो इतनी बकरियाँ कम हो गईं अथवा आज इतनी बकरियाँ बढ़ गई । थोड़े दिन बाद में जब बकरियों की संख्या बढने लगी तो राजा ने कहा ऐ सेठ अब तू जितना चाहे रुपया हमसे लेकर कोई व्यापार चालू कर दे...क्यों ?...इसलिए कि अब तेरा पुण्य का उदय चल रहा है । अब जिस व्यापार को तू करेगा बस फायदा ही फायदा होगा । तो सेठ बोला—जब हमारे पुण्य का उदय आ गया तब तो हमें आपसे कुछ भी न चाहिए, हम स्वयं ही कुछ थोड़ा बहुत उद्यम करके आगे बढ़ जायेंगे । तो जब शुभ कर्मों का उदय होता है तो साधारण बातें भी निमित्त हो जाती हैं और जब पाप का उदय होता है तो कितने ही पुण्य समागम प्राप्त हो सब विघट जाते हैं ।

जीव के अपकार में पापकर्म का निमित्तत्व—देखिये—अकृतपुण्य बालक को राजा ने निकाल दिया, और उस पुत्र के स्नेह से उसकी माता भी उसके साथ गई और साथ में बहुत सी मोहरें ले गई । अनाज की गाड़ियां भी भरवा ले गई । लेकिन पापोदय के कारण वे मोहरें रास्ते में आग बन गईं और गाड़ियों का अनाज छेदों से निकल-निकलकर रास्ते में

बिखरता गया । कुछ न रहा । तो जिसका उदय अनुकूल नहीं है उसकी कोई कितनी ही परवाह करे, मगर कुछ भी कार्यकारी न होगी ।

लोग धनसंचय इस कारण कर रहे हैं कि हमारे ये पुत्र पुत्री उत्तरदायी रहेंगे, अधिकारी रहेंगे, ये सुख से रहेंगे। तो उनका यह ख्याल गलत है कि हमारे कमाने से धन बढ़ेगा और उस धन के ब्याज से ही या किराये से ही अपना गुजारा कर लेंगे, अरे पता नहीं, पाप का उदय आये कि वह मूल धन कहाँ से निकल जाय ? अथवा वह सब जायदाद न जाने कहा से खतम हो जाय ? वर्तमान में अपनी सम्हाल नहीं कर रहे, परदृष्टि में बढ़ रहे तो वर्तमान में जो अपना घात कर रहे हैं उनकी प्रवृत्ति दूसरों को सुखदायी क्या हो सकेगी ? जो लोग यह बुद्धि करते हैं कि कोई देव देवी लक्ष्मी आदिक का वितरण कर देगा वह पुरुष मिथ्यादृष्टि है । कोई भी देव लक्ष्मी आदिक का वितरण नहीं करता, यह तो शुभ अशुभ कर्म के उदय से प्राप्त होता है ।

उपकार अपकार में कर्म का मात्र निमित्तत्व—अब शुभ अशुभ कर्मों की भी बात सुनो—ये कर्म भी कोई अलग से स्वतंत्र प्रभु नहीं हैं, किन्तु खुद ही ने जो कुछ अपने भाव से कमाया है बस उस ही भाव के कारण जो कर्म बँध जाते हैं, उन्हें ही पुण्य और पापकर्म कहते हैं । तो अपने द्वारा पूर्व में उपार्जित जो शुभ अथवा अशुभ भाव हैं उनके होने के कारण जो पुण्यकर्म और पापकर्म का बंध हुआ उसके उदय में इस जीव को स्वयं ऐसे समागम प्राप्त होते हैं कि जिससे जीव सुखी अथवा दुःखी होता है । तो यों सीधा कह लीजिए कि शुभ अशुभ कर्म जीव को सुख दुख करते हैं, किन्तु अन्य कोई देवी देवता इस जीव का सुख दुःख लक्ष्मी आदिक को नहीं करते । तब उन कुदेवों और रागी देवों की ओर दृष्टि क्यों देना ? भक्ति उपासना क्यों करना ? अब कोई यह भी शंका कर सकता है कि फिर वीतराग सर्वज्ञदेव की भी उपासना क्यों करना ? वे भी तो कुछ नहीं दे सकते ? तो उसका उत्तर यह है कि जो ज्ञानी भक्त हैं वे वीतराग सर्वज्ञदेव की भक्ति उनसे कुछ चाहने के लिए नहीं करते किन्तु अपने स्वरूप की आराधना करके लिए वीतराग सर्वज्ञदेव के गुणों में दृष्टि करते हैं । हमारा स्वरूप रागद्वेषरहित ज्ञाताद्रष्टा रहने का है और यह बात प्रकट रूप से वीतराग सर्वज्ञदेव में हो गई है तो उन गुणों का चिंतन हम अपना मोक्षमार्ग बनाने के लिए करते हैं । तो आत्मलाभ के लिए देव, शास्त्र, गुरु की आराधना है, किन्तु सांसारिक लाभ की सिद्धि उनकी आराधना से न होगी । और होती है तब तो इस प्रकार होती है कि देव, शास्त्र, गुरु की आराधना के भाव में जो कर्म बँधते हैं वे प्राय: पुण्य रूप बंधते हैं और जब, उस पुण्य के उदय में सुख आदिक की प्राप्ति होती है, सो अर्थ यह हुआ कि अपने ही भावों के द्वारा अपना भविष्य बनाया जाता है ।

गाथा — ३२०

भत्तीए पुज्जमाणो विंतर-देवो वि देदि जदि लच्छी ।
तो किं धम्मे कीरदि एवं चिंतेइ सद्दिट्ठी ।।३२०।।

भक्ति से पूजे गये भी देवी देवों द्वारा उपकार का अभाव—अब यहाँ सम्यग्दृष्टि पुरुष का चिंतन बता रहे हैं कि ज्ञानी पुरुष इस प्रकार का चिंतन करता है कि देखिये—यदि भक्ति से पूजा गया कोई व्यन्तर देव लक्ष्मी को दे देता है ऐसा स्वीकार किया जाय तब फिर लोग धर्म को क्यों करें ? एक ही काम करें और धर्म की ही बात क्या ? व्यापार आदिक को भी क्यों करें ? वे तो एक उस देव की आराधना में ही लग जायें । विनय से पूजे गए ये व्यन्तर आदिक देव यदि लक्ष्मी को दे दें तब फिर धर्म करने की प्रवृत्ति नहीं रहनी चाहिए । लोग धन के आकांक्षी हैं, तो ठीक है, चाहते हैं कि किसी तरह धन की प्राप्ति हो और इस धन के लोभ में न्याय अन्य कुछ नहीं गिनते । किसी देवता से धन माँगा तो इसका अर्थ हो गया कि उस अन्याय करने में भी देव मदद करे । लोग देवता की पूजा करते हैं उनकी बोल कबूल किया करते हैं तो उनके धर्म का अंग यह ही मात्र रहा कि किसी न किसी देवता को पूजना । तो यों समझिये कि जैसे उन देवी देवताओं की पूजा बहाने के रूप से कुछ लालच दिया जा रहा और उनका अपना काम बनाया जा रहा, लेकिन ऐसा नहीं होता । ज्ञानी पुरुष जानता है कि कोई देवता न कुछ दे सकता और न कुछ ले सकता । वह तो धन-सम्पदा आदिक को क्षणभंगुर जानता और पुण्य पाप के अनुकूल समागम प्राप्त होते हैं ऐसा निर्णय किए रहता है । यह लक्ष्मी चंचल है, आज है कल नहीं है, आज जीवित है,, कल मरण हो गया तो लक्ष्मी यहीं पड़ी रहती है अथवा जीवित अवस्था में ही सब लक्ष्मी एकदम नष्ट हो सकती है, तो लक्ष्मी के लालच में ज्ञानी पुरुष नहीं आते । उसे क्षणभंगुर समझ रहे हैं और थोड़े बहुत धन की आवश्यकता होती है सो साधारण गृहस्थी के नाते से उद्यम करते रहते हैं ।

ज्ञानियों द्वारा आत्महित के उद्देश्य से वीतराग सर्वज्ञदेव का आराधन—ज्ञानी जन सांसारिक देवी देवताओं की मान्यता में नहीं आते, वे तो आत्महित की भावना से वीतराग सर्वज्ञदेव का आश्रय लेते हैं । मेरा कल्याण हो, मेरी बरबादी इन विषयकषायों के अनुसार है । हे प्रभो ! मिथ्यात्व और विषयकषाय की वासना मेरी दूर हो, इसमें ही मेरा कल्याण है । तो जिसने यह वासना दूर कर ली है और अपने शुद्ध आनन्द में मग्न रहा करता है, ऐसे वीतराग सर्वज्ञदेव की भक्ति में यह ज्ञानी पुरुष रहता है । उन्हें वह अपना आदर्श मानता है । जो बात मुझे चाहिए वह बात जिसने प्राप्त कर ली वह उनको आदर्श समझ करके उनकी उपासना में रहता है, उनसे मोक्ष भी नहीं चाहता यह ज्ञानी पुरुष कि वे मुझे मोक्ष दे दें । उसकी तो आदर्शरूप में पूजा हो रही है । जब ज्ञानी पुरुष तत्त्वचिन्तन करता है, आत्मानुभूति करता है और अपने आपमें अपने आपको निरखकर तृप्त बना रहता है । तो भगवान अरहंत सिद्ध वीतराग सर्वज्ञदेव के गुणों की दृष्टि करना वही वास्तविक पूजा है । किसी कवि ने यह कहा है कि देखिये चन्द्र बल तभी तक है, तारों का और भूमि का बल है, और तभी तक समस्त इष्ट कार्य सिद्ध होते हैं, तभी तक मंत्र तंत्र की महिमा है, तभी तक पौरुष काम करता है जब तक पुण्य का उदय है । पुण्य का क्षय होने पर ये समागम बिगड़ जाया करते हैं । ज्ञानीजीव इस पुण्य पाप फल को भली भाँति समझता है, वह

इसके लिए देवी देवताओं की पूजा नहीं करता ।

गाथा — ३२१

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि ।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा ।।३२१।।

गाथा — ३२२

तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि ।
को सक्कदि वारेदुं इंदो वा अह जिणिंदो वा ।।३२२।।

होनी की अनिवार्यता का विचार—सम्यग्दृष्टि जीव इस प्रकार का विचार रखता है कि जो बात जिस जीव के जिस देश में जिस प्रकार से जिस समय में जो होनी है, जिनेन्द्र भगवान द्वारा ज्ञात है, वह चाहे जन्ममरण सुख दुःख आदिक कोई भी परिणति की बात हो, जो होना है वह जिनेन्द्र द्वारा ज्ञात है और वह उस जीव के उस देश में उस प्रकार से उस काल में होगा, उसका निवारण करने के लिए इन्द्र अथवा जिनेन्द्र भी समर्थ नहीं है । इस विषय को एक मोटे रूप से यों भी सोचें कि हमें यह नहीं मालूम कि कल ८ बजे क्या होगा, मगर यह तो निश्चित है कि कुछ तो होगा ही । जितने भी पदार्थ हैं उन सबका प्रति समय परिणमन होता है । अब हम नहीं जान रहे कि कल ८ बजे क्या होगा, किन्तु जो होगा वह होगा ही । अब इस सम्बंध में यह आशंका लोग करने लगते हैं कि तब फिर कुछ कारण मिलाने की आवश्यकता क्या है? जो होगा सो होगा, लेकिन यह जानना चाहिए कि जो होने की बात है वह जिस विधान से होने की है उसही विधान से होगी । वहाँ कारण कलाप ऐसा ही जुटेगा और उन ही कारणों के बीच वह होनी बनेगी । कोई होनी जो कभी होती है फिर मिट जाती है, ऐसी होनी कारण के बिना कभी नहीं होती । जो बात बिना कारण के होगी वह सदा रहेगी । जो बात सदा नहीं रहती, समझना चाहिए कि उस बात में कोई कारण था । कारणपूर्वक होने वाली बात सदा नहीं रहा करती है, और जो बिना कारण के होती है वह सदा रहा करती है । जैसे बिना कारण के वस्तु का स्वरूप बना है उसका ज्ञान स्वभाव है, यह बिना कारण के हैं, तो यह ज्ञानस्वभाव सदा रहेगा, पर हमने यह पुस्तक जाना, अमुक पदार्थ को जाना ऐसा जो हमारा अलग-अलग जानना बन रहा है इसमें कारण है हमारा ज्ञानावरण का क्षयोपशम, इन्द्रियां हमारी पुष्ट हों, होशहवास हैं, अनेक कारण हैं इस कारण यह जानन मिटता रहता है । कोई चिंता हो, दुःख हो, सुख हो, मौज हो, ये सब बातें कारणपूर्वक हो रही हैं, इस कारण ये सब मिट जाया करते हैं । इसी कारण सम्यग्दृष्टि जीव न सुख में हर्ष मानता है, न दुख में विषाद करता है । ये तो सब मिट जाने वाली चीजें हैं । तो जो जब जहाँ जिस कारणपूर्वक होनी है वह वहाँ तब उस कारणपूर्वक होती ही है ।

कल्याणकारी सरल अन्तर्बाह्य निर्णय—जिस गृहस्थ को इन दो बातों का श्रद्धान होगा एक तो जो समागम मिला है वह नियम से बिछुड़ेगा । दूसरी बात यह कि मेरा जब अस्तित्व है तो कभी मेरा विनाश नहीं हो सकता । ये दो बातें जब निर्णय में आ गईं तब उस गृहस्थ को दुःख क्या रहा ? एक मनुष्य दुःख दो बातों का मानते हैं—एक तो कहीं मैं नष्ट न हो जाऊँ, दूसरे कहीं ये प्राप्त पदार्थ छूट न जायें । सो पदार्थ हमसे छूटेंगे ही और छूटेंगे क्या ? इस समय भी पदार्थ हमसे छूटे हुए ही हैं । आप लोग यहाँ मंदिर में आये हैं तो घर, धन आदि साथ में चिपककर आये हैं क्या ?... नहीं । तो सब आप से दूर-दूर ही है । आप उन सबसे निराले हैं । आपने उन परपदार्थों को मान लिया कि ये मेरे हैं तो यह

आपकी कल्पना ही तो हुई । ऐसा मानने से कहीं वे परपदार्थ आपके तो न बन जायेंगे । कल्पना करने मात्र से यदि परपदार्थ अपने बन जायें तब तो फिर आप भगवान से भी बढ़कर हैं । भगवान का तो कोई परपदार्थ उनका बन नहीं सका और आपका बन गया तब तो फिर आप भगवान से भी बड़े हो गए (हंसी) । कोई परपदार्थ किसी का हों जाय ऐसा हो नहीं सकता । सभी पदार्थ स्वतंत्र हैं, निराले हैं, और बड़े-बड़े छह खण्ड के चक्रवर्ती छह खण्ड का राज्य तजकर याने सारे भरत क्षेत्र का साम्राज्य छोड़कर जंगल में निर्ग्रन्थ दिगम्बर होकर रहते हैं, तो उनको छह खण्ड के वैभव से भी अधिक कोई अलौकिक सुख मिला है तभी तो उन्होंने सारा राज वैभव छोड़ा । तो निर्जन बन में अकेले रहकर भी उन्हें जो अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है तो वह किसका आनन्द है ? अपने ज्ञानस्वभाव की अनुभूति का अनुपम आनन्द है । अपना आत्मा अपने आपकी दृष्टि में आ जाय इसमें जों आनन्द भरा हुआ है उस आनन्द का अनन्तवीं हिस्सा भी कहीं बाह्यपदार्थों के समागम में नहीं है ।

सर्वस्वसार अमर ज्ञानस्वरूप के अनुभव में असंख्यभवद्बद्धकर्मक्षपण की क्षमता—असंख्याते या अनन्ते भवों के कर्म अब भी हम आपके साथ लगे हैं । यह न जानें कि पूर्व के एक भव के बांधे हुए कर्म ही हमारे साथ हैं । करोड़ों भवों के बांधे हुए कर्म भी अब तक हमारे साथ हैं । और, यों कह लीजिए कि किसी जीव के तो अनन्तभवों के बांधे हुए कर्म भी साथ लगे हैं । अनन्तभवों के मायने अनन्तानन्त नहीं, किन्तु जितने भवों को अवधिज्ञान से न जान सकें । अन्त तो है उनका पर जो अवधिज्ञान में आयें उससे भी परे की बात है, उसे भी अनन्त कहते हैं । निगोद जीव के एक ही दिन में कितने भव हो जाते हैं । जब एक श्वांस में १८ भव निगोद के बन गए तो एक मिनट में करीब १३८० भव बन गए । एक घंटा में ८२८०० हो गये । अब आप १ दिन रात के भव देख लीजिए कितने हो गए ? १९८७२०० और, कोई निगोद जीव यदि १०-२० वर्ष निगोद में रहे तो कितने भव हो गए ? वहाँ से निकलकर मनुष्य हो गए तो उसके वे सब भवों के बांधे हुए कर्म हम आप सभी जीवों के साथ हैं । इतने कर्मों को काट देना किस बल पर होता है ? जब आत्मा अपने आपमें अपने उस आत्मा के शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप को निहारता है और वहीं तृप्त रहता है, विलक्षण आनन्द का अनुभव करता है तो उस समय परभावों का लगाव छूट जाने के कारण असंख्याते अथवा अनन्ते भव के बांधे हुए कर्म क्षण मात्र में खिर जाते हैं । यह बात किसी सांसारिक सुख में रहकर नहीं की जा सकती है । तो आत्मा के अनुभव का आनन्द अनुपम आनन्द होता है ।

प्रकृत अन्तार्ह्यनिर्णय का प्रभाव—जिसने इतना भी अपने निर्णय में रख लिया कि हमें जो भी समागम प्राप्त हैं वे नियम से शीघ्र ही बिछुड़ जायेंगे । अब कोई चाहे त्याग करके छोड़े और चाहे जीवित समय में ही लुटेरे लूट ले जायें, अथवा मर जायें तो छूट जायें, समागम तो हटेंगे ही । द्वितीय बात यह है तब सच्चा ज्ञानप्रकाश बनायें कि मेरे आत्मा का सर्वस्व धन मेरा ज्ञानस्वरूप है । मेरे ज्ञानस्वरूप के अलावा मेरा रंच मात्र भी कुछ नहीं है ऐसा निर्णय बनायें और भीतर ही भीतर इसका बारम्बार विचार करें, इस भावना को पुष्ट बनायें कि मेरा तो सब कुछ केवल ज्ञानस्वरूप है, इस ज्ञानस्वरूप के अलावा अन्य कुछ भी मेरा नहीं लगता । जो कुछ मिला है वह सब मुझ से निराला है । अब भी छूटा हुआ है और देश से भी जल्दी छूट जायेगा । दूसरी बात यह निर्णय में रखना है कि मेरा विनाश कभी नहीं होता । आज हम यहाँ हैं, यहाँ से मरण करके किसी दूसरी जगह पहुंच गए तो इसमें मेरा क्या बिगाड़ ? बिगाड़ तो मोही जीव ही मानते हैं कि मैंने यहाँ इतनी इज्जत बना ली, इतना परिचय कर लिया है, इतना धन संचित कर लिया है, हाय ! यह सब छूटा जा रहा है । अरे यह सब तो तब भी असार था जब मान रहे थे कि मेरा कुछ है यहाँ । तब भी यह सब कुछ

आप से बाहर था, पर अपनी बरबादी का कारण बन रहा था । मेरा क्या बिगाड़ है ? छूट जाय तो छूट जाय । अपने आत्मा के स्वरूप के अभ्यास का इतना धुनिया बन जाय कि सारा जहान भी अगर हमें पागल कहने लगे तो कहने दो; क्योंकि दुनिया चिपकी जा रही है वैभव इज्जत से । और, वैभव, इज्जत मेरी निगाह में तृणवत् है, तुच्छ है । एक ज्ञानस्वरूप ही मेरा सर्वस्व धन है यह मेरी दृष्टि में रहे, उसही में मैं निरन्तर लीन रहा करूँ । बस हे प्रभो ! हमें एक यही आकांक्षा है । अगर बीमारी आ गई है, दिल धड़क रहा है, हार्ट फैल जैसी नौबत भी आ रही हो तो ज्ञानी यह देख रहा है कि मेरा तो कुछ भी नहीं हो रहा । शरीर-शरीर है, मैं ज्ञानस्वरूप में पूरा का पूरा हूँ, इस जीर्ण खराब शरीर में न रहकर किसी नवीन पुष्ट शरीर में पहुंच जाऊंगा । और, मैं तो यह भी नहीं चाहता कि किसी नवीन अच्छे शरीर में पहुंचूँ । कोई भी शरीर मुझे न मिले । मैं केवल रह जाऊं जैसा मेरा खालिस स्वरूप है, ज्ञान और आनन्द अमूर्त स्वरूप, जिसमें रूप, रस, गंधादिक नहीं हैं ऐसे ही मैं अपने इसे ज्ञानानन्द स्वरूप में बस जाऊं, बस यही भावना है । शरीर मिलने की तो भावना है ही नहीं । तब क्या बिगाड़ है ? जो होता हो, होओ, छूट रहा है छूटे, मेरा कुछ नहीं छूटा । जो मेरा है वह मुझसे छूट नहीं सकता । जो मेरा नहीं है वह मुझमें मिल नहीं सकता । जितने पदार्थ हैं वे सब स्वरूप सिद्ध है, स्वतंत्र हैं । किसी पदार्थ का किसी अन्य पदार्थ में मेल नहीं होता । भले हीं मिल जाये, जैसे आज दिख रहे हैं ये खम्भा भींत वगैरह मिले हुए है लेकिन यहाँ भी प्रत्येक परमाणु की सत्ता न्यारी-न्यारी है । कोई किसी के स्वरूप में मिल नहीं सकता । तब ऐसी स्थिति में कोई चीज बिछुड़ जाय तो उससे मेरा क्या बिगाड़ है ?

प्रकृत अन्तर्बाह्य निर्णय की उपयोगिता का उपसंहार—मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, जिसका कभी विनाश नहीं होता । मैं अपने ज्ञान के निकट रहूं तो यहाँ भी आनन्दमय हूँ, और जहाँ भी जाऊंगा, वहाँ भी मैं अपने ज्ञानस्वरूप के निकट रहूं तो वहाँ भी मैं आनन्दमय रहूंगा । और, जब अपने स्वरूप में न रहकर बाहरी किसी पदार्थ में नेह लगा रहे हैं तो यहाँ भी हम आनन्दरूप नहीं हैं । चिंता, शल्य, शोक आदि में घबड़ाहट जरूर है । तो इतना तो है ही कि जैसे मछली जल से बिछुड़ गयी, बाहर पड़ी है तो वह तड़फ तो रही ही हैं ऐसे ही यह उपयोग जब ज्ञानसमुद्र से दूर पड़ गया, बाहर में ज्ञानदृष्टि लगा दी तो यह उपयोग तो घबड़ायेगा ही । बाहर में उपयोग लगा तो वहाँ नियम से व्याकुलता ही मिलेगी । वहाँ शान्ति नहीं मिल सकती । तो जिस गृहस्थ को यह निर्णय है वह यहाँ रहता हुआ भी सुखी है । एक तो यह निर्णय बनाना जरूरी है कि जो भी समागम मिला है यह नियम से जल्दी ही बिछुड़ेगा । और दूसरा यह निर्णय बना होगा कि मैं आत्मा ज्ञानसर्वस्व हूँ । मेरे इस ज्ञानानन्द सर्वस्व आत्मा का कभी विनाश नहीं होता । ये दो निर्णय तो अवश्य रखना ही चाहिए ।

ज्ञानी पुरुष का होनी विषयक चिन्तन—अब ज्ञानी पुरुष वाह बातों में यह विचार कर रहा है कि बाहर में जौ घटना होती है, जो परिणमन होता है वह जिस निमित्त सन्निधान में जिस वातावरण में जिस प्रकार से होना है उस प्रकार से होगा । उसे मेटने के लिए न इन्द्र समर्थ है और न जिनेन्द्रदेव समर्थ हैं । प्रत्येक पर्याय का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नियत है अर्थात् प्रत्येक पदार्थ अपने ही द्रव्य में परिणमता है, अपने ही प्रदेश से परिणमता है और अपनी ही पर्याय से परिणमता है, अपनी ही शक्ति में परिणमता है और फिर ऐसे परिणमते हुए पदार्थ का जो बाह्य वातावरण है याने जिस देश में जिस समय में जिस प्रकार से जो बात होने वाली है वह होती है, उसे कोई टालने में समर्थ नहीं है । सर्वज्ञदेव सर्व अवस्थाओं को जानते हैं । यहाँ पर एक केवल निश्चयदृष्टि से ही निरखा तब तो वहाँ उसे यह ही दिखेगा कि इस द्रव्य में इस द्रव्य की परिणति से पर्यायें हो रही हैं, अन्य से मतलब क्या है ? लेकिन जब युक्तिपूर्वक विचार करने बैठते हैं तब यह समझ में आता है कि जितनी भी विभाव परिणतियां हैं, उल्टी परिणतियां हैं, वस्तु के स्वभाव के विरुद्ध परिणतियां हैं,

वे परिणतियां वस्तु में स्वभावत: नहीं हुआ करती हैं । होती हैं वस्तु में किन्तु वे अन्य निमित्त पाकर हुआ करती हैं अन्यथा ये विभाव स्वभाव बन जायेंगे । तो यह तो निश्चित है कि जितने भी रागादिक गुजरते हैं वे निमित्तसन्निधान में गुजरते हैं । वे अनैमित्तिक परिणति नहीं हैं, लेकिन यहाँ भी यह विश्वास बनाना होगा कि कुछ भी निमित्त हो, किसी पदार्थ की परिणति किसी दूसरे निमित्तभूत पदार्थ से निकलकर नहीं आती । तो इसे सर्वज्ञदेव जानते हैं, अवधिज्ञानी जानते हैं । उनके जान लेने से यह तो निर्णय हो गया कि जो कुछ जब होना है, जिस समय होना है, जिस प्रकार से होना है वह उस प्रकार से होता है । इस बात को हिन्दी कवियों ने एक दोहे में बताया है कि ''जो जो देखी वीतराग ने सो सो होती बीरा रे । अनहोनी नहीं होती कबहूँ, काहे होत अधीरा रे ।।'' हे मनुष्य ! तू अधीर क्यों होता है ? तू यह समझता है कि हाय ! ऐसा हो गया, ऐसा न हो जाय, आदि इतनी अनेक कल्पनायें तू क्यों करता है ? देख बाह्यपदार्थों में जब जो परिणमन होना है, होगा । इन बाह्य परिणमनों से भी दूसरे में कुछ आता नहीं है । तेरा परिणमन तुझ में है । और, विभाव परिणमन निमित्तपूर्वक हैं, फिर भी वे सब तेरे ही परिणमन हैं । पूर्वपर्यायसंयुक्त द्रव्य उत्तर पर्याय का उपादान कारण है । सो अपने ही भावों के द्वारा अपना ही अगला भाव बनता चला जाता है । अत: अब अधीरता मत करो और इन बाहर पदार्थों का विकल्प त्यागकर अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूप में विश्राम करो । इसमें तेरी उन्नति है । बाह्य पदार्थों के विकल्प करने से तेरी उन्नति नहीं है ।

ज्ञान व प्रशम के बल पर कर्मों का संहार—अहा ! आत्मा के अनुभव में जो आनन्द उत्पन्न होता है, समस्त बाह्यपदार्थों का राग छोड़कर जो उपयोग को विश्राम मिलता है उस विश्राम में जो आनन्द उत्पन्न होता है उस आनन्द में सामर्थ्य है कि असंख्याते भवों के बाँधे हुए कर्मों को नष्ट कर दे । एक कवि ने कहा है कि हे प्रभो ! बड़े आश्चर्य की बात है कि लोग तो शत्रु को तब नष्ट कर पाते हैं जब कि तेज क्रोध मन लायें, पर आपने तो अपने इन कर्म शत्रुवों का नाश करने के लिए क्रोध के बजाय उत्कृष्ट शान्तिरूपी शस्त्र को अपनाया । सो बात सही है । ये कर्म शत्रु शान्ति के बल पर ही नष्ट हो सकते हैं, क्रोध के बल पर नहीं । तो जो अपने आपके स्वरूप को निहारता है उसमें ही पूज्यता है और वही सर्व कर्मों का नाश करने में समर्थ है, वह अपना उद्धार

कर लेगा । और, जो पुरुष दूसरे-दूसरे की ही बात को निहारता है और कुछ थोड़ा सा शुभ भाव बनाता है तो यों धुन बनाता कि दूसरे लोग धर्मात्मा बनें, और लोग यह कहने लगें कि इनका धर्म बात अच्छा है । विद्वान बुलवाया, व्याख्यान दिलवाया, जलूस निकाला, इसलिए कि सभी लोग समझ जायें कि इनका धर्म बहुत अच्छा हैं, ये सभी लोग धर्मात्मा बन जायें, ऐसी जो कोई पुरुष धुन रखते हैं और खुद धर्मात्मा बन नहीं पाते हैं, खुद उस तत्त्व का अनुभव कर नहीं सकते हैं तो ऐसे यदि १०० आदमी हों इस विचार के कि ये ९९ आदमी इस धर्म को खूब समझ जाये तो यहाँ एक ने भी धर्म नहीं समझा, और अगर कोई पुरुष खुद अपने धर्म को समझता है तो उसने समझा धर्म को रूप और तब सम्भव है कि दूसरे के दिल पर भी उसका सही प्रभाव बन जायगा कि दूसरे लोग भी धर्म का पालन करेंगे । सो जो पुरुष इस तरह पहिचानते हैं कि जब जहाँ जैसा जो कुछ होना है वह होगा, उसे कोई मेटेगा नहीं, तब क्यों कुछ सोचकर अधीर होते हो ? विषय के निर्णय को अब इस गाथा में कह रहे हैं ।

गाथा — ३२३

एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वणि सव्व-पज्जाए ।
सो सद्दिट्ठा सुद्धो जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठा ।।३२३।।

द्रव्य गुण पर्याय के निर्णय से वस्तुस्वातन्त्र्य की दृष्टि—उक्त प्रकार से जो अपना निर्णय रखता है, समस्त द्रव्यों को समस्त पर्यायों को सही रूप में जानता है वहतो शुद्ध सम्यग्दृष्टि है, और जो इस द्रव्य में शंका करता है सो वह मिथ्यादृष्टि जीव है । द्रव्य ६ प्रकार के बताये गए हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । द्रव्य ६ नहीं किन्तु अनन्त हैं, क्योंकि जीव ही अनन्तानन्त हैं। पुद्गल उससे भी अनन्त गुने हैं । असंख्याते कालद्रव्य हैं, धर्म, अधर्म, आकाश ये एक-एक हैं, किन्तु ये अनन्त पदार्थ ६ जातियों में ही गर्भित हो जाते हैं । तो इन पदार्थों की फिर पर्यायें हैं । गुणों की पर्याय, प्रदेश की पर्याय, तो द्रव्य है, द्रव्य में शक्तियां हैं । उन शक्तियों की परिणतियां होती हैं । द्रव्य शाश्वत है, शक्ति भी हमेशा रहने वाली है और उनका जो परिणमन हो रहा है वह अनित्य है, नष्ट हो जाने वाला है । यों द्रव्य, गुण, पर्यायों का जो निर्णय रखता है वह है ज्ञानी, और जो इसमें शंका करता है वह है मिथ्यादृष्टि जीव । तो यही निरखना है कि प्रत्येक द्रव्य उत्पादव्ययध्रौव्य वाला है । वह अपने में अपनी नवीन परिणति बनाता है, पुरानी परिणति विलीन करता है, फिर भी सदा बना रहता है । अतएव किसी द्रव्य का किसी अन्य द्रव्य के साथ सम्बन्ध नहीं है । यों वस्तु की स्वतंत्रता को जो निहारता है वह ज्ञानी जीव है ।

गाथा — ३२४

जो ण विजाणदि तच्चं सो जिणवयणे करेदि सद्दहणं ।
जं जिणवरेहिं भणियं तं सव्वमहं समिच्छामि ।।३२४।।

किसी सूक्ष्म तत्त्व का अबोध होने पर भी प्रायोजकतत्त्व श्रद्धा व जिनवचन श्रद्धा से सम्यक्त्व की अवाधितता—जिसने अपने को बाहरी पदार्थों से अपना हित नहीं माना है, अपने स्वरूप से बाहर अपनी दृष्टि

जाय तो वह अपने अनर्थ के लिए ही है, ऐसा जिसने निर्णय कर रखा है और इस निर्णय के बल पर अपने आपके सहजज्ञानस्वभाव का अनुभव कर लिया है ऐसा कोई पुरुष किसी कठिन तत्त्व को न भी जान पाये तो भी उसका श्रद्धान रहता है कि जो जिनेन्द्रदेव ने कहा है उस सबको मैं मानता हूँ, वह सब समीचीन है । तत्त्व का स्वरूप और नाना प्रकार के धर्मों का वर्णन एक बड़े विस्तार वाला विषय है । दर्शनशास्त्र में इसका इतना वर्णन किया गया है कि पढ़ते-पढ़ते जीवन भी व्यतीत हो जाए तो भी नई-नई बातें मिलेंगी । करणानुयोग में जो तत्त्वों का वर्णन है वह भी अनेक स्थलों में बहुत कठिन और सूक्ष्म है । यदि कोई जीव उन सब तत्त्वों को नहीं जान पाता तो क्या वह सम्यग्दर्शन नहीं पा सकता? उसी का उत्तर बताया गया है कि सम्यग्दृष्टि बहुत कठिन तत्त्वों को भी नहीं जान पाये लेकिन वे जिनवचन में श्रद्धान् करते हैं कि प्रभु ने जो बताया है वह सब सत्य है । अब नरक और स्वर्ण को यहाँ किसने देखा? जैसे जा जाकर कुवा, बावड़ी आदि देख आते हैं इस तरह से स्वर्ग नरक भी देखे जाते हैं क्या? लेकिन जिनको वीतराग धर्म की अभिरुचि से अपने आपके स्वरूप की श्रद्धा हुई है, अटूट आनन्द पाया है, जिनको उस तत्त्व में कोई विरोध नहीं जंचा है उनका यह सब निर्णय है कि जो जिनवचन में कहा गया है कैसा नरक है, कैसा स्वर्ग है, उनकी नाप, उनकी रचना आदि वह सब युक्तिसंगत है ।

प्रयोजनभूत जीवादिक सप्ततत्त्वों का श्रद्धान व जीव अजीव का निर्णय—जैसे विचार मैं रख रहा हूँ वैसा ही विचार दूसरे का मालूम पड़े और मूल सहित मालूम पड़े तो उस व्यक्ति में रुचि हो जाती है, श्रद्धा हो जाती है कि यह बिल्कुल साफ है और स्वहित चाहने वाला है । तो जब जिनेन्द्र वचन में जो कुछ तत्त्व की बात कही गई है जीव, अजीव, आस्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा और मोक्ष, जब इन ७ तत्त्वों के सम्बंध में बुद्धि लगाते हैं तो यह वर्णन हमको यथार्थ जंचता है । बस इसकी श्रद्धा है । इसके बल पर सम्यक्त्व की बात कही जाती है । इस कारण छहढाला में यह कहा है कि जीवादि—प्रयोजनभूत तत्त्व, मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत जीवादिक ७ तत्त्व हैं । उनके बारे में उल्टी श्रद्धा हो तो मिथ्यादर्शन है और समीचीन श्रद्धा हो तो सम्यग्दर्शन है । जिसको अपना हित चाहिए उसको यह निर्णय करना होगा कि मैं जीव हूँ, इस देह से निराला, ज्ञानानन्दरूप से रचा गया समस्त बाह्यपदार्थों के प्रवेश से रहित निरापद यह मैं जीव हूँ, पर इसके साथ कोई अजीव भी लगा हुआ है, तभी तो आज इतनी उल्टी परिणति हो रही है । किसी भी पदार्थ में जो उल्टा परिणमन होता है तो उससे उल्टी चीज साथ में लगी हो तब होती है । जैसे पानी ठंडा है, लेकिन जब कोई गर्म चीज साथ में लग जाय, जैसे आग पर बटलोही रख दी गई, तो झट पानी गर्म हो गया । तो जैसे ठंडे पानी को गर्म कलेजे लिए कोई उल्टी चीज साथ में होना चाहिए । ठीक ऐसी ही बात अपनी समझिये—जब मेरा स्वरूप जानने का है और आनन्दमय रहने का है तब ऐसा न हो तो कारण क्या कि कोई मेरे स्वभाव से विपरीत चीज साथ में लग गई है । अब वह विपरीत असर क्या है कि मैं जीव हूं तो वह विरुद्ध चीज अजीव होना चाहिए । मैं अमूर्त हूं तो वह विरुद्ध चीज मूर्तिक होना चाहिए । ऐसे ही ये हैं कर्म । ज्ञानावरण आदिक ८ भेद वाले ये कर्म अजीव हैं और मूर्तिक हैं । तो जीव के साथ ये कर्म लगे हुए हैं बस ये अजीव हैं । अजीव तो शरीरादिक भी हैं, पर यहाँ ७ तत्त्वों के सबंध में कह रहे हैं तो चूँकि आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, इनके कथन में कर्म की बात आयगी तो यहाँ अजीव को देखना कर्म । यह मैं ज्ञानान्दस्वरूप आत्मा हूँ और इसके साथ ये अज्ञान मूर्तिक कर्म लगे हुए हैं ।

सुदृष्टि की आस्रवबंधविषयक निर्णय—ये कर्म मेरे में, जीव में शुरू से नहीं पड़े हुए हैं अनादि से परम्परा से पड़े हैं, मगर जो कर्म जब बना उससे पहले वह कर्म न था। तो ये कर्म आये हुए हैं और ये आते हैं रागद्वेष भाव के कारण। इस

मनुष्य को जरा-जरा सी बातों में रागद्वेष करना अनुकूल जंच रहा है, सामर्थ्य है इसमें। पशुओं पर, पक्षियों पर, गरीबों पर इसका बल प्रयोग भी हो जाता है, और इसको रागद्वेष करना बड़ा आसान जंच रहा है, लेकिन इसका कितना खोटा परिणाम है कि जन्ममरण का तांता लग जायेगा, आकुलता हो जायेगी, अनेक कर्म बंध जायेंगे। बड़े-बड़े महापुरुषों ने तीर्थंकर चक्रवर्ती जैसे बड़े समृद्धिशाली लोगों ने सब कुछ त्यागकर यह पसंद किया था कि मैं अपने इस ब्रह्मस्वरूप को देखूं और यहाँ ही तृप्त रहूं, अब किसे जानें, क्या करना, कहां बोलना, बाहर की सारी क्रियायें सारहीन हैं। वे अपने आपके स्वरूप में रमकर तृप्त रहते हैं। और यहाँ मुग्ध पुरुषों को रागद्वेष करना आसान सा जंच रहा है। जरा भी कंट्रोल नहीं है कि मैं थोड़ा रागद्वेष मोह कम तो करूं। क्यों स्वच्छन्दता से ऐसे परपदार्थों में बहूं, इसके लिए इसकी बुद्धि नहीं जगती। मेरे ये रागद्वेष हो रहे हैं, ये ही कर्म के आस्रव के कारण हैं। इन भावों का निमित्त पाकर कार्माणवर्गणायें कर्मरूप बनती हैं, और इसी भाव की संक्लेश की तरतमता से, उन कर्मों में स्थिति बंध जाती है। यहाँ उन तत्त्वों का वर्णन किया जा रहा है कि जिनको ठीक-ठीक समझे बिना हम अपना हित नहीं कर सकते। एक क्षण के मोह की गलती में ७० कोड़ा कोड़ी सागर तक की स्थिति का कर्म बंध जाता है। एक सागर ही बहुत बड़ा है। जिसमें अनगिनते वर्ष समा जाते हैं, फिर ७० कोड़ा कोड़ी सागर कितना महान काल है ? इतने समय तक के लिए एक क्षण की गलती में कर्म बंध जाते हैं और जैसे ७० कोड़ा कोड़ी सागर का कर्म इस समय बाँध लिया तो वह कर्म मान लीजिए ७०० वर्ष कम उदय में न आयगा, लेकिन इसके बाद जब उसका उदय होना शुरू होगा तब से लेकर ७०० वर्ष तक ७० कोड़ा कोड़ी सागर तक लगाकर उदय में आता है। अब ध्यान करना है कि हम आप संसारी जीव आज कितनी विपत्ति में फंसे हुए हैं। जैसे ये पतिंगे रूप के लोभी होकर दीपक पर गिर जाते हैं और मर जाते हैं इसी तरह ये संसारी जीव रागद्वेष करके अपना इतना अनर्थ कर डालते हैं और फिर भी रागद्वेष न करें यह बुद्धि नहीं जगती। भगवान की बात न सुहाये और भगवान की भक्ति करे तो उसे भक्ति कैसे कही जा सकती है ? भगवान का वचन है कि इस अपने आपमें सात तत्त्वों की बात का निखार बना लीजिए। कर्म बंध गए, अब जब उनका उदयकाल आता है तब इस जीव को क्रोध, मान, माया, लोभ, जन्ममरण आदि विचित्र बातें उत्पन्न होती रहती हैं। यह तो हुई संसार के जकड़ाव की चर्चा कि किस तरह हमारा संसार जकड़ाव बना हुआ है। अब सुनो मोक्ष की चर्चा।

सुदृष्टि का संवरनिर्जरा मोक्षविषयक निर्णय—कौनसा उपाय है वह कि जिस उपाय से हम इस बंधन से मुक्त हो जायें, सहज शाश्वत सत्य सुखी हो जायें । वह उपाय है संवर और निर्जरा । सम्वर कहते हैं कर्म के न आने को । अब कार्माण वर्गणा कर्मरूप न बनें इसको कहते हैं सम्वर । जब जीव रागद्वेष मोह का त्याग करता है तो जितने अंशों में रागद्वेष छोड़ दिया है उतने अंशों में संवर तत्त्व प्रकट होता है । एक बात सोचिए कि मेरा जीव यदि आनन्दमय हो जाय तो इससे आगे आपको और क्या चाहिए ? मान लो दो चीजें मुकाबले में रखी हैं एक ओर तो यह धन बड़े, इज्जत बढ़े, परिवार बढ़े, बड़े-बड़े आराम के साधन हों और एक ओर यह बात आये कि मैं अपने ज्ञानानन्दस्वरूप इस निज परमात्मतत्त्व का दर्शन करूँ और इसके ही निकट अपना ज्ञान रख करके तृप्त रहूं, यदि कोई कुछ ऐसी शंका करने लगे कि देखो यदि हम अपने इस ज्ञानानन्दस्वरूप को जानकर वहीं तृप्त रहने का उद्यम करता हूँ तो हमारी दूकान खराब हो जायगी । घर के बाल बच्चे फिर बेकार से हो जायेंगे ? उन्हें पाले पोषेगा कौन ? और, हमारी इज्जत भी फिर कोई न करेगा । कौन हमें जानेगा ! तो यहाँ विचार करे कि यदि एक यह अपनी बात मिलती है कि मैं अपने ज्ञानानन्दस्वरूप में बसकर विलीन हो जाता हूँ, तो यह तो सत्य आनन्दमय हो गया । उसको अब बाहर में क्या पड़ी है ? चाहे जो बने, चाहे जो बिगड़े, कहीं कुछ हो ?

जैसे लोग कहावत में कहते हैं कि लेवा मरे या देवा, बलदेवा करे कलेवा । कोई बलदेवा नाम का दलाल था, वह किसानों का अनाज बेचने की दलाली करता था । सो एक दिन किसी किसान के अनाज की दलाली की । तो जिसका अनाज बेचा उसने सोचा कि आज तो हमारा माल सस्ता चला गया, इस कारण वह बड़ा खेद मानने लगा, और जिसने ? वह अनाज खरीदा उसे यह ख्याल हुआ कि आज हमने तेज खरीद लिया । तो दोनों जगह अलग-अलग बैठे हुए दोनों व्यक्ति (अनाज बेचने वाला व खरीदने वाला) दुःखी होते रहे । अब बलदेवा तो साथ में नाश्ता रखे था, देर हो जाने से काफी भूख भी लग गई थी, सो अपना कलेवा निकाला और एक पेड़ के नीचे बैठकर आराम से कलेवा करने लगा यह कहते हुए कि लेवा मरे या देवा, बलदेवा करे कलेवा । तो यह तो एक लौकिक बात बतायी है । यहाँ परमार्थ की बात समझना है कि इन बाह्यपदार्थों का परिणमन हमारे आधीन नहीं है कारणकुट और उपादान के अनुसार जिस पदार्थ का, जिस जीव का जैसा परिणमन होना है, होगा । उस पर हमारा अधिकार भी नहीं और उससे मेरा कुछ होता भी नहीं । इसलिए बाहर में कहीं कुछ हो सो हो । मैं स्वामी भी नहीं और न बाहरी पदार्थों से मेरे में कुछ प्रभाव आता है । तब मैं तो अपने इस ज्ञानानन्दस्वरूप को ही निरखूं और उसमें ही बस करके तृप्त होऊँ । एक ही निर्णय है ज्ञानी पुरुष का । यहाँ बताया जा रहा है कि कर्मों का सम्वर किस उपाय से होता है, वह उपाय है रागद्वेष मोह का त्याग । धर्म ही यही है कि इस रागद्वेष मोह मलिन भावों का परिहार करें । अब शुद्धि के अनुसार सम्वर करता हुआ ज्ञानी इच्छा के अभाव से जो अपने विशुद्ध आत्मा में बढ़ रहा है वह उसका शुद्धोपयोग कर्मों की निर्जरा का कारण बन रहा है । नये कर्म तो आये नहीं और पुराने बँधे हुए कर्मों की निर्जरा हो जाय तो यही तो फल होगा कि किसी समय एक भी कर्म यहाँ न रहेंगे और मुक्ति प्राप्त होगी ।

संवरनिर्जरामोक्षस्वरूप का दृष्टान्तपूर्वक प्रतिपादनोपसंहार—जैसे जिस नाव में छिद्र हो गया है, वह नाव किसी नदी या समुद्र में चल रही है तो उस नाव में छिद्र के द्वार से पानी आ रहा है । यह तो समझिये नाव में पानी का आस्रव और पानी उसमें आकर अगर ठहर गया है तो यह है नाव में पानी का बंध और यदि मल्लाह चतुर है तो उस नाव को डूबने से बचाने के लिए (मुक्ति देने के लिए) यह उपाय करता है कि सबसे पहिले तो उसके छिद्र को बन्द करता है । उसे यह आकुलता नहीं होती कि इस पानी से नाव डूब जायगी, वह तो उस पानी को निकालने के बजाय उसमें नया पानी न आने देने का उपाय करता है । उस छिद्र को बन्द कर दिया

तो यह हुआ पानी का सम्वर और सम्वर जब बन चुका तो कटोरा आदिक जो उनके योग्य उपकरण हैं उनसे पानी को उलीचता है । फल यह होता कि नाव में पानी नहीं रहता और पानी के संकट से नाव मुक्त हो जाती है । इसी प्रकार मिथ्यात्व रागद्वेष मोह विषयकषाय इन सब भावों के कारण कर्म आते हैं, यह है आस्रव, और जैसे यह क्रूरता, तीव्रता, कषाय बनी है उसके अनुसार ये कर्म यहाँ ठहर जाते हैं । यह है बन्धन, और रागद्वेष मोह न करें, रागद्वेष मोह से निराले केवल ज्ञानानन्दस्वरूप निज परमात्मतत्त्व का दर्शन करें तो इस उपाय से वे कर्म न आयेंगे, यह है संवर । और, इन्हीं कारणों से पहिले आये हुए कर्म झड़ते जायेंगे और इस उपाय से एकदम भी शेष कर्म झड़ जायेंगे, यह हुई निर्जरा । तो जहाँ संवर पूर्ण है और निर्जरा भी हो चुकी । तब वहाँ समस्त कर्मों से मुक्त होकर यह जीव भगवान होता है । तो इस प्रकार जिस जीव को सातों तत्त्वों के विषय में श्रद्धान है और वह एकदम किसी गहन तत्त्व को न जान पाये, पर उस सब कथन के बारे में वह ऐसा निर्णय रखता है कि जो प्रभु ने कहा है उस सबको में चाहता हूँ, अर्थात् वह सब समीचीन है । उसमें मुझे कुछ भी शंका नहीं है ।

गाथा — ३२५

रयणाण महारयणं-सव्वं-जोयाण उत्तमं जोयं ।
रिद्धीण मह-रिद्धी सम्मत्तं सव्व-सिद्धियरं ।।३२५।।

सम्यक्त्व की महारत्नस्वरूपता—अब इस गाथा में सम्यक्त्व का माहात्म्य बता रहे हैं । यह सम्यक्त्व रत्नों में, महारत्न है । जितने रत्न लोग समझते हैं कि बड़े कीमती हैं, जैसा कि दो-दो रत्ती का भी मूल्य लोग लाख रुपया समझते हैं, ऐसे अमूल्य रत्न ये कुछ भी मूल्य नहीं रखते हैं, उनसे भी अति अमूल्य महारत्न यह सम्यक्त्व है । मोटे रूप से भी देखिये—जैसे लोग कहते हैं कि रत्न, स्वर्ण बहुत अधिक भी जोड़ लिया तो उससे क्या ? कहीं वह खाने के काम तो न आयेगा ? खाने के काम तो अन्न ही आयेगा । यह एक लौकिक ऊपरी बात कह रहे हैं और भीतरी बात निरखें तो तीनों लोक का वैभव ढेर भी सामने हो जाय तो भी उससे इस आत्मा को लाभ कुछ नहीं मिलता । इसे शान्ति मिले, इसको ज्ञानप्रकाश जगे यह बात तो उससे नहीं बनती, तो वह रत्न क्या रत्न है ? महारत्न तो यह सम्यक्त्व है । जिसको चित्त में सच्ची बात की श्रद्धा हो जाने पर विशेष आदर है कि सबसे बड़ा धन है तो यही धन है कि मैं सर्व पदार्थों का तत्त्व रहस्य स्वरूप यथावत् समझ लूँ, इसमें जिसका आदर है वह पुरुष निकट भव्य है और संसार के सर्वसंकटों से निकट काल में ही वह मुक्त हो सकता है । तो रत्नों में महारत है यह सम्यक्त्व, क्योंकि सम्यक्त्व के प्रभाव से इन्द्र और अहमिन्द्र आदिक बड़े-बड़े पद प्राप्त होते हैं और इसलिए भी महत्त्व नहीं, किन्तु यह निर्वाण पद का देने वाला है, इसी कारण सम्यग्दर्शन सब रत्नों में एक महान रत्न है । रत्न कहते हैं सार चीज को । पत्थरों का नाम रत्न नहीं है पर लोगों ने पत्थरों को ही सार चीज समझा इसलिए उसका नाम रत्न पड़ गया । रत्न में जो शब्द का अर्थ है वह तो यही है कि जो जिस जाति में उत्कृष्ट है वह उस जाति में रत्न है । यों मनुष्यरत्न, स्त्रीरत्न, पुरुषरत्न, आदि सभी के साथ रत्न शब्द जोड़ा जाता है, तो वास्तव में रत्न-रत्न है, सारभूत चीज है तो वह है सम्यक्त्व । उस सम्यक्त्व महारत्न का आदर करना चाहिए और सम्यक्त्व लाभ के लिए अगर अपना तन, मन, धन, वचन सर्वस्व भी अर्पित करना पड़े तो सहर्ष न्योछावर करके एक इस सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेना चाहिये । सम्यक्त्व का लाभ इतना महान लाभ है कि जिसके प्राप्त कर लेने पर निकट काल में ही संसार के समस्त संकट छूट जाते हैं ।

सम्यक्त्व की महायोगरूपता—पदार्थ का अपने आपमें अपने आप ही के कारण स्वयं जैसा स्वभाव है, स्वरूप है उसका दर्शन होना, निर्णयात्मक परिचय होना सो सम्यग्दर्शन है । यह सम्यग्दर्शन रत्नों में महारत्न है और यही सम्यग्दर्शन सर्व योगों में उत्तम योग है । जितने भी ध्यान किए जाते हैं उन सब ध्यानों की सफलता इस सम्यग्दर्शन के कारण है । सम्यक्त्व न हो तो अन्य ध्यानों का फिर कोई महत्त्व नहीं है । एक योगी था । उसको प्राणायाम का बड़ा अभ्यास था, २४ घंटे तक किसी भी जगह जमीन के गड्ढे में बैठ जाए व ऊपर मिट्टी भर दिया जाय तो भी वह २४ घंटे तक बिना श्वास लिए रह सकता था । तो उस योगी से राजा ने कहा कि तुम हमें २४ घंटे की समाधि करके दिखाओ फिर तुम जो चाहोगे सो इनाम देंगे । उस राजा की घुड़साल में एक बहुत बढ़िया काला घोड़ा था, उसे उस योगी ने पसंद कर लिया और सोच लिया कि यही घोड़ा हम इनाम में लेंगे । सो वह योगी जमीन में बने गड्ढे में बैठ गया, ऊपर से मिट्टी से वह गड्ढा बंद कर दिया । जब २४ घंटे की समाधि पूरी करके वह योगी निकला तो योगी राज से बोला—महाराज ! लाओ अपना काला घोड़ा । अब बताओ उस योगी ने २४ घंटे तक किसका ध्यान किया था ? उसी घोड़े का ही ध्यान किया था ना । तो जो लोग सांसारिक सुख की इच्छा से ध्यान करते हों, मंत्र तंत्र की साधना करते हों तो उनका वह परिश्रम बेकार का है । सम्यक्त्व साथ हो तो ध्यान भी ध्यान कहलाता है । जिस पुरुष को अपने आपके निरालेपन का, ज्ञानानन्द स्वरूप का विश्वास है वह घर में रहकर भी और व्यापार कार्य काज करते हुए भी चूँकि उसे अपने आपके बारे में यह विश्वास है कि मैं इन सब झंझटों से कार्यों से निराला केवलज्ञानस्वरूप हूँ । तो उस स्वरूप से वहाँ भी यथायोग्य ध्यान कहा जा सकता है । तो योगों में उत्तम योग यह सम्यक्त्व है । जितने भी धर्मादिक ध्यान हैं उनमें उत्तमध्यान योग्य ध्यान यही सम्यक्त्व कहलाता है ।

सम्यक्त्व की ऋद्धिसिद्धिमयता—यह सम्यक्त्व समस्त ऋद्धियों में उत्तम ऋद्धि है । ऋद्धियां अनेक प्रकार की होती हैं । जैसे अपने शरीर को अणु बना ले, महान् बना ले, हल्का बना ले, वजनदार कर ले, अपना मनचाहा रूप बना ले । अनेक प्रकार के चमत्कारों को उत्पन्न करने वाली जो ऋद्धि हैं उनमें उत्तम ऋद्धि रहे वह बुद्धि की ऋद्धि हो, चाहे शरीर की ऋद्धि हो, सबमें महान ऋद्धि है यह सम्यक्त्व । सम्यक्त्व सर्व सिद्धियों का करने वाला है । चाह के न होने में सर्व वैभवों की प्राप्ति हो जाती है । वह किस प्रकार ? एक पुरुष धन की चाह में रात, दिन बसा हुआ रहता है तो उसकी यह चाह कभी पूर्ण यों नहीं हो पाती । यदि लाखों रुपये का वैभव जुड़ गया तो उससे अधिक धन की इच्छा है । तो वैभववान नहीं बन सकता । अपने आपको सन्तुष्ट कर लेना ही वैभववान है । जहाँ इच्छा दूर हुई, वहाँ उसके सर्व सिद्धि हो गई । ज्ञानी पुरुष जानता है कि इच्छा परिग्रह है और यह अज्ञानभाव है । इसका मेरे स्वरूप में सम्बंध नहीं है । मैं स्वभावत: ज्ञानानन्दमय हूँ । मुझे समस्त बाह्यपदार्थों से क्या प्रयोजन ? जब किसी को किसी सांसारिक वस्तु की चाह न रहे तो समझो कि उसे सब

कुछ प्राप्त हो गया। मेरा था वह आनन्द और मुझे वह प्राप्त हो गया ।

सही ज्ञान व उसका प्रभाव—ज्ञानों में सबसे बड़ा ज्ञान यही कहलाता है कि यह समझ में आये कि यह पदार्थ अपनी सत्ता अलग रखता है और इस ही की सत्ता के कारण इसकी पर्यायें इसमें उत्पन्न होती हैं, इसकी पर्याय इसी में विलीन होती है व यही चीज सदाकाल रहती है । ऐसा ही स्वरूप सब पदार्थों का है । मैं भी अपने आपमें अपनी बात बनाता हूँ, अपनी ही बात विलीन करता हूँ और यह मैं सदाकाल रहता हूँ । मैं किसी दूसरे की बात उत्पन्न नहीं कर सकता । दूसरे की अवस्था की नहीं बिगाड़ सकता और दूसरे में मैं प्रवेश नहीं कर सकता, ऐसे सारे पदार्थ हैं । जब सभी पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में उत्पादव्ययध्रौव्य रखते हैं तो किसी का किसी दूसरे के साथ सम्बंध नहीं है । अज्ञान से बढ़कर और कोई विपत्ति नहीं है । ज्ञान से बढ़कर और कोई सम्पत्ति नहीं । जीव जब भी सुखी हो सकेगा तो ज्ञान द्वारा सुखी हो सकेगा । अज्ञान के रहते हुए वह चक्रवर्ती भी हो जाय तो भी वह शान्त नहीं रह सकता । दर्शन पाठ में कहते हैं कि हे प्रभो ! जिनधर्म से रहित होकर में चक्रवर्ती भी नहीं होना चाहता । वस्तुस्वरूप के यथार्थ श्रद्धान से रहित होकर ६ खण्ड का वैभव भी पाले तो उसमें उसे कोई लाभ नहीं है और जिनधर्म में मेरा हृदय वासित रहे अर्थात् वस्तुस्वरूप की यथार्थ श्रद्धा में मेरा चित्त बना रहे और ऐसी स्थिति में यदि मैं किसी का दास भी बनूं तो भी मैं पसंद करता हूँ । मैं दास होता तो स्वीकार करता हूँ पर जैनधर्म से रहित होकर मैं चक्रवर्ती भी नहीं होना चाहता । सुख साम्राज्य अथवा शान्ति तो मेरे सम्यग्ज्ञान में ही प्राप्त हो सकती है अन्यथा नहीं । किसी पुरुष को इष्ट का वियोग हो गया । अब वह निरन्तर विह्वल है—हाय ! मेरा यह इष्ट गुजर गया । अब उसके दुःख को मेटने के लिए बहुत से रिश्तेदार आते, समझाते, लेकिन उनका समझाना आग में घी डालने की तरह हो जाता है । जैसे कोई घी डालकर आग को शान्त करना चाहे तो वह शान्त नहीं कर सकता, उससे आग और भी बढ़ जायेगी, इसी प्रकार रिश्तेदार लोग आते हैं तो उस मरे हुए व्यक्ति के गुण गाते हैं, उसकी याद बार-बार दिलाते हैं तो उससे तो उस सुनने वाले का दुःख और भी अधिक बढ़ता है । उस दुःखी व्यक्ति के दुःख को मेटने में समर्थ है सच्चा ज्ञान । जब वह यों समझ लेगा कि मेरा आत्मा निराला है, वह आत्मा निराला था । जगत के अनन्त जीवों में से कोई एक जीव गया तो वह भी दूसरा ही था, वह भी मुझसे निराला था । अब वह अपने ही समय से चला गया । तो उससे मेरा क्या सम्बन्ध था ? वह मेरा कुछ नहीं है । मेरा तो मात्र यह मैं आत्मा हूँ, यही सर्वस्व ज्ञानधन मेरा है । जब इस तरह अपने आपमें अपना निर्णय बनाता है तो वह शान्त हो पाता है । तो किसने सुखी किया ? अपने ज्ञान ने ही सुखी किया । हर स्थितियों में जब हमारा ज्ञान सही होगा तो हम सुखी रहेंगे । जहाँ ज्ञान में विकार आया कि वहाँ दुःख आ जायेगा । तो सम्यक्त्व ही एक ऐसा महान वैभव है कि जिसमें सारी ऋद्धियां, सारे ध्यान हैं, यही महान रत्न है और सर्वसिद्धि को करने वाला है ।

गाथा — ३२६

सम्मत्त-गुण-पहाणो देविदं-णरिदं-बंदिओ होदि ।
चत्त-वओ वि य पावदि सग्ग-सुहं उत्तमं विविहं ।।३२६।।

जिस जीव में सम्यक्त्व जगा है, वह जीव चाहे व्रत धारण किए हुए न हो तो भी देवेन्द्र, नरेन्द्र के द्वारा वंदनीय है और नाना प्रकार के उत्तम स्वर्गसुख को पा लेता है । सम्यग्दर्शन होने पर आयु मनुष्य की बंधेगी या देवायु की बंधेगी । मनुष्य व तिर्यंच के देवायु बंधेगी, देव व नारकी के मनुष्यायु बंधेगी सम्यक्त्व के होने पर । हाँ पहिले यदि कोई दूसरी आयु बँध गई है और बाद में सम्यग्दर्शन हुआ है तब तो उस गति में जाना होगा, मगर वहाँ भी कुछ अच्छे ही साधन

मिलेंगे । अब अपनी बात देखिये—सम्यग्दर्शन होने पर मनुष्य को यदि आयु बँधेगी तो देव की ही बंधेगी । तो जो सम्यग्दृष्टि जीव है वह चाहे व्रती नहीं है तो भी उत्तमसुख को, स्वर्गादि के सुख को प्राप्त करता है ।

सम्यक्त्व में मूढ़ताओं का अभाव—सम्यग्दर्शन का निर्दोष होना यह एक बड़ी विभूति है । वहाँ कोई मूढ़ता नहीं रहती । जैसे कि लोग कहते हैं कि फलानी नदी में नहाओ, पाप घुल जायेंगे, अमुक पहाड़ से गिरो, पाप घुल जायेंगे, या अमुक देवीदेवताओं की मान्यता करो, तुम्हारा कल्याण होगा । इन किन्हीं भी मूढ़ताओं में ज्ञानी पुरुष नहीं फंसता । उसका तो यह स्पष्ट निर्णय है कि मेरे में जो होगा वह मेरे में मेरे से प्रकट होगा । कोई दूसरी बात दूसरी जगह से नहीं आती । २५ प्रकार के जो सम्यक्त्व के दोष हैं उनसे जो दूर है वह सम्यग्दृष्टि देवेन्द्र और नरेन्द्र के द्वारा वन्दनीय होता है । अब मूढ़ताओं की बात देखो—दुनिया में धर्म के नाम पर कितनी तरह की मूढ़तायें हैं ? सूर्य को अर्ध देना—यद्यपि यह भी कुछ रहस्य रखता है । प्रथम चक्रवर्ती ने अपने महल की छत पर खड़े होकर सूर्यविमान में जो जिन चैत्यालय है दर्शन किया और उसको निरखकर उसने नमस्कार किया होगा । तब आचार्य ने उस उसके प्रथम चक्रवर्ती को मना किया—यद्यपि हे चक्री तुम ठीक करते हो । तुम सूर्यविमान में चैत्यालय के दर्शन करके नमस्कार करते हो, पर सारी दुनिया यह न समझ सकेगी । वह तो समझेगी कि यह जो चमक रहा है उसे अर्घ देते हैं । सम्भव है कि इसी बात की प्रथा चली हो । किन्तु आज तो उस चैतन्यात्मक ज्ञानानंदस्वरूप परमात्मतत्त्व का नाम लेकर कोई सूर्य को अर्घ नहीं देता, किन्तु चमक रहा जो विमान है उसे अर्घ चढ़ाते हैं । कोई पुरुष संक्रान्ति के समय में स्नान आदिक में धर्म मानते हैं, कोई गाय आदिक पशुओं को नमस्कार करते अथवा अनेक प्रकार के वृक्षों की पूजा करते, नदी, सागर आदिक में स्नान करते, कहीं फूलों का ढेर लगाते, ये सब बातें करते हुए धर्म मानते हैं । ये सब धर्म के सम्बंध की मूढ़तायें है । इन सब बातों का यदि कुछ विवेकपूर्वक विचार किया जाय तो किसी रहस्य की बात मिलेगी । उस रहस्य को न जानकर तो वे धार्मिक क्रियाकाण्ड व्यर्थ हैं ।

मूलपरिचय को छोड़कर लोक की गतानुगतिकता—जैसे एक कथानक है कि एक बार कोई सज्जन पुरुष (साधु पुरुष) फूल लिए जा रहा था । तो मार्ग में एक जगह किसी कुत्ता आदिक की बीट पड़ी थी, तो उसने सोचा कि इस मार्ग से बहुत से पुरुष जाते हैं और सभी लोग इस बीट को देखकर नाक सिकोड़ेंगे, तो उस पुरुष ने उस बीट को उन फूलों से ढांक दिया । अब दूसरे लोगों ने देखा कि देखो इस साधु ने बड़े भक्तिभाव से इस जगह फूल चढ़ाया है, यहाँ कोई देव रहता होगा, सो उन लोगों ने भी उस जगह कुछ फूल लाकर चढ़ा दिए । अब क्या था ? वहाँ से जो निकले सो ही उसे देवता समझकर फूल चढ़ाये । वहाँ फूलों का बहुत बड़ा ढेर लग गया । जब बहुत बड़ा ढेर लग गया तो वहां के मुखिया (गाँव के प्रधान) के मन में आया कि जरा वहाँ चलकर देखना चाहिए कि कौन देव है, कैसा देव है ? उस जगह के सारे फूलों को उठाया तो नीचे मिला किसी कुत्ता आदिक का विष्टा । तो कुछ घटनायें ऐसी होती हैं कि जो होती तो है किसी भले के लिए मगर पीछे उसका रूप बदल जाता है । एक कथानक है कि किसी सेठ की लड़की का विवाह हो रहा था, सो उस समय उसके घर पली हुई बिल्ली घर के अन्दर इधर उधर आती जाती थी । बिल्ली का इधर उधर आना जाना ऐसे मौके पर लोग असगुन मानते हैं सो सेठ ने अपने नौकर को बुलाकर एक टिपारे में उस बिल्ली को बन्द करवा दिया । इस दृश्य को उसके लड़कों ने भी देखा । खैर, सेठ तो थोड़े दिनों में मर गया, जब उन लड़के में से किसी की लड़की की शादी होने लगी तो उस समय लड़कों को याद आया कि विवाह में मुहूर्त के समय पिताजी ने एक बिल्ली पकड़कर पिटारे के अन्दर बन्द कराया था, सो लड़कों ने उस समय यही कहा कि ठहरो, अभी एक दस्तूर बाकी रह गया है । देखो हमारे

यहाँ का दस्तूर चला आया है कि विवाह के मुहूर्त के समय टिपारे के अन्दर बिल्ली बन्द की जाय, सो जब दो तीन घंटों में किसी तरह कोई बिल्ली पकड़कर लायी गई विवाह का निश्चित मुहूर्त भी निकल गया तब शादी हुई । अरे उस बिल्ली को पिटारे में बन्द करने का प्रयोजन क्या था ? इस बात को वे भूल गए, इसलिए यह विडम्बना बन गई । तो बहुतसी ऐसी लोकरूढ़ियां हैं जो कि मूल रहस्य को (मौलिक बात को) न समझे जाने से विडम्बनारूप बन गई । ज्ञानी जीव इन किन्हीं भी मूढ़ता की बातों में नहीं आता है । तो सम्यक्त्व होना और सम्यक्त्व के योग्य अपना व्यवहार होना, और भीतर में उस स्वरूप का निश्चयस्वरूप रहना यह जीव के लिए कल्याणकारी चीज है ।

सम्यग्दृष्टि के संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा व प्रशम गुण—सम्यक्त्व जिसके उत्पन्न हुआ है उस जीव के संवेगादिक ८ गुण उत्पन्न होते हैं—संवेग,- धर्म के साधनों में प्रेम होना, धर्मात्माजनों में अनुराग होना, धर्मप्रेम । निर्वेद अर्थात् संसार, शरीर, भोगों से वैराग्य । सम्यग्दृष्टि जीव की ऐसी प्रवृत्ति होती है कि उसे धर्मभाव में तो अनुराग जगता है और सांसारिक भोगों में वैराग्य उत्पन्न होता है । क्योंकि वह जानता है कि सारभूत बात है तो अपने ज्ञानस्वभाव का समझना और इस ज्ञानस्वभाव में अपना ज्ञान बनाये रहना, केवल यही सारभूत बात है । इसके अतिरिक्त जितनी भी अन्य बातें हैं वे सब विडम्बनारूप हैं । अतएव उसका ज्ञानस्वभाव में प्रेम और बाकी बाह्यवस्तुओं से वैराग्य होता है । सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपमें अपनी निन्दा किया करता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन होने पर भी जब तक आत्मकल्याण नहीं होता है रागद्वेष चल रहे हैं तो वहाँ वह अपनी निन्दा करता है । मैं रागी हूँ, द्वेषी हूँ, मेरे में इतने अवगुण हैं, ये अवगुण मेरे दूर हो तब ही मैं योग्य कहला सकता हूँ । उसे अपने अपराध की अपने आपमें निन्दा बनी रहती है । और समय-समय पर अपने गुरुजनों से अपने दोष को प्रकट करता है ज्ञानी दोषों का पछतावा करता है, हे प्रभो ! मुझसे यह अपराध हुआ, मेरे में अभी बहुत कमजोरी है, अपनी कमजोरी को, अपने अपराध को गुरुजनों के समक्ष कहता है । सम्यग्दृष्टि जीव में एक प्रशम गुण उत्पन्न होता है । कोई जीव कैसा ही कुछ कह दे या कैसा ही अपराध कर दे तो अपराध करने पर भी उससे बदला लेने का भाव नहीं होता । ज्ञानी जीव तो उसके प्रति शान्तभाव ही रखता है । जैसे कि संसारीजन जरा सी भी प्रतिकूल बात होने पर, इतनी कमर कसकर तैयार हो जाते हैं उसका बिगाड़ करने कि लिए भी वह रात दिन बेचैन रहता है । पर सम्यग्दृष्टि जीव जानता है कि संसार में यह जीव न जाने कौन किस गति से आकर यहाँ पैदा हो गया, थोड़े ही दिनों में न जाने कौन किस गति को चला जायेगा । कोई जीव कैसा ही परिणमता है परिणमने दो, उसका परिणमन उसमें है, इन जीवों में हम किसे अपना विरोधी समझें ? क्यों व्यर्थ में किसी से बदला लेने का भाव करें ? यों ज्ञानी जीव किसी को अपना विरोधी नहीं समझता है ।

सम्यग्दृष्टि के भक्ति, दया, वात्सल्य गुण—ज्ञानी के देव, शास्त्र, गुरु के प्रति बड़ी उत्तम भक्ति रहती है । पूज्य हैं तो ये वीतराग सर्वज्ञदेव ही पूज्य हैं । यह धर्म जिसमें कि रागद्वेष मोह छोड़ने का उपदेश किया गया है यही धर्म उपादेय है, निर्ग्रन्थ गुरु जिनके अन्तरङ्ग बहिरङ्ग किसी भी प्रकार का परिग्रह नहीं रहता है, ऐसे साधु पूज्य हैं । ज्ञानी पुरुष को उनके प्रति भक्ति जगती है, अपने प्रति और दूसरे जीवों के प्रति उसके दया का भाव उत्पन्न होता है । किसी भी तड़फते हुए पशु को देखकर जो यहाँ कुछ व्यग्रता होती है वह तब ही तो होती है जब यह भाव किया कि इस ही की तरह मैं भी तो जीव हूँ । तो जो लोग दूसरे जीवों के प्रति दया करते हैं उन्होंने पहिले अपने आत्मा को छू लिया है तभी तो दया होती है । तब दूसरे जीवों की दया करना भी धर्म है और अपने आपकी दया तो उत्तमधर्म है ही, अर्थात् अपने को विषयकषायों से मिथ्यात्व से अज्ञान से अलग हटाये रहना, यही है अपनी दया । तो सम्यग्दृष्टि जीव स्वदया और परदया की विशेषता

रखता है, ज्ञानी जीव में वात्सल्य गुण है, धर्मात्मा जनों से निष्कपट प्रेम करता है । अभी विवेकपूर्वक देखा जाय तो गृहस्थजनों के उपकार जितना धर्मात्माजनों से हो सकते हैं उतना पुत्र, मित्र, कुटुम्बीजन, रिश्तेदार आदि से नहीं हो सकते । मूढ़ पुरुषों के चित्त में धर्मात्मा के प्रति प्रीति न जगेगी, वह उन्हें गैर रूप से ही समझेगा । ये मेरे घर के नहीं हैं, ये तो गैर हैं । कभी धर्मी की भक्ति करते हैं तो रूढ़िवश उनका आदर किया जाता है । मेरे तो ये घर के लोग हैं और इन्हीं के बल पर मेरा जीवन है और इसके लिए मेरा सर्वस्व है, पर ज्ञानी जीव को जितना अधिक लगाव धर्मात्मा के प्रति होता है उतना अधिक लगाव कुटुम्ब के प्रति नहीं होता, और अनेक उदाहरण भी देख लीजिए—जहाँ कहीं ज्ञान वैराग्य की वार्ता मिल सकेगी वहाँ तो इसको शान्ति मिलेगी और जहाँ रागद्वेष मोह बढ़ाने वाली ही घटनायें और बातें मिलेगी वहाँ इस जीव को शान्ति न मिलेगी । तब स्वयं निर्णय कर लो कि धर्मात्मा जनों का संग मेरे लिए हितकारी है या कुटुम्ब आदिक का संग मेरे लिए हितकारी है । लाभ किससे मिलेगा ? तो ज्ञानी जीव तो धर्मात्मा जनों से ही वात्सल्य रखते हैं ।

सम्यग्दृष्टि के अन्तःशान्तिरूपता—अनेक गुणों से सम्पन्न वह सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपमें जब चाहे आनन्द पाता रहता है । जब जरा गर्दन झुकायी देख लो, अपना देव अपने आपके अन्दर है । जिस समय बाह्यदृष्टि को बंद करके अपने अन्तरङ्ग की दृष्टि से देखेंगे तो अपना भगवान, अपना वह कल्याणकारी देव अपने आपमें मिलेगा । जिसने अपने आपमें बसे हुए इस परमात्मदेव का दर्शन किया है वह पुरुष तो पवित्र है, और जो अपने आपके इस परमात्मदेव का परिचय नहीं कर सकता वह चाहे शरीर की कितनी ही शुद्धि करे या अन्य प्रकार की शुद्धि करे तो वह शुद्धि व सिद्धि नहीं है । चाहे अपवित्र हो, चाहे पवित्र हो, चाहे किसी स्थिति में हो, जो अपने परमात्मतत्त्व का स्मरण करता है वह बाहर में भी पवित्र है और अन्तरङ्ग में भी पवित्र है । शान्ति मिलेगी तो अपने आपके परमात्मस्वरूप के उपयोग में ही मिलेगी । बाहरी पदार्थों को चित्त में बसाने से शान्ति न मिलेगी ।

।। अनुप्रेक्षा प्रवचन षष्ठ भाग समाप्त ।।